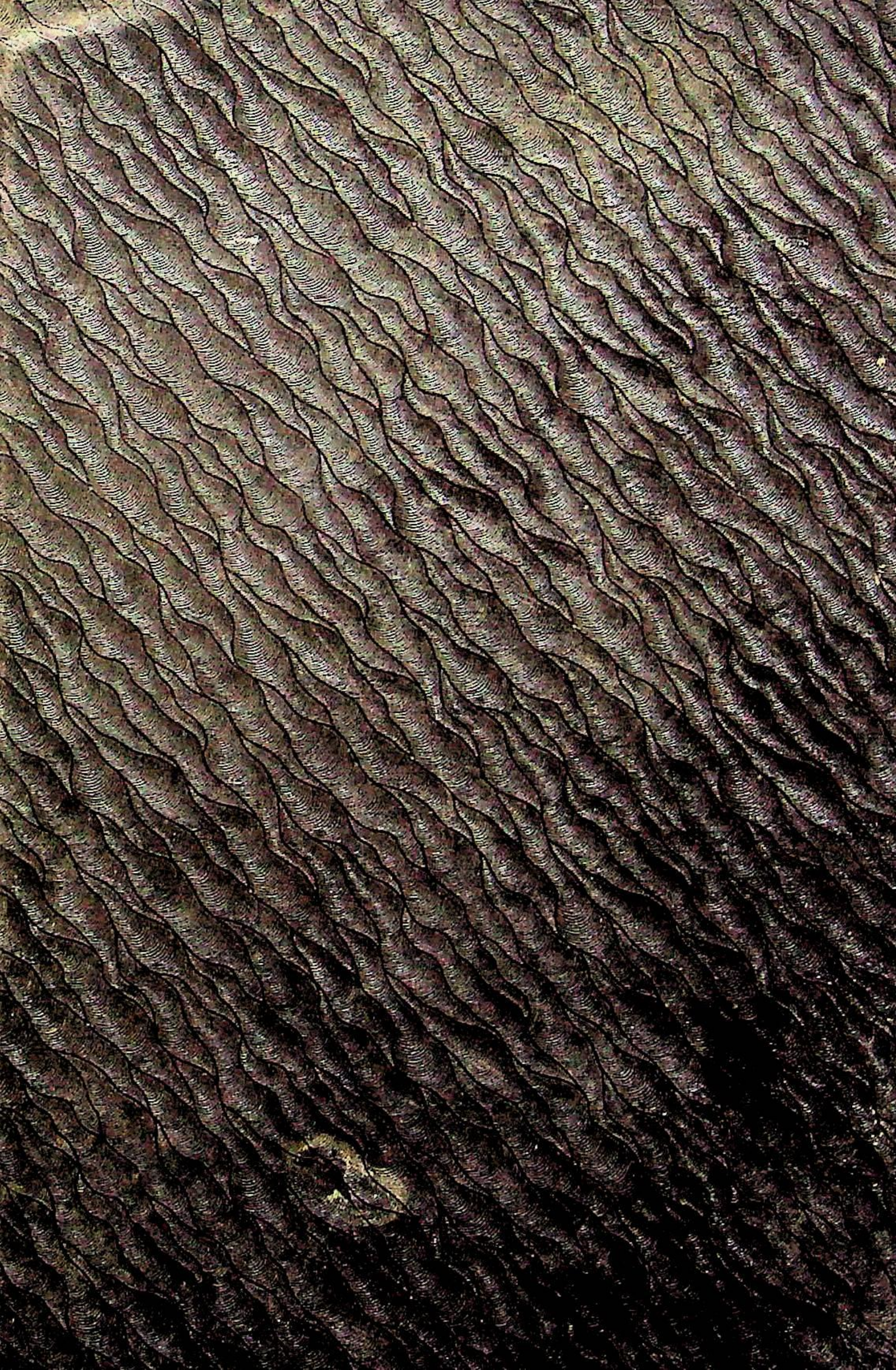
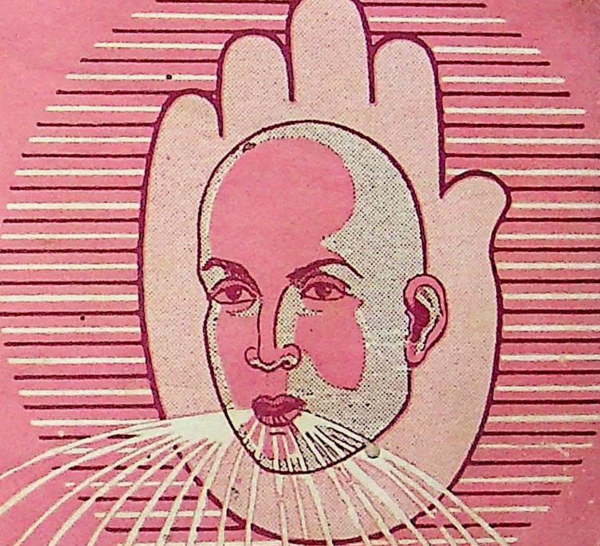


2

श्रीः।

जगदीश भट्टाचार्य विरचितम्



तर्कामृतम्

का

हिन्दी अनुवाद और प्रत्यक्ष परिच्छेद की व्याख्या

लेखक तथा प्रकाशक दीवान हुकुम चन्द्र, ग़ाज़ियाबाद

॥ श्रीः ॥

जगदीश भट्टाचार्य विरचितम्

तर्काऽमृतम्

का

हिन्दी अनुवाद और प्रत्यक्ष परिच्छेद की व्याख्या

लेखक तथा प्रकाशक :—

दीवान हुकुमचन्द

ग़ाज़ियाबाद

लेखक द्वारा ही प्रकाशित

तथा

वैद्य देवेन्द्रकिशोर शास्त्री जयतली

द्वारा

संशोधित

जनवरी १९५९

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य २ रु० ४४ न० पै०

❀ ॐ ❀

श्रीजगदीशभट्टाचार्य-विरचितं

तर्कामृतम्

हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या सहित

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

मूल—ब्रह्माद्या निखिलार्चितास्त्रिदशसन्दोहाः सदाभीष्टदा,
अज्ञानप्रशमाय यत्र मनसो वृत्तं समस्तां दधुः ।।
श्रीविष्णोश्चरणाम्बुजं भवभयध्वंसैकबीजं परं,
हृत्पद्मे विनिधाय तन्निरुपमं तर्कामृतं तन्यते ।।१।।

अनुवाद—लौकिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओं को सर्वदा पूर्ण कर देने की शक्ति रखने के कारण प्रायः सारे जगत् से पूजे जाने वाले ब्रह्मा आदि देवगण भी अपने अज्ञान [भ्रम] को दूर करने के लिये मानसिक वृत्ति [अन्तःकरण] को पूर्णतया जिस स्थान [आत्मज्ञान] में अवस्थित करते रहे हैं ऐसे श्री विष्णु भगवान् [आत्मा] के चरणकमलरूप [ज्ञान] को जो कि सांसारिक भय [राग आदि से होने वाली अनिष्ट की भावना] को सदा के लिये तुरन्त नष्ट कर देने में एक मात्र परम बीज [सर्व उत्कृष्ट कारण] है उसको 'अपने हृदय रूपी

कमल' [बुद्धि] में धारण करके मैं जगदीश भट्टाचार्य तत्त्व उपलब्धि के लिये] उपमारहित [मनन में अपनी विशेषता आप ही रखने वाले इस] 'तर्कामृत' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहा हूं [जो जिज्ञासु मुमुक्षुओं की परमार्थ सिद्धि का कारण बनेगा] ॥१॥

व्याख्या—जो वास्तव में हो उसे वास्तविक कहते हैं, वास्तविकता दुर्बोध्य होने के कारण इसकी उपलब्धि के लिये यद्यपि मनुष्य को व्याकुल होना ही पड़ता है, पर वास्तविकता-वास्तविकता ही है, केवल इसी को अपनाना सदाचार है, क्योंकि यह आद्योपान्त एक सी अर्थात् सत्य है। जैसे—

"नाऽहं न च ममाऽऽत्मत्वात्सर्वदा ऽनात्मवर्जितः।
भानाविव तमोध्यासोऽपह्नवश्च तथा मयि ॥

"मैं [कदापि] अहंकार नहीं हूँ इसीलिये [वस्तुतः] कोई भी मेरा नहीं है। क्योंकि मैं केवल आत्मस्वरूप [अनुपमेय] होने के कारण सर्वशः अनात्मकल्पनाओं से अस्पृष्ट हूँ। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार [आवरण] की भ्रान्ति होना तथा उस का निराकरण होना, ये दोनों ही मिथ्या [दृष्टि से] हैं। ठीक उसी प्रकार मुझ [परिशेष अर्थात् उपक्रमोपसंहार रहित] में बन्धन तथा मोक्ष ये दोनों प्रकार के व्यवहार भी निःसन्देह मिथ्या [नितान्त आरोप] ही हैं।" तो भी—

"अलब्ध्वाऽतिशयं यस्माद् व्यावृत्तास्तमबादयः।
गरीयसे नमस्तस्मा अविद्याग्रन्थिभेदिने ॥"

"जिस गुरुवर के अतिरिक्त कहीं भी उत्कर्षता को न पा कर तमप् आदि उत्कर्षवाचक शब्द [अन्यत्र कहीं स्थान न मिलने के कारण] केवल उन्हीं में रहते हैं। और जो मुमुक्षुओं की अविद्या-ग्रन्थि के भेदन करने में निपुण [अतीव समर्थ] एवं सर्वश्रेष्ठ हैं उन श्री गुरुवर [विद्या प्रदाता] को हमारा आद्योपान्त नमस्कार है।"

"न चाऽमुमुक्षोरस्तीह गुरुपादोपसर्पणम्।
न विना गुरुसम्बन्धं वाक्यस्य श्रवणं भवेत् ॥"

"जो मुमुक्षु नहीं है, वह गुरु चरणों के समीप नहीं पहुँचता और बिना गुरु शरण में गये वेदान्त-वाक्यों [के तात्पर्य] का श्रवण ही नहीं होता है [पुनः मनन, निदिध्यासन तथा आत्मसाक्षात्कार हो तो कैसे ?] क्योंकि—

"आप्तोकितं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥"

जिस प्रकार [पृथिवी में गड़े धन को प्राप्त करने के लिये] प्रथम उस भेद को जानने वाले पुरुष के कथन की, उसके बाद पृथिवी को खोदने, कंकड़-पत्थर आदि को हटाने तथा [उपलब्ध हुए धन को] स्वीकार करने की आवश्यकता होती है अर्थात् कोरी बातें बनाने से वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है । उसी प्रकार मायिक सम्पूर्ण प्रपञ्च से अस्पृष्ट आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासन आदि द्वारा ही उपलब्ध होता है, न कि थोथी बातों से ।" जैसे कि—

"न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥"

"औषध को बिना पिये केवल औषध-शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नहीं जाता । इसी प्रकार अपरोक्षानुभव के बिना 'मैं ब्रह्म हूँ' केवल ऐसा कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता ।"

"वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति-
र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥"

"भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करें, देवताओं का यजन करें, नाना शुभ कर्म करें अथवा देवताओं को भजें, तथापि जब तक एक आत्मदर्शन नहीं होता तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर [अर्थात् सौ कल्प में] भी मुक्ति नहीं हो सकती।" इसीलिये कहते हैं—

मूल—अथ श्रुतिः श्रूयते—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति। (बृह० उप० २ अध्या० ४ ब्राह्म० ५ मन्त्रः) अस्यार्थः,—मुमुक्षुणा आत्मा द्रष्टव्यः, मुमुक्षोरात्मदर्शनमिष्टसाधनमिति यावत्। आत्मदर्शनोपायः कः? इत्यत्राह—'श्रोतव्यः' इत्यादि। तेन आर्थक्रमेण शब्दक्रमस्त्यक्तो भवति, 'अग्निहोत्रं जुहोति'—'यवागूं पचति' इत्यादिवत्। तथा च श्रवण—मनन—निदिध्यासनानि तत्त्वज्ञानजनकानीत्युक्तं भवति। अत्र श्रुतितः कृतात्मश्रवणस्य मननेऽधिकारः, मननञ्च आत्मन इतरभिन्नत्वेनानुमानम्, तच्च भेदप्रतियोगीतरज्ञानसाध्यम्, तथाचेतरदेव कियत्? इत्येतदर्थं पदार्थनिरूपणम्।

अनुवाद—ऐसा श्रुति अर्थात् उपनिषद् ही का वचन सुना जाता है कि—आत्मदर्शन [साक्षात्कार] करने योग्य है [इस प्रकार यह आया कि अपनी वास्तविकता जानने के लिये] 'श्रवण' करना चाहिये [उपक्रम आदि लिङ्गों के आधार पर—उपनिषद् में प्रतिपादित समस्त श्रुतियों का अभिप्राय जिस प्रकार से 'शेष' अर्थात् अवशिष्ट 'आत्मा' में निश्चित हुआ है ठीक उसी प्रकार आचार्य से सुनना चाहिये अन्य किसी प्रकार से नहीं] 'मनन' करना चाहिये [श्रवण से प्राप्त उसी अर्थ के अनुग्राहक या समर्थक "प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन" इन पञ्चावयव वाक्यों से युक्त अनुमान का परिशीलन करना चाहिये] और 'निदिध्यासन' करना चाहिये [आत्मवाचक मूलमन्त्र 'नेति-नेति' द्वारा

'आत्मा' को सब प्रकार की देखी सुनी तथा अनुभव में आ सकने वाली वस्तुओं से अलग निर्णय कर लेने के अनन्तर तद्वत् अर्थात् उदासीन या तटस्थ रहना चाहिये], क्योंकि मनुष्य जन्म में आकर [परमपद उपलब्ध किया जा सकता है अन्य शरीर में नहीं, इसीलिये] केवल यही कुछ करने के योग्य 'कर्तव्य' है इसी [श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होने वाले परिपुष्ट आत्मदर्शन] के अतिरिक्त जो कुछ भी कोई कर सकता है वह सब उसके परमार्थ का साधक न होने के कारण वस्तुतः अकर्तव्य ही है' ऐसा वेद का तात्पर्य है [इति] "बृह० उप० २ अध्या० ४ ब्राह्म० ५ मन्त्रः"। इसी प्रकार उपर्युक्त श्रुति का निष्कर्ष यही निकला [अस्यार्थः] कि—'मोक्ष' को मनोनीत जानता हुआ [मुमुक्षु] अपनी आत्मा का दर्शन [साक्षात्कार] करे क्योंकि मोक्ष [तत्त्व] अभिलाषी के लिये केवल आत्मदर्शन ही इष्ट [अभीष्ट] साधन हुआ करता है [न कि कुछ और]। परन्तु आत्मा को जानने के लिये उपाय [युक्ति] क्या है ऐसा प्रश्न होने पर ? उत्तर देते हैं कि—'श्रोतव्यः' इत्यादि [श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही आत्मा की उपलब्धि का कारण होते हैं]। इसलिये अर्थ के क्रम द्वारा शब्द का क्रम छोड़ दिया जाता है, जैसे कि—'*अग्निहोत्रं जुहोति*' '*यवागूं पचति*' ['हवन कर रहा है' वा 'खिचड़ी पका रहा है' ध्यान रहे कि यहाँ यदि शाब्दक्रम को लेना अभीष्ट हो तो पहले अग्निहोत्र होना चाहिये बाद में यवागूपाक, पर प्रश्न यह है कि—यवागूपाक से पहले अग्निहोत्र होगा कैसे ? क्योंकि स्थिति कुछ ऐसी है कि यवागूपाक ही से अग्निहोत्र होना अभीष्ट है इसीलिये 'अर्थवश प्राप्त' आर्थक्रम का आदर करना उचित होने से—पहले यवागूपाक फिर अग्निहोत्र होगा]। उसी प्रकार 'श्रवण' फिर 'मनन' फिर 'निदिध्यासन' [इस क्रम से] तत्त्वज्ञान के कारण होते हैं, इसीलिये यहां भी उसी आर्थक्रम को लेकर ऐसा सिद्धान्त कहा गया है [अर्थात् प्रथम श्रवण आदि हो लेगा बाद में आत्मदर्शन]। इस प्रकार यही समझना चाहिये कि [आचार्य के भयभंजक अर्थात् सुन्दर मुख से [श्रुति का तात्पर्य जिस व्यक्ति ने ग्रहण कर लिया है केवल उसी को ही 'मनन' करने का अधिकार है [किसी अन्य व्यक्ति को नहीं, क्योंकि यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है] एवं मनन तभी सम्भव है जबकि हम आत्मा को

इतर [सभी प्रकार की कल्पित वस्तुओं] से भिन्न [सर्वशः अलग] अनुमानित कर लें, और वह अनुमानिक ज्ञान भेद के प्रतियोगी इतरों के ज्ञान से सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु प्रश्न यह है कि वे इतर हैं कौन से ? इसी बात को स्पष्ट करने के लिये हमें पदार्थों का निरूपण करना ही पड़ता है।

व्याख्या—"*पुरुषार्थः कः इति चेत्*" पुरुषार्थ क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर ?

उत्तर देते हैं कि—'मोक्ष' ही परम पुरुषार्थ है, कुछ अन्य नहीं।

प्रश्न = '*क्यों*' ?

उत्तर = 'अभ्युदय की पराकाष्ठा [चरम सीमा] होने के कारण' मोक्ष के अतिरिक्त पुरुष [सजीव] का और कोई परमपद [परमार्थ] नहीं सोचा जा सकता। और वह 'मोक्ष' केवल वेदान्त शास्त्र के 'श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन' द्वारा होने वाले 'आत्मदर्शन' अर्थात 'आत्मा के साक्षात्कार' से होता है।

प्रश्न = आत्मा न हेय है और न ही उपादेय [इस प्रकार ज्ञेय आत्मा जब कि विधि का विषय ही न रहा] तो फिर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' [आत्मा का दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये] इत्यादि विधितुल्य वाक्यों का क्या प्रयोजन ?

उत्तर=यद्यपि आत्मा 'चिद्रूप' है, इसीलिये उसका ज्ञान [और शरीरेन्द्रिय आदि से भिन्न होना वस्तुतः] सदैव स्वयं सिद्ध होने के कारण तदर्थ श्रवण आदि की साक्षात् विधि नहीं हो सकती, तथापि उपदेश से पूर्व इन्द्रिय तथा शरीर आदि संघात में आत्म विषयक अभिमान के योग से उसकी उपर्युक्त प्रकार से पूर्णतया अभिव्यक्ति भी तो स्थिर नहीं रहती। इससे यह आया कि—आत्मा का श्रवण आदि से पूर्व भी, ज्ञान तो हो सकता है, पर वह ज्ञान ऐसा होगा कि उसे अवास्तविक आत्मज्ञान या आत्मा का साक्षात्कार कहा जायेगा, [क्योंकि '*चैतन्यविशिष्टकायः*' ऐसा ज्ञान होने से वह एक कलंकित ज्ञान ही है] इसीलिये उस अविद्यामूलक अहंकार [आवरण] के अत्यन्त निराकरण के लिये ही वस्तुतः वेदान्त श्रवण आदि का विधान है, [न कि अतिशय उपलब्ध की उपलब्धि के लिये अर्थात्] नितान्त प्रकाशक के प्रकाशन

के लिये नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब शब्दों का प्रयोग वस्तु-स्तुति के लिये है वस्तु-स्थिति के लिये नहीं क्योंकि आत्मा का आदि अन्त न होने से उसकी कोई परिभाषा भी नहीं हो सकती। जैसे कि—

"न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्,
न वा केवलत्वं न चाऽकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्,
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि॥"

"एक भी नहीं है, तो उससे अन्य द्वितीय कहां से होगा? आत्मा में केवलत्व [एकत्व] भी नहीं है तथा अकेवलत्व [अनेकत्व] भी नहीं है। न शून्य है, न अशून्य है। अद्वैत होने के कारण सब वेदान्तों से सिद्ध को मैं कहूँ तो कैसे?"

इसीलिये जिन बातों से आत्मा का निर्देश किया जाता है उन्हें आत्मा का लक्षण न कह कर आत्मा का लिंग *[लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्]* कहा गया है। आत्मा के स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान तो स्वानुभव में ही होता है परन्तु इन लिंगों के द्वारा भी यत्किञ्चित् संकेत अवश्य हो जाता है जो सच्चे जिज्ञासु के लिये आत्मविषयक अगाध सागर में प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है।

त्रिविध दुःखों से सन्तप्त मानव जिस समय लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के उपायों द्वारा अपने लक्ष्य [परम सुख वा परम विश्रान्ति] को उपलब्ध नहीं कर पाता, उस समय अनेक विधि विकट साधनों के अनुष्ठान से खिन्न हो कर वेद की शरण में आए उस त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप 'सच्ची शांति' [मोक्ष] के जिज्ञासु को —

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'
'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'
'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।" इत्यादि,

इस श्रुति द्वारा निर्दिष्ट अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व—'आत्म दर्शन' अर्थात् 'आत्मा का

साक्षात्कार' कराने के लिये "गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास" इन सब तत्त्वदर्शी महर्षियों ने तत्त्वज्ञान प्रदाता "न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और अन्तिम वेदान्त" इन छः 'आस्तिक' [वेदों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रामाणिक तथा सर्वशः सत्य मानने वाले] दर्शनों की रचना की। इस प्रकार आत्म-दर्शन के समर्थक उपर्युक्त वेदान्त आदि को भी लक्षणया 'दर्शन' कहते हैं। जैसे कि 'उपनिषद्' शब्द का वास्तविक अर्थ 'अध्यात्मविद्या' है। उस के समर्थक ग्रन्थों में लक्षणा द्वारा उपनिषद् शब्द का व्यावहार होता है। इसीलिये वेदान्त आदि में भी दर्शन शब्द की हेतुत्व रूप से व्युत्पत्ति मान कर "*दृश्यते अनेन इति दर्शनम्*" जिस के द्वारा आत्मा का दर्शन [साक्षात्कार] हो, ऐसे वेदान्त आदि दर्शन शब्द से कहे जाते हैं।

"मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः॥"

"जो बुद्धिमान् हो, विद्वान् हो तथा तर्क-वितर्क में कुशल हो, ऐसे लक्षणों वाला पुरुष ही आत्मविद्या का '*अधिकारी*' होता है॥"

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शन हेतवः॥"

"श्रुति वाक्यों द्वारा आत्मा का [उपर्युक्त अधिकारी को सद्गुरु के मर्मप्रकाशक मुख से] 'श्रवण' करना चाहिये, युक्तियों द्वारा आत्मा का [स्वयं] 'मनन' करना चाहिये और मनन से परिपक्व आत्मज्ञान के अनन्तर 'तद्वत् धारणा' रखनी चाहिये, क्योंकि यही [श्रवण, मनन और निदिध्यासन] आत्मज्ञान के प्रति दृढ़ निश्चय में कारण हैं॥"

"तत्र तावन्मुनिश्रेष्ठाः! श्रवणं नाम केवलम्।
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैः शक्तितात्पर्य निर्णयः॥"

"हे श्रेष्ठ मुनियो! श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनों में से 'श्रवण' उसे कहा जाता है—'जो उपक्रम आदि [नीचे स्पष्ट किये जा रहे]

छः लिङ्गों के आधार पर सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों की शक्ति के तात्पर्य का निर्णय [निश्चय या फैसला] हो।"

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य निर्णये।"

(१) 'उपक्रम तथा उपसंहार' (२) 'अभ्यास' (३) 'अपूर्वता' (४) 'फल' (५) 'अर्थवाद' और (६) 'उपपत्ति' ये छः प्रकार के लिङ्ग सारांश [वास्तविक बात] के निर्णय में कारण हैं।" अर्थात् 'प्रारम्भ तथा समाप्ति' का एक ही विषय [प्रकरण] में होना 'उपक्रम तथा उपसंहार' कहलाता है। 'पुनः पुनः अनुशीलन' [प्रकरणप्रतिपाद्य विषय का बीच में बार-बार प्रतिपादन करना] 'अभ्यास' कहलाता है। 'प्रकरणप्रतिपाद्य विषय के किसी अन्य प्रकार से ज्ञात न होने' को 'अपूर्वता' कहते हैं। 'विधेय अर्थ' [जो नियम या विधि द्वारा पूरा किया जाय उस] को 'फल' कहते हैं। 'विधि वाक्य के अर्थ की प्रशंसा और निषेध के निन्दा परक वाक्य' को 'अर्थवाद' कहा जाता है। प्रकरणप्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित सिद्ध करने में जो 'युक्ति' उपस्थित की जाती है उसे 'उपपत्ति' कहते हैं।"

आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये किये जाने वाले 'श्रवण' का वास्तविक स्वरूप और उसके प्रति लिङ्गों का स्पष्टीकरण कर चुकने के बाद '*अर्थासम्भावनो*' इसी अंश से 'मनन' शब्द के अर्थ को बताते हैं—

"अर्थासम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम्।
वेदशास्त्राविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः॥"

"श्रवण द्वारा उपलब्ध 'अर्थ' की असम्भावना के निवर्तक 'तर्क' को 'मनन' कहते हैं। [ध्यान रखना चाहिये कि—तर्क अनेक हो सकते हैं इसी प्रकार यदि उन सब को लिया जाय तो '*नैषामतिस्तर्केणापनेया*' तर्क में अनादर बताने वाली यह श्रुति असंगत हो जायगी? इसी लिये कहा है कि] वेद और शास्त्र के अनुकूल [अविरोधी] तर्क का होना ही यहां उपादेय रूप से अपेक्षित है, न कि इतर।"

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वेद और शास्त्र से विरोध न रखने वाला तर्क ही तर्क कहलाता है, अन्य नहीं, क्योंकि वेद और शास्त्र के सार्थक तर्क के अतिरिक्त कोई भी तर्क मानव का परमार्थ सिद्ध करने वाला न होने के कारण वस्तुतः तर्काभास ही है। इसीलिये केवल वेद और शास्त्र के अनुकूल तर्क का ग्रहण करते हुए—

"स्थूलं युक्त्या निरस्यैवं नभसो नीलतामिव ।
देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादतो युक्तिभिरात्मनः ॥"

"जिस प्रकार [स्वच्छ] आकाश में नीलता [नीलेपन] का वस्तुतः अभाव है, ठीक इसी प्रकार स्थूल शरीर में भी आत्मपन का मूलतः अभाव ही है। [अर्थात् सर्वथा स्थूल या महान् आत्मा नहीं] ऐसा निश्चय करके [तदनन्तर] युक्तियों के द्वारा सूक्ष्म शरीर में भी आत्मपन का सर्वशः निराकरण करना [अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म 'परम अणु' भी आत्मा नहीं ऐसा समझना] चाहिये।

इसी प्रकार 'तर्क' पूर्वक सुगमता से यह निष्कर्ष निकल आता है कि—'जो भी कुछ कल्पना या ध्यान में आ सकता है वह सब आत्मा नहीं, नितान्त अनात्म अर्थात् त्याजय ही है। '*कथं देहं सूक्ष्मं निराकुर्यादिति ? उच्यते।*' सूक्ष्म शरीर से आत्मबुद्धि का निराकरण कैसे होगा ? इसे कहते हैं—

अहंममत्वयत्नेच्छा नाऽऽत्मधर्माः कृशत्ववत् ।
कर्मत्वेनोपलभ्यत्वादपायित्वाच्च वस्त्रवत् ॥"

जिस प्रकार कृशता, स्थूलता आदि स्थूल शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसी प्रकार अहङ्कार, ममत्व, यत्न तथा इच्छा भी सूक्ष्म शरीर के ही धर्म हैं क्योंकि ये सब वस्त्र आदि के समान केवल दृश्य [अर्थात् अनात्मा] हैं तथा आगमापायी हैं।"

यहां यह जान लेना अति आवश्यक है कि 'शब्द' भी तत्त्व का निश्चायक कहा जा सकता है. परन्तु विशेष इतना है कि—'असम्भावना तथा विपरीत भावना' आदि दोषों [जो अनेक प्रकार से उत्पन्न हो सकते हैं उन] की व्यावृत्ति

के लिये मननाख्य [मनन नामक प्रसिद्ध] तर्क को अवश्य ग्रहण करना पड़ता है। क्योंकि 'शब्द' को 'शाब्दबोध में 'करण' माना गया है, करण का सहकारी इति कर्तव्यतारूप 'तर्क' होता है। कुल्हाड़े से वृक्ष को मूल सहित काट डालो, परन्तु कैसे ? इसी अपेक्षा से—उद्यमन, निपातन आदि व्यापार की जिस प्रकार आवश्यकता रहती है, ठीक उसी प्रकार से प्रकृत में भी समझ लेना चाहिये।"
मनन के बाद 'निदिध्यासन' को बताते हैं—

"निदिध्यासनमैकाग्र्यं श्रवणे मननेऽपि च ।
निदिध्यासनसंज्ञं च मननं च द्वयं बुधाः! ।
फलोपकारकाङ्गं स्यात् तेनाऽसम्भावना तथा ।
विपरीता च निर्मूलं प्रविनश्यति सत्तमाः ॥"

"श्रवण और मनन के अनन्तर [देह से लेकर बुद्धि पर्य्यन्त जितने भी भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थ हैं उन प्रत्येक का विचार और तदनुकूल युक्तियों द्वारा आत्मा से स्वयंसिद्ध भिन्नत्व निश्चय कर लेने पर] मन की एकाग्रता [अविशिष्ट अर्थात् निर्विशेष आत्मतत्त्व में अन्तः करण के विलीनत्व] को 'निदिध्यासन' कहते हैं। हे विवेकज्ञ ! 'निदिध्यासन और मनन' ये दोनों फलोपकारक अङ्ग हैं, इसीलिये इनसे क्रमशः असम्भावना तथा विपरीतभावना समूल [मूल सहित] नष्ट हो जाती है [जैसे कि *'तत्त्वमसि'* *'अहंब्रह्मास्मि'* इत्यादि महावाक्यों के विचार से जब आत्मदर्शन या आत्मसाक्षात्कार हो गया, मैं वही अविशिष्ट आत्मा ही हूँ, उस से अन्य नहीं हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया, तब अनात्माश्रित अहंकार—ममकार का पता ही कहां ?] अर्थात्—

"निवृत्तायामहंबुद्धौ ममधीः प्रविलीयते ।
अहंबीजा हि सा सिद्ध्येत्तमोऽभावे कुतः फणी ॥"

"अहं—ऐसा ज्ञान ही ममता का क्षेत्र है इसी अहं बुद्धि अर्थात् अहंकार के निवृत होते ही ममता भी लय [समाप्त] हो जाती है। क्योंकि जब रज्जु में सर्प के भ्रम होने का बीज जो अन्धकार ही नहीं रहा, तो फिर उसमें सर्प का

भ्रम हो ही कैसे सकता है। ध्यान रहे कि इस श्लोक से पहले के अन्त में आया सत्तम' शब्द [विशेष महत्व रखने की सूचना देता है] अर्थात् वे 'परम साधु' [जो आत्मश्रवण के बारे में प्रश्न करते हैं] आत्मश्रवण न चाहने वालों से अति श्रेष्ठ होते हैं।" क्योंकि--

"प्राधान्यं मननादस्मिन्निदिध्यासनतोऽपि च।
उत्पत्तावन्तरंगं हि ज्ञानस्य श्रवणं बुधाः ॥"

"हे बुधवृन्द ! मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा श्रवण में प्रधानता है, क्योंकि 'श्रवण' ज्ञान की उत्पत्ति में 'अन्तरङ्ग साधन' [साक्षात् कारण] है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मनन' तथा 'निदिध्यासन' आत्मज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् साधन [सर्व उत्कृष्ट कारण] नहीं होते हैं, क्योंकि सर्व प्रथम किसी वस्तु के श्रवण से ही उस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बाद मनन द्वारा 'यह ज्ञान ठीक भी है या नहीं' अर्थात् हमें जिस वस्तु का ज्ञान श्रवण से उत्पन्न या प्राप्त हुआ है उसके 'यथार्थ होने अथवा अयथार्थ होने' केवल इसी बात का निर्णय मनन से होता है [ज्ञान की उत्पत्ति नहीं]। ज्ञान के यथार्थ होने पर उसे स्वीकार कर लेना, अयथार्थ होने पर उसे त्याग देना, इन दोनों में से उचित बात पर दृढ़ विश्वास रखना या उसे धारण करना 'निदिध्यासन' कहलाता है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन से ज्ञान के बारे में हो रही असम्भावना आदि दोषों की निवृत्ति होने के कारण ये मनन तथा निदिध्यासन असम्भावना आदि की व्यावृत्ति द्वारा ज्ञान के बहिरङ्ग साधन [असाक्षात् कारण] होते हैं। और किसी वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति उसी वस्तु के श्रवण पर निर्भर होने के कारण 'श्रवण' ज्ञान के प्रति 'अन्तरङ्ग साधन' [मूल कारण] होता है। जैसे कि—

"अहं मिथ्याभिशापेन दुःख्यात्मा तद्बुभुत्सया,
इतः श्रुतिं तया नेतोत्युक्तः कैवल्यमास्थितः ॥"

"अहं [मैं] ऐसे मिथ्याभिमान से दुःख आदि [विपरीतता] को आरोपित कर उससे छुटकारा पाने की इच्छा से जब यह आत्मा [करुणामयी जननी के

समान भगवती] श्रुति की शरण में गया। तब "*नेति-नेति*" इत्यादि श्रुतिद्वारा भ्रान्ति के दूर होते ही तटस्थ होकर *कैवल्य* अर्थात् मुक्त होता है।"

इसके बाद यह बताया गया है कि—आत्मा का यथार्थ ज्ञान आत्मेतर पदार्थों के यथार्थज्ञान पर निर्भर है इसी प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थों का निरूपण तत्त्व उपलब्धिकेलिये अतिआवश्यक [अभीष्ट] है अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति 'आत्मा तथा आत्मेतर' द्रव्यों [पदार्थों] के परस्पर 'साधर्म्य [समान धर्म] वैधर्म्य [विपरीत धर्म]' ज्ञापन पर ही हो सकती है अन्यथा नहीं। क्योंकि *अद्वैत* तत्त्व साक्षात्कार हमें इस नाम-रूपात्मक जगत् के उत्तरोत्तर परिज्ञानानन्तर ही सम्भव है। इससे यह आया कि--पदार्थों से यथार्थ ज्ञान द्वारा निःश्रेयस का अधिगम ही जीवन का परम लक्ष्य है। "*ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः*" यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है। क्योंकि—

"वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञा नाशुशुक्षणिः ।
दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माऽप्रतिकूलतः ।।"

"वेदान्तवाक्यों से अभिव्यक्त हुआ तत्त्वज्ञानरूप अग्नि आत्मा के आश्रित अज्ञान को एकदम भस्म कर देता है। परन्तु [यह सर्वशः ध्यान रहे कि] 'विरोधी न होने के कारण' कर्म [कोई भी शुभ कर्म] उसको [अज्ञान को] कदापि नष्ट नहीं कर सकता है।।"

आलोचना—यहां यह विचारणीय है कि वेदान्त का "*आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः*" यह सिद्धान्त कहां तक बुद्धिसंगत है। आत्मा या ब्रह्म के बारे में वह 'देखने या जानने योग्य है' कैसे कहा जा सकता है ? जबकि "*यतो वाचोनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*" जिस आत्मा या ब्रह्म से मन समेत श्रुतिरूप यह सब वाणियां 'उसके उपलब्ध न हो सकने से' स्वयं निवृत्त [असंगत अथवा प्रभावहीन] हो जाती हैं।" कतिपय वेदान्ती इसका ऐसा अर्थ भी लेते हैं कि–वे श्रुतियां ब्रह्म या आत्मा को प्राप्त होकर उसका प्रतिपादन करके कृतकृत्य होकर निवृत्त होती हैं। परन्तु ध्यान रहे यह एक सर्वथा असाध्य कल्पना है इसीलिये इसी नितान्त अयथार्थ कल्पनारूप दोष को दूर करने के लिये वाक्य में 'अप्राप्य'

[न प्राप्त होकर]–यह शब्द आया है। क्योंकि अनिर्वचनीय होने के कारण न तो ब्रह्म का वाणी से किसी प्रकार [अध्यारोप आदि के आधार पर] प्रतिपादन हो सकता है और अगम्य [अत्यन्त अज्ञेय] होने के कारण न ही उसका मन से कदापि चिन्तन किया जा सकता है, यही सारांश है। इसमें एक प्रमाण यह भी है "*अवचनेनैव प्रोवाच*" ब्रह्म-जिज्ञासु शिष्यद्वारा प्रश्न होने पर गुरू ने अवचन ही से उसे ब्रह्म का बोध कराया। इसका आशय यह कि बृहस्पति के सदृश प्रवक्ता तत्त्वज्ञ होते हुए भी सद्भाव से प्रश्न करने पर भी गुरु कुछ उत्तर न दे सका। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति वचन [उक्ति] से किसी को ब्रह्म या आत्मा का बोध कराने का साहस करता है तो वह एक अयथार्थवादी होने के कारण नालायक ही कहा जा सकता है। अर्थात् वह निःसन्देह '*आप्त*' पुरुष होने की योग्यता नहीं रखता है। क्योंकि ब्रह्म या आत्मा सर्वशः मन और वचन [वाणी] का अविषय है। अतएव जिस प्रकार मन द्वारा ब्रह्म का कोई स्वरूप सोचा या निर्धारित नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार वाणी द्वारा उसका प्रतिपादन [ब्रह्म ऐसा है या वैसा है, यह कहना भी असम्भव ही है। इस प्रकार ब्रह्म का उपदेश करने वाले के बारे में यही कहा जायगा कि ऐसे व्यक्ति ने अभी तक वेदान्त शास्त्र के इस पहलू पर [अर्थात् वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का वाणी द्वारा प्रतिपादन हो ही नहीं सकता इसी बात पर] पूरी तरह से ध्यान नहीं दिया है।

असली बात यह है कि 'देखने या जानने योग्य' का अर्थ है 'विषय'। इसके अनुसार 'आत्मा' शब्द दो अर्थों में आता है। एक तो 'कल्पनातीत' [कभी व्यावहार या ध्यान में न आ सकने वाले] आत्मा या ब्रह्म के लिये और दूसरा कल्पना में आने वाले [कल्पित] पदार्थों के लिये भी आत्मा शब्द आता है। इसीलिये "*आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः*" इस विधितुल्य वाक्य से 'देखने या जानने योग्य' [चक्षु आदि सब प्रकार की इन्द्रियों का विषय बन सकने वाले] प्रत्येक पदार्थ [आत्मा] को लेते हैं क्योंकि 'दर्शन वस्तुतः दृश्य [जो देखने या जानने में आ सके ऐसी किसी वस्तु] का ही सम्भव है न कि उस [ब्रह्म या आत्मा] का जो सर्वदा दृश्य किसी उपाय से देखने या जानने योग्य] ही नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का निष्कर्ष यही हुआ कि–सारे विश्व में विद्यमान प्रत्येक वस्तु

[आत्मा] का दर्शन करना चाहिये। क्योंकि जब तक हम पूर्णतया यह न जान लें कि प्रत्येक इन्द्रिय का विषय बन सकने वाली जो भी वस्तु [आत्मा] है वह सब अविद्याकल्पित [केवल प्रातिभासिक] ही है, किसी भी अंश में वास्तविक नहीं है। तब तक दृढ़तापूर्वक प्रतीत होने वाले जगत् की किसी वस्तु के '*नेति-नेति*' द्वारा बाध [निराकरण] कर सकने का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिये यही समझना चाहिये कि–जिस भी किसी को बुद्धि ग्रहण कर सकती है यदि उस प्रत्येक वस्तु के अवास्तविक होने का निश्चय नहीं हो चुका है तो कदापि ब्रह्म या आत्मसाक्षात्काररूप स्वानुभव नहीं होता है।

इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि–'*अद्वैतवाद*' का अर्थ ब्रह्म या आत्मा के एक होने का [ब्रह्मात्म एकत्व] सिद्धान्त नहीं है क्योंकि ब्रह्म या आत्मा कल्पनातीत है इसीलिये '*ब्रह्म एक है*' ऐसा 'अद्वैतवाद' शब्द का आशय बिलकुल नहीं हो सकता है। इससे यह आया कि, 'अद्वैतवाद' शब्द का अर्थ है 'ब्रह्म या आत्मा के एकत्व का आरोप' [अर्थात् ब्रह्म और आत्मा एक वस्तु हैं ऐसी झूठी कल्पना] करके ब्रह्म या आत्मा को विवाद का विषय बनाना जिससे मुमुक्षु 'नेति-नेति' द्वारा स्वयं इस परिणाम तक पहुँच सके कि ब्रह्म अथवा आत्मा कदापि एक नहीं इसी प्रकार सत् नहीं, चित् नहीं इत्यादि। क्योंकि ब्रह्म या आत्मा एक है, अथवा सत् है, चित् है आनन्द है, निर्गुण एवं निराकार है, 'मैं ब्रह्म हूं' अकर्ता और अभोक्ता हूं, सर्वव्यापक हूं, इत्यादि प्रकार की जो भी कल्पना है वह [ब्रह्म या आत्मा के कल्पनातीत होने की दृष्टि से] निःसन्देह निर्मूल एवं निराधार कल्पना ही है।

'मैं' इस शब्द का अर्थ है '*स्वयं*' जो कि स्वतः सिद्ध है इसीलिये किसी ज्ञान आदि से साध्य नहीं है। 'ब्रह्म' के बारे में भी इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। परन्तु 'मैं हूँ' या '*मैं ब्रह्म हूँ*' ऐसा बोध तो कल्पना होने पर ही होता है, वैसे नहीं, इसीलिये अपने या ब्रह्म होने का ऐसा बोध [मैं हूं] कल्पना की अपेक्षा से सिद्ध होने के कारण स्वतः सिद्ध ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि '*मैं*' जबकि वह जाना नहीं जाता, तो स्वतः सिद्ध ही होगा, इसी आधार पर मैं शब्द का अर्थ स्वयं लिया जा सकता है। इसके विपरीत 'मैं' जब

ज्ञान का विषय बनता है, ज्ञान से जाना जाता है, अर्थात् जिस समय 'मैं' का ज्ञान होता है उस समय ज्ञान का स्वरूप [आकार] यह होता है कि—'मैं हूं' या 'अयं ब्रह्म'। यहां ध्यान रहे कि 'अयं ब्रह्म' यह एक विशिष्ट ज्ञान है और 'मैं ब्रह्म हूं' या 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' यह ज्ञान 'अयं ब्रह्म' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता अर्थात् विशेषणता से युक्त ज्ञान होता है ऐसे विशेष्यविशेषणभाव-युक्त ज्ञान को ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। अथवा यूँ समझना चाहिये कि—'मैं हूं' इस प्रकार अनुभव में आने वाले 'मैं' को अहंकार कहते हैं ठीक इसी तरह से अनुभव में आने वाला 'ब्रह्म' भी वस्तुतः 'अहंकार' ही होता है। इसीलिये 'मैं हूं' या 'मैं ब्रह्म हूं' इन दोनों प्रकार की प्रतीतियों में 'मैं' या 'ब्रह्म' दोनों स्वतः सिद्ध अर्थात् निर्विकल्पक नहीं रहते क्योंकि ये दोनों प्रतीतियां स्पष्ट रूप से 'विकल्प' या 'अहंकार' को विषय करती हैं। इससे यह आया कि वेदान्त में जिस 'अहं' या 'ब्रह्म' को अहंकार या कल्पना से अस्पृष्ट कहा गया है वह अहं या ब्रह्म प्रतीत हो रहा होने की दशा में [जैसे कि—मैं हूं, मैं ब्रह्म हूं, यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि प्रतीति के समय] कल्पना या अहंकार से युक्त प्रतीत होने के कारण कल्पना या अहंकार से अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता है। इसीलिये वेदान्त में अहं और ब्रह्म के कल्पनातीत होने के सिद्धान्त से 'अहं अस्मि' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' यह कल्पनायुक्त होने का सिद्धान्त सर्वथा एक विपरीत सिद्धान्त है, दूसरे शब्दों में यह भ्रममूलक या आरोपित कल्पना है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि—'ब्रह्म' यदि सर्वव्यापक, सत्, चित्, आनन्द इत्यादि किसी रूप में ज्ञात होता [अनुभव में आता] है तो नोट कर लो कि वह निरा भ्रम या अहंकार ही होता है। क्योंकि 'ब्रह्म' को यदि किसी भी अंश में ज्ञान का विषय मान लें तो निःसन्देह भारतीय [षड्+बौद्ध वा जैन] दर्शन शास्त्रों की आधार शिला जो 'निर्विकल्पक' रूप वास्तविकता है वह एकदम नष्ट हो जायेगी, इसीलिए 'ब्रह्म' किसी प्रकार से ज्ञेय नहीं हो सकता, ऐसा समझना चाहिये।

न्याय-वैशेषिक का वास्तविक उद्देश्य–ज्ञान के साधन तथा उसकी यथार्थता का निर्णय है इसीलिये इन को मुख्य रूप से प्रामाणिक शास्त्र स्वीकार किया गया है। पदार्थों के यथार्थज्ञान के लिये, अब उन्हें बताते हैं-

मूल=संक्षेपत: पदार्थो द्विविधः—भावो ऽभावश्च। भावः षड्विधः—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायभेदात्। तत्र–द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वानि जातयः, सामान्यत्वादीनि उपाधयः।

अनुवाद=[मनन के लिये जिनका होना अवश्यम्भावी है] संक्षेप में वे पदार्थ दो प्रकार के हैं 'भाव रूप' [भौतिक] और 'अभाव रूप' [काल्पनिक]। भाव पदार्थ छः हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष और (६) समवाय। इन पदार्थों में [तत्र] 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' तथा 'कर्मत्व' ये तो जातियां हैं और 'सामान्यत्व' आदि ये सब उपाधियां हैं।

व्याख्या=जिनके प्रतिपादन से हमारे मनन का उद्देश्य पूरा हो जाता है वे "द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव" यही 'सात' पदार्थ हैं। वैशेषिक शास्त्र में यद्यपि द्रव्य से लेकर समवाय तक के इन छः भाव पदार्थों को कहा गया है तो भी बाद में 'अभाव' को इन्हीं के साथ मिला लिया गया है, इस प्रकार वैशेषिक शास्त्र में मुख्य रूप से लिये गए ये 'द्रव्य' आदि 'सात' ही पदार्थ हैं। न्याय में 'प्रमाण तथा प्रमेय आदि १६ पदार्थों' का वर्णन होने पर भी *न्याय दर्शन वात्स्यायनभाष्य* के सूत्र अ० १ आ० १ सू० ६ में यह आया है कि *"अस्ति-अन्यदपि-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायाः प्रमेयम्"*। इससे स्पष्ट है कि न्यायशास्त्र को मानने वाले इन सात पदार्थों को ग्रहण करते ही हैं। इसीलिये इन सात पदार्थों को न्याय के माने हुए 'प्रमेय' के अन्दर अर्थात् प्रमेय विषयक सूत्र में जिस प्रकार ले ि या गया है उसी प्रकार उन १६ पदार्थों को भी इन सात पदार्थों के अन्दर लिया जा सकता है। इसी प्रकार साधारणतया ये सात ही पदार्थ हुए, यहां ऐसा समझना चाहिये। 'द्रव्य' में जुड़ा हुआ 'त्व' अर्थात् 'द्रव्यत्व' जाति है, ऐसे ही 'गुणत्व' तथा 'कर्मत्व' भी जाति हैं, परन्तु इन तीनों पदार्थों के अतिरिक्त जो सामान्य, विशेष आदि पदार्थ हैं उनमें जुड़ा हुआ 'त्व' जाति का सूचक नहीं अपितु 'उपाधि' ही का सूचक है, इसलिये 'सामान्यत्व' तथा 'विशेषत्व' आदि नाम

की कोई जाति नहीं प्रत्युत केवल 'उपाधि' हैं। यह क्यों जाति नहीं, यह आगे स्पष्ट होगा। *अब द्रव्य की विस्तृति दिखाते हैं—*

मूल=द्रव्याणि 'नव'-पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि। आकाशत्वकालत्वदिक्त्वानि उपाधयः। अन्यानि जातयः।

अनुवाद =[उपर्युक्त सात पदार्थों में] 'द्रव्य' के—(१) पृथिवी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा और (९) मन—ये 'नौ' स्वरूप हैं। आकाशत्व, कालत्व तथा दिक्त्व—ये तो केवल 'उपाधियां' हैं। और इनके अतिरिक्त बाकी की [पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व तथा आत्मत्व—ये] 'जातियां' हैं।

व्याख्या=सर्व प्रथम पदार्थ द्रव्य के 'पृथिवी से लेकर मन तक' के ये नौ स्वरूप हैं अर्थात् द्रव्य 'नौ' ही माने गये हैं। द्रव्य का सामान्य लक्षण है 'समवायिकारण होना' अर्थात् जो समवायिकारण हो उसी को द्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार यह आया कि—पृथिवी आदि नौ द्रव्य किसी न किसी कार्य के समवायिकारण अवश्य होंगे। जैसे कि—'पृथिवी, जल, तेज तथा वायु' ये चारों मूर्त्त द्रव्य तो घट पट आदि पदार्थों तथा रूप रस आदि गुणों तथा गमन आदि कर्म के समवायिकारण होते हैं और बाकी के जो—आकाश, काल आदि नित्य द्रव्य हैं वे भी अपने-अपने गुणों के समवायिकारण होते ही हैं। *किस द्रव्य में कौन कौन से गुण पाये जाते हैं अब उसे बताते हैं—*

मूल=तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्काराश्चतुर्दश गुणाः पृथिव्याम्।

अनुवाद =भाव पदार्थ के वर्णन में [तत्र] रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व और संस्कार—ये 'चौदह' गुण 'पृथिवी' में रहते हैं।

मूल=तत्रैव गन्धं विहाय स्नेहं विनियोज्य चतुर्दश गुणाः जलस्य। रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा-एकादश गुणाः तेजसः।

अनुवाद=ऊपर बताय गए चौदह गुणों में से [तत्रैव] गन्ध को अलग करके उसकी जगह 'स्नेह' को जोड़ देने पर—ये 'चौदह' गुण 'जल' में पाय जाते हैं। और—'रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार'—ये 'ग्यारह' गुण 'तेज' में होते हैं।

मूल=स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारा नव गुणाः वायोः। शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः षड् गुणाः आकाशस्य।

अनुवाद=स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार—ये 'नौ' गुण 'वायु' में रहते हैं। और शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये 'छः' गुण 'आकाश' में रहते हैं।

मूल=संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्दशः गुणा आत्मनः। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारा अष्टौ गुणाः मनसः।

अनुवाद=संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये 'चौदह' गुण 'जीवात्मा' में रहते हैं। और "संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा संस्कार" ये—'आठ' गुण 'मन' में रहते हैं।

मूल=संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः पञ्च गुणाः कालदिशोः। ज्ञानेच्छाकृतिसंख्यादिपञ्चकम्, अष्टौ गुणाः ईश्वरस्य। तथा च,—

अनुवाद = संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—ये 'पांचों' गुण 'काल' तथा 'दिशा' में रहते हैं। ज्ञान, इच्छा, कृति, (ये तीन) तथा संख्या इत्यादि पाँच (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग) इस प्रकार ये—'आठ' गुण 'ईश्वर' (परमात्मा) में हैं। [पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से जिस द्रव्य में जितने गुण रहते हैं उसका संग्रह नीचे लिखे हुए एक प्राचीन श्लोक से प्रमाणित है]।—

मूल=="वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः,
जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे,
महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥"

अनुवाद=='वायु' में 'नौ' और 'तेज' में 'ग्यारह' 'जल-पृथिवी तथा आत्मा' में 'चौदह-चौदह'। 'दिशा तथा काल' में 'पांच-पांच' और 'आकाश' में 'छः' और 'परमात्मा' में 'आठ' तथा 'मन' में भी उतने अर्थात् 'आठ' गुण माने गए हैं।

मूल=तत्र पृथिवीजलतेजोवायवो द्विविधाः, परमाणवः सावयवाश्च । आकाशकालात्मदिशो विभुरूपः । मनः परमाणुरूपम् । तत्र सावयवा अनित्याः, इतराणि नित्यानि । सावयवा अपि त्रिविधाः-शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । मानुषं शरीरं पार्थिवम्, जलीयं शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम्, तैजसं शरीरमादित्यलोके, वायवीयं शरीरं वायुलोके ।

अनुवाद = उक्त नौ प्रकार के द्रव्यों में से [तत्र] पृथिवी, जल, तेज [अग्नि] और वायु—दो प्रकार के माने गए हैं, एक तो 'परमाणुरूप' [निरवयव अर्थात् प्रत्यक्ष के अयोग्य] दूसरे 'सावयव' [अवयवों से युक्त अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य]। आकाश, काल, आत्मा तथा दिशा [ये चार] 'विभुरूप' [सर्वत्र व्यापक द्रव्य] हैं। मन 'परमाणुरूप' [परम अणु] होता है। इनमें जो 'सावयव' हैं वे तो 'अनित्य'

[उत्पत्ति और विनाश शील] होते हैं, और इतर अर्थात् 'निरवयव' [होने केकारण] 'नित्य' कहलाते हैं। 'सावयवों' [अवयवों से युक्त द्रव्यों] को तीन प्रकार का माना गया है—'शरीर-इन्द्रिय और विषय' के भेद से। मनुष्यों के शरीर को पार्थिव शरीर माना जाता है। जलीय शरीर [जिनकी योनि से उत्पत्ति न हो ऐसे जल के द्वारा उत्पन्न शरीर] वरुणलोक में प्रसिद्ध हैं [यह जो नदी समुद्र आदि में रहने वाले मछली आदि जलजन्तुओं के शरीर हैं वे जलीय नहीं होते प्रत्युत गन्ध युक्त होने के कारण पार्थिव माने जाते हैं]। तैजस शरीर सूर्यलोक में प्रसिद्ध हैं [ये भी अयोनिज अर्थात् जननेंद्रिय से पैदा नहीं होते]। और वायवीय शरीर [अयोनिज जो कि पिशाच आदि के होते हैं वे] वायु के लोक में रहते हैं।

व्याख्या = 'पृथिवी' का सामान्य लक्षण है '*गन्धवत्त्व*' [गन्धवाला होना] अर्थात् गन्ध [गुण] के समवायिकारण द्रव्य को पृथिवी कहते हैं। यद्यपि 'कालिक तथा दैशिक' सम्बन्ध से 'गन्ध' गुण का होना 'काल' तथा 'दिशा' में भी कहा जा सकता है और जल आदि में भी गन्ध की प्रतीति होती है, तथापि 'साधारण रूप से रहना' छोड़कर 'समवाय सम्बन्ध से रहना' ऐसा समझना चाहिये। समवाय सम्बन्ध से तो केवल 'गन्ध' गुण पृथिवी ही में रहता है न कि अन्य अर्थात् काल आदि में। क्योंकि काल में तो गन्ध का कालिक सम्बन्ध होगा और दिशा में दैशिक सम्बन्ध। इसलिये '*गन्धवत्त्व*' ये पृथिवी का लक्षण दूसरे द्रव्य में न ही अतिव्याप्त होता हुआ [न ही बढ़ता हुआ] केवल पृथिवीमात्र में घटता है। फिर प्रमाणु के स्वरूप में पृथिवी का 'नित्य होना' बताया गया है। क्योंकि परमाणुओं के निरवयव होने के कारण पार्थिव परमाणुओं का नाश [अणु नाश] सोचा ही नहीं जा सकता इसलिये 'परमाणुओं के स्वरूप' में पृथिवी नित्य हुई। द्वयणुक आदि के रूप में जो सूक्ष्म कार्य [वस्तु] तथा त्र्यणुक और उसके बाद के बनने वाले सभी स्थूल कार्य [अवयवों से बने हुए] होने के कारण अवयवयुक्त जो भी पृथिवी [पार्थिव वस्तु] है वह सब अनित्य है। पार्थिव परमाणुओं के रूप में जो नित्य पृथिवी कही गई है उसे छोड़ कर बाकी की द्वयणुक से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी अनित्य पृथिवी ही [पार्थिव] विषय है।

दूसरे द्रव्य जल का लक्षण है *'शीतस्पर्शवत्य'* [शीतलस्पर्श वाला होना] अर्थात् जो ठन्डा लगे वही 'द्रव्य' जल है। 'स्नेह, गुण वाला होना [स्नेहवत्व] भी जल का लक्षण किया जा सकता है। क्योंकि शीतस्पर्श तथा स्नेह यह दोनों ऐसे गुण हैं जो जल के अतिरिक्त किसी द्रव्य में नहीं पाय जाते हैं। जल का नित्य तथा अनित्य होना पृथिवी के समान जानना चाहिये। अर्थात् 'परमाणु-रूप' जल 'नित्य' और 'व्यावहारिक' जल 'अनित्य' है। समुद्र, नदी, तालाब, ओले तथा बर्फ आदि जलीय विषय हैं।

तीसरे द्रव्य 'तेज' [अग्नि] का लक्षण है *'उष्णस्पर्शवत्'* [उष्ण स्पर्श से युक्त] अर्थात् जो गरम लगे वह 'तेज' है। क्योंकि 'उष्ण स्पर्श' यह एक ऐसा गुण केवल तेज में पाया जाता है। यदि कोई यह कहे कि चन्द्र की किरणों को तैजस माना जाता है परन्तु उनका स्पर्श तो उष्ण है नहीं, इसलिये तेज का यह लक्षण दूषित हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि वास्तव में चन्द्रकिरण आदि का स्पर्श भी उष्ण ही होता है, किन्तु जल के स्पर्श से दबा हुआ होने के कारण शीत सा प्रतीत होता है। तैजस विषय चार प्रकार के हैं-भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज। अग्नि आदि *'भौम'* तेज है। जल से उत्पन्न तथा आकाश आदि में चमकने वाली बिजली *'दिव्य'* तेज' है। किये गए भोजन को परिपाक अवस्था में बदलने वाली अग्नि *'उदर्य'* तेज है। खान से निकलने वाले धातु 'सुवर्ण' आदि **'आकरज'** तेज है।

चौथे द्रव्य 'वायु' का लक्षण है **'रूपरहितअपाकजअनुष्णाशीतस्पर्शवान्'** [रूप से शून्य होने पर जो अपाकज और अनुष्णाशीत स्पर्श वाला हो] अर्थात् रूप वाला न होते हुए 'अपाकज [पाक अर्थात् अग्नि संयोग से जो उत्पन्न न हुआ] भी हो' और न तो जो उष्ण हो तथा न ही शीत हो ऐसा स्पर्श केवल 'वायु' में माना जाता है। क्योंकि स्पर्श [गुण] केवल—पृथिवी, जल तेज और वायु [इन चार द्रव्यों] में पाया जाता है। इनमें से 'पृथिवी' का 'स्पर्श' तो "अनुष्णाशीत परन्तु 'पाकज [अग्नि के संयोग द्वारा उत्पन्न]' होता है"। 'जल' का 'शीत' और 'तेज' का 'उष्ण' स्पर्श होता है। इसलिये *'अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श'* केवल 'वायु' में सिद्ध होता है। वृक्ष आदि का कम्पन

तथा प्राण आदि [प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान] वायु का विषय माना गया है। वस्तुतः प्राणवायु एक है परन्तु हृदय आदि अनेक स्थानों में रहने तथा मुख आदि से निकलने आदि अनेक क्रियाओं के कारण पांच प्रकार की संज्ञा हो जाती है जैसा कि—

"हृदि प्राणो, गुदेऽपानः, समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो, व्यानः सर्वशरीरगः॥"

इस प्रकार 'प्राण से लेकर महावायु पर्यन्त' ये सब 'वायव्य विषय' हैं।

पांचवें द्रव्य 'आकाश' का लक्षण है *'शब्दगुणकमाकाशम्'* [शब्द गुण वाला 'आकाश' है] अर्थात् शब्द के सिवाय अन्य कोई विशेष गुण आकाश में नहीं पाया जाता है और यह पहले कहा ही जा चुका है कि आकाश में रहने वाली आकाशत्व जाति नहीं होती है अपितु केवल उपाधि है, इससे यह आया कि—*'आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम्'* अर्थात् शब्द का आश्रय होना ही [उस] आकाशत्व उपाधि का स्वरूप है। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता प्रत्युत उसे केवल 'परिशेष अनुमान' से जाना जा सकता है। *प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तुओं में अन्यों का निषेध हो जाने से जब किसी नई वस्तु की प्राप्ति का प्रसङ्ग न हो तो बच रहे का मान लेना ही 'परिशेष अनुमान' कहलाता है।* अर्थात् निषेध से बचे हुए की स्वीकृति ही 'परिशेष अनुमान' है। शब्द एक [विशेष] 'गुण' है इसीलिये उसका किसी द्रव्य के आश्रित होना भी अवश्यंभावी है क्योंकि गुण बिना गुणी के अकेला नहीं ठहर सकता है। शब्द कान से सुना जाता है परन्तु पृथिवी आदि चारों तथा आत्मा के विशेष गुणों में से कोई भी श्रोत्रेन्द्रिय [कान] से ग्रहण न होने के कारण 'शब्द'—'पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा' का [विशेष] गुण तो हो नहीं सकता और न ही उस शब्द को दिक्—काल तथा मन' का गुण कहा जा सकता है क्योंकि इन तीनों में कोई भी विशेष गुण रहता ही नहीं [अपितु इनमें 'सामान्य' गुण रहते हैं]। इसी प्रकार जबकि इन आठों में 'शब्द' नहीं रहता तो जिस में वह रहेगा वही द्रव्य 'आकाश' ही है।

छटा द्रव्य 'काल' है जिसका लक्षण 'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः [भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान समय, इस प्रकार के व्यवहार का हेतु 'काल'] है। और काल का प्रत्येक पदार्थ के साथ सम्बन्ध घट जाने के कारण अर्थात् संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति किसी न किसी समय में ही होने से काल को सामान्यतः पैदा हुए पदार्थों का निमित्त कारण माना जाता है। इसलिए वह जगत् का आधार भी है।

सातवें पदार्थ [द्रव्य] 'दिशा' का लक्षण है 'प्राच्यादिव्यवहार हेतुः दिक्' [प्राची-प्रतीची-उदीची और अवाची अर्थात् 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इस प्रकार के शाब्दिक प्रयोग का मुख्य कारण 'दिशा' नामक द्रव्य है] क्योंकि ऐसे व्यवहार केवल दिशा के होने पर ही हो सकते हैं [न कि किसी अन्य द्रव्य के होने पर]। वह 'दिशा' एक तथा नित्य अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।

आठवें द्रव्य 'आत्मा' का लक्षण—''आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता'-'करणं हि सकर्तृकम्'' [इन्द्रिय आदि अर्थात् इन्द्रियों तथा शरीर आदि करणों का अधिष्टाता अर्थात उनका धारण करने वाला अथवा शासक 'आत्मा' ही है—क्योंकि जो करण होता है वह कर्त्ता की अपेक्षा रखता है, ऐसा नियम होने से]।

नवम् द्रव्य 'मन' का लक्षण 'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः' ['मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार से जो सुख, दुःख तथा इच्छा आदि का ज्ञान जिस साधन अर्थात् करण के द्वारा होता है वह नेत्र आदि पांच बाह्य ज्ञान इन्द्रियों के अतिरिक्त छटी अन्तः ज्ञान इन्द्रिय 'मन' ही है]। और वह नियम से अर्थात् नियत रूप से प्रत्येक जीवात्मा के साथ रहने के कारण अनन्त हैं॥

मूल=घ्राणेन्द्रियं पार्थिवम्, रसनेन्द्रियं जलीयम्, चक्षुरिन्द्रियं तैजसम्, त्वगिन्द्रियं वायवीयम्, श्रोत्रेन्द्रियं कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभः प्रदेशः, एतानि पञ्च बहिरिन्द्रियाणि। मनोऽन्तरिन्द्रियम् तेन षडिन्द्रियाणि। विषयाश्च शब्दादिरूपेण प्रसिद्धाः।

अनुवाद=घ्राण [नासिका] इन्द्रिय पार्थिव कहलाती है। रसना [जीभ] जलीय इन्द्रिय है। तैजस इन्द्रिय नेत्र [आँख] है। वायव्य इन्द्रिय त्वचा [चर्म] है।

और कर्ण-शष्कुली से युक्त जो आकाश स्थल [कान के अन्दर आया हुआ जो अवकाश अर्थात् आकाश] है वही श्रवणयंत्र अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय है, ये पांचों बाह्य [बाहिर देखी जा सकने वाली] इन्द्रियां हैं। मन अन्दर की [न देखी जा सकने वाली) इन्द्रिय है, इस प्रकार से 'इन्द्रियां [पांच बाह्य और एक अन्दर की—ये] 'छः' ही होती हैं। और [इन इन्द्रियों से ज्ञात होने वाले] विषय तो शब्द (स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) आदि के स्वरूप से प्रसिद्ध हैं ही।

व्याख्या=छः प्रकार की इन्द्रियों में से जो इन्द्रिय रूप आदि की अभिव्यञ्जक [प्रकाशक वा ग्राहक] न होते हुए केवल 'गन्ध' [सुगन्ध और दुर्गन्ध] की अभिव्यंजक हो उस 'पार्थिव' इन्द्रिय का नाम 'घ्राण' [नाक] है। इस प्रकार उस (घ्राणेन्द्रिय) का विषय गन्ध ही होता है।

'जलीय' [जल से बनी] इन्द्रिय को 'रसना' इन्द्रिय [अर्थात् जीभ] कहा जाता है। गन्ध आदि की व्यञ्जक न होकर केवल [मधुर आदि] रस की व्यञ्जक होती है, इसलिये 'रसना' इन्द्रिय का विषय 'रस' ही हुआ।

जो इन्द्रिय – दूसरे के स्पर्श आदि की व्यञ्जक न होते हुए दूसरे के रूप की व्यञ्जक होती है वह 'चक्षु' [नेत्र इन्द्रिय] 'तैजस' [तेज से बनी] होती है, अतः उसका विषय 'रूप' है।

'वायव' इन्द्रिय जिसको 'त्वक्' [चर्म] कहा जाता है—'सारे शरीर में व्यापक' होती है। उसको वायव इसलिये माना जाता है कि वह रूप आदि की व्यञ्जक नहीं हुआ करती अपितु केवल 'स्पर्श' की ग्राहक अथवा व्यञ्जक है, शरीर में लगे पानी—पसीने की व्यञ्जक पङ्खे की वायु [हवा] की तरह। अर्थात् शरीर में पसीने की ठंडक की व्यञ्जक चूँकि वायु होती है इसलिये जो कोई स्पर्श की ग्राहक वा व्यञ्जक होगी वह वस्तु वायव मानी जायगी। इस प्रकार 'त्वचा' स्पर्श की व्यञ्जक होने के कारण 'वायवी' [वायु से बनी] इन्द्रिय है।

'कर्ण-शष्कुली' अर्थात् 'कान-के अन्दर का भाग' और आकाश परस्पर भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं क्योंकि अवकाश ही को आकाश कहा जाता है, कान के अन्दर का अवकाश और बाहिर के आकाश के एक वस्तु होने के कारण

श्राकाश सम्बन्धी श्रोत्रेन्द्रिय श्राकाश स्वरूप है। यदि कोई यह कहे कि श्राकाश के एक होते हुए हरएक के श्रोत्र [कान] जबकि अलग अलग हैं तो वे अनेक श्रोत्र कैसे [एक] श्राकाश हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि–श्राकाश एक होता हुश्रा भी उपाधियों के भेद से अर्थात् कर्ण शष्कुली [कान के अन्दर के अवकाश] श्रादि के भेद के कारण अलग अलग तरह का मालूम देता हुश्रा कर्णशष्कुली [श्रोत्र] के स्वरूप का हो जाता है। पीछे यह दिखाया जा चुका है कि शब्द में समवायिकारण के रूप में श्राकाश को माना जाता है इसलिये जो भी [श्रोत्रेन्द्रिय] शब्द के प्रति प्रकाशक होगी उसे श्राकाश मानना पड़ेगा। ध्यान रहे कि श्राकाश के एक तथा सर्वत्र व्यापक होने के कारण उसके अवयव नहीं हो सकते जिनसे कि श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी जा सके इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय श्राकाश स्वरूप ही है ऐसा जानना चाहिये।

उपर्युक्त पाँचों बाह्येन्द्रियां जब अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं तो मन प्रत्येक इन्द्रिय का सहायक हुश्रा करता है मन की सहायता के बिना कोई बाह्येन्द्रिय अपने अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकती है इसलिये मन को सब विषयों की उपलब्धि के प्रति सामान्य रूप से साधन [कारण] माना जाता है।

मूल=श्रात्मा द्विविधः--जीवात्मा परमात्मा च। तत्र जीवात्मानः प्रतिशरीरं भिन्नाः, बन्धमोक्षयोग्याः। परमात्मा ईश्वरः।

अनुवाद='श्रात्मा' दो प्रकार का माना गया है-'जीवात्मा तथा परमात्मा'। ऐसे प्रकरण में–जीवात्माएं तो प्रत्येक शरीर में अलग अलग हैं, इस प्रकार [शरीरों श्रादि के कारण] बन्धन तथा मोक्ष की पात्र मानी जाती हैं। और परमात्मा [सर्वज्ञ] केवल ईश्वर है।

व्याख्या = प्रत्येक 'द्रव्य' अपने में रहने वाले 'गुण' का 'समवायिकारण' होता है। इसी नियम के अनुसार 'श्रात्मा' अपने में रहने वाले गुण–'ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न' [इन तीनों] का 'समवायिकारण अर्थात् अधिकरण' है *"ज्ञानाद्यधिकरणम् श्रात्मा"*। अथवा *"श्रात्मत्वजातिमान् श्रात्मा"* अर्थात् जो द्रव्य 'श्रात्मत्व' जाति वाला होगा वही 'श्रात्मा' होगा। क्योंकि श्रात्मत्व 'जाति' केवल

आत्मा में रह सकती है न कि अन्य किसी पृथिवी आदि में। इस प्रकार यह लक्षण भी आत्मा में घट जाता है। आत्मा—दो प्रकार का माना गया है, एक तो 'जीवात्मा' जिसको शास्त्र में 'क्षेत्रज्ञ' भी कहा जाता है, जैसे कि श्री गीता जी के त्रयोदश [तेरहवें] अध्याय के प्रथम श्लोक में इस 'क्षेत्रज्ञ' का उल्लेख—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः 'क्षेत्रज्ञ' इति तद्विदः॥"

हे अर्जुन [ध्यान देना चाहिये कि] यह शरीर [धारण किया जाने के कारण] 'क्षेत्र' इस शब्द से कहा जाता है [क्योंकि खेत में बोय बीज की तरह इस शरीर दशा में बोय अर्थात् किये कर्मों के संस्कार रूप बीजों के अनुरूप जो फल अर्थात् सुख दुःख आदि भोग हैं वे समय आने पर प्रकट हो आते हैं अर्थात् शरीर धारण कर लेने पर ही मिल सकते हैं इसलिये 'शरीर' को 'यह क्षेत्र ही है' क्षेत्र वाला नहीं, ऐसा कहा गया है]। इस क्षेत्र को जो जानता है [इसका जो द्रष्टा या साक्षी है] उसको 'क्षेत्रज्ञ' ['जीवात्मा' अर्थात् 'शरीर तथा इन्द्रियों से परे' इस 'शरीर रूप खेत का स्वामी'] ऐसा तद्विदः [उनके तत्त्व या मर्म को जानने वाले, ज्ञानीजन] प्राहुः [कहते हैं]।

कामना के चक्कर में आय जिस अपने से भिन्न को सहायता के लिये विषयी [संसारी] लोग 'ईश्वर' नाम से पुकारते हैं उसे प्रकरण में 'परमात्मा' कहा गया है। ईश्वर के बारे में '*पातञ्जल योगदर्शन*' के समाधिपाद [प्रथम अध्याय] का चौबीसवाँ सूत्र इस प्रकार है—

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"॥

'*क्लेश*' [कष्टदायक ये-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि] '*कर्म*' [पाप तथा पुण्य-कर्म अर्थात् पाप वा पुण्य के रूप में हो रहे 'कर्म का संस्कार'] '*विपाक*' [कर्म का परिणाम या फल-'सुख दुःख आदि'] तथा *आशय*' [विपाक के अनुरूप जो भी वासनाएं उठ सकती हों उन सब] से *अपरामृष्ट* [अछूते] '*पुरुष विशेष*' [अलौकिक व्यक्ति] की '*ईश्वर*' संज्ञा है।" इसके अनुसार जीवात्मा के शरीर धारण कर लेने पर तो उसमें बन्धन [मैं और मेरा अर्थात् अहंकार] तथा मोक्ष [भ्रान्ति दर्शन के अतिरिक्त स्थिति] आदि प्रकार

की वासनाओं का योग [सम्बन्ध] कल्पना किया जा सकता है अर्थात् बन्धन [शरीर भाव] के होने पर ही मोक्ष होना कहा जा सकता है [नहीं तो नहीं] क्योंकि कोई बन्धा हुआ न हो तो मोक्ष [छुटकारा] किस का ? इसलिये स्पष्ट है कि बन्ध यदि हो तो उसका आश्रय कोई जीव ही कल्पना किया जा सकता है और मोक्ष भी उसी का हो सकता है. परन्तु ध्यान रहे कि ईश्वर के विषय में ऐसे आरोप नहीं बन सकते क्योंकि ईश्वर के सर्वज्ञ अर्थात् सर्व प्रकार से सम्पूर्ण [शक्ति से सम्पन्न] होने के कारण वे बन्धन [अलीकता या लौकिकता] तथा मोक्ष [आरोपित अलौकिकता] दोनों उसके आधीन अर्थात् नियंत्रण में रहेंगे। इस प्रकार परमात्मा को यह 'बन्ध और मोक्ष' की छूत [बीमारी] नहीं छू सकती है। इसलिये इस रागरूपी महान् रोग या दोष [बन्ध तथा मोक्ष की इच्छा की कल्पना] का आश्रय 'जीव' [जीव भाव युक्त कोई उन्मत्त व्यक्ति] ही है 'ईश्वर' [अभ्रान्त पुरुष] नहीं।

मूल==अथ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्याणि-परमाणुद्व्यणुके अप्रत्यक्षे। महदुद्भूतरूपत्वं यत्र, तानि पृथिवीजलतेजांसि प्रत्यक्षाणि। आत्मा च प्रत्यक्षः। वाय्वाकाशकालदिङ्मनांसि तु अप्रत्यक्षाणि। बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वे सत्युद्भूतरूपत्वं प्रयोजकम्।

अनुवाद=अब जिनका प्रत्यक्ष किया जा सकता है अथवा जिनका कि प्रत्यक्ष [अनुभव] नहीं हो सकता है ऐसे द्रव्यों [पदार्थों] को बताया जाता है। परमाणु तथा द्व्यणुक [इन दोनों] का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। क्योंकि महत् परिमाण और उद्भूतरूप [प्रकट स्वरूप] जिन पृथिवी, जल तथा तेज का होता है केवल उन्हीं [महत्परिमाण और उद्भूतरूप वाले पदार्थों] का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। आत्मा का भी मानसप्रत्यक्ष होता है। वायु-आकाश काल-दिशा और मन [का महत्परिमाण और उद्भूतरूप न होने के कारण इन] का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः महत्परिमाण तथा उद्भूतरूप का प्रत्यक्ष के प्रति कारण होना केवल बाह्य द्रव्यों [स्थूल पदार्थों] तक निर्भर है।

व्याख्या=प्रत्यक्ष केवल उन वस्तुओं का सोचा जा सकता है जिनकी मात्रा या परिमाण को ग्रहण किया जा सके। इसीलिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष के प्रति

'महत् [अपकृष्ट] परिमाण' को कारण माना जाता है। अर्थात् जिन वस्तुओं का महत्परिमाण तथा उद्भूत रूप होगा उनका ही प्रत्यक्ष हो सकेगा अन्य का नहीं। परमाणु तथा द्वयणुक का महत्परिमाण तथा उद्भूतरूप नहीं होता [अपितु 'अणु-परिमाण' होता है]। इसलिये उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता [प्रत्युत अनुमान होता है]। इसी प्रकार अणुरूप 'मन' का परिमाण भी 'अणुपरिमाण' होने से, यह आया कि 'मन'-प्रत्यक्ष का विषय नहीं। 'आकाश काल-दिशा' जिनका महत्परिमाण नहीं होता अपितु 'परममहत्-परिमाण' [विभुपन] होता है इसलिये ऐसी सर्वत्र व्यापक वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अणुपरिमाण के किसी के प्रति कारण न हो सकने की प्रक्रिया को *न्याय मुक्तावली में दी गई कारिका १५ के भाष्य [सि० मु०]* द्वारा समझा जा सकता है, कारिका यह है –

"पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्।"

'पारिमाण्डल्य' अणु में रहने वाले परिमाण अर्थात् 'अणु-परिमाण' को कहते हैं, उसको छोड़कर 'कारण होना' अर्थात् कारणत्व (ऐसा धर्म, अन्यों ही में पाया जाता है। इसीबात को स्पष्ट रूपसे इसप्रकार समझना चाहिये कि-'परिमाण' दो तरह का है एक तो 'अणु-परिमाण' और दूसरा 'महत्परिमाण' यह जो अन्धेरे कमरे आदि के अन्दर रोशनदान आदि छिद्र में से आती हुई सूर्य की किरणों में अति सूक्ष्म धूलि के कण से दिखाई पड़ते हैं इनको न्याय की भाषा में 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' कहा जाता है। उसी त्र्यणुक तथा उससे आगे के कार्यों पदार्थों) का परिमाण 'महत् परिमाण' माना गया है अर्थात् सूक्ष्मतर त्र्यणुक से लेकर जितनेभी बड़े सेबड़े कार्य द्रव्यों (पदार्थों) को हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (प्रत्यक्ष, कर सकते हैं चाहे वे करोड़ों मील लम्बे चौड़े ही क्यों न हों उन सभी वस्तुओं (परिच्छिन्न द्रव्यों) का परिमाण 'महत्परिमाण' होता है। और त्र्यणुक के साठवें भाग (हिस्से) को अणु या परमाणु कहा जाता है। जिसमें न तो कुछ लम्बाई चौड़ाई होती है और न ही उसके कोई टुकड़े होते हैं। इसलिये अणु या परमाणु को विभाग या उत्पत्ति से रहित (नित्य) और अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) माना जाता है। इसप्रकार जिस किसी कम से कम अथवा अधिक से अधिक परिमाण के विषय में हम यदि सोच पाते हैं तो वह महत्परिमाण (अपकृष्ट परिमाण) होता है जोकि कारण

बन सकता है। परन्तु परमाणु जो कभी हम जैसे साधारण मानव के ज्ञान का विषय नहीं बन सकता ऐसे परमाणु का परिमाण 'अणु परिमाण' है। और वह अणुपरिमाण किसी कार्य का कारण नहीं होता। यदि 'अणु-परिमाण' को किसी का कारण मानने लगें तो उससे द्व्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति मानने की भी बात आ पड़ेगी जो वस्तुतः सम्भव ही नहीं। क्योंकि परिमाण के बारे में ऐसा एक नियम है कि-परिमाण हमेशा अपने समानजाति के (अर्थात् जैसा वह परिमाण है उसी तरह के (अपने जैसे) उत्कृष्ट (बढ़े हुए) परिमाण को उत्पन्न करता है। जैसा कि-तन्तु (कारण) के परिमाण से पैदा हुआ पट (कार्य) का परिमाण उसी (तन्तुपरिमाण) से बढ़ा हुआ और उसके जैसा होता है। इसी प्रकार यह आया कि —'अणु-परिमाण' से तो दूसरी तरह का परिमाण अर्थात् 'महत्-परिमाण' उत्पन्न नहीं होता, और न ही महत्परिमाण से दूसरी तरह का परिमाण अर्थात् अणुपरिमाण कदापि उत्पन्न होता है। इसलिये परिमाण की उत्पत्ति का ऐसा नियम अणुपरिमाण के कारण हो सकने में लागू नहीं होता है। क्योंकि इसी नियम के अनुसार जो परिमाण जैसा भी होगा उससे बढ़ा हुआ (आगे का) परिमाण भी वैसा होना चाहिये। अर्थात् यह आवश्यक (हो जाता) है कि उत्पादक [कारण] का परिमाण यदि 'महत्' हो तो उससे पैदा हुए (कार्य) का परिमाण उस जैसा उससे बढ़ा ही हुआ अर्थात् 'महत्तर' हो। इसी प्रकार उत्पादक का परिमाण यदि अणु होगा तो उससे उत्पन्न हुए कार्यका परिमाण (उसी तरहका बढ़ा हुआ अर्थात्) अणुत्तर ही हो सकता है जो सर्वथा द्व्यणुक के परिमाण का जनक (कारण) नहीं। क्योंकि द्व्यणुक दो अणुओं से बनता है (एक अणु या परमाणु के आरम्भक न हो सकने से)। इससे यह आया कि यदि द्व्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति अणु में रहने वाले 'अणु-परिमाण' से मान ली जाय तो द्व्यणुक के परिमाण को अणुतर मानना पड़ेगा (द्व्यणुक को अणु से भी और अणु अर्थात् अणुतर ऐसा मानना होगा) परन्तु ऐसी बात का हो सकना भी तो सम्भव नहीं। इसलिये द्व्यणुक के परिमाण को अणु के परिमाण अर्थात् 'अणुपरिमाण' से पैदा हुआ न मानकर केवल दो अणुओं में पाई जाने वाली 'द्वित्व संख्या' से पैदा हुआ माना जाता है। दो अणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से उत्पन्न द्व्यणुक का (यह) परिमाण न

तो 'अणुतर' और न ही 'महत्परिमाण' हो पाता है' अपितु 'अणुपरिमाण' ही [रहता] है। इसलिये न्याय में द्वयणुक के परिमाण को भी अणु के परिमाण सा अर्थात् अणुपरिमाण ही लिया गया है। द्वयणुक के बाद में जो त्र्यणुक या त्रसरेणु होता है वह तीन द्वयणुकोंसे बनता है। पर इतना याद रहे कि त्र्यणुक का परिमाण द्वयणुक के परिमाण जैसा अर्थात् अणुपरिमाण नहीं होता अपितु त्र्यणुक का परिमाण 'महत्परिमाण' ही होता है। इसीलिये द्वयणुक के (अणु) परिमाण से त्र्यणुक के (महत्) परिमाण की उत्पत्ति नहीं सोची जा सकती। क्योंकि द्वयणुक के परिमाण से त्र्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति स्वीकार कर लेने की दशा में फिर वही उपर्युक्त कि 'यह सम्भव ही नहीं' ऐसी बात आ जायगी। अर्थात् त्र्यणुक का परिमाण भी अपने कारण द्वयणुकके अणु परिमाण के जैसा बढ़ा हुआ अर्थात् 'अणुतर परिमाण' ही मानना पड़ जायगा। जो वस्तुतः होता ही नहीं (क्योंकि त्र्यणुक का परिमाण महत् होने से)। इसप्रकार यह आया कि-अणु तथा द्वयणुक का परिमाण (जो कि अणुपरिमाण है वह) किसी (त्र्यणुक आदि) कार्य द्रव्य (के महत्परिमाण) का कारण नहीं होता [प्रत्युत केवल महत्-परिमाण ही किसी ग्रहण होने योग्य वस्तु के प्रत्यक्ष में कारण हो सकता है उस) 'महत्परिमाण' की उत्पत्ति के दो ही रास्ते हैं। एक तो 'कारणमहत्त्व' (अर्थात् कारण में महत्परिमाण का होना) और दूसरा 'कारण बहुत्व' (कारण का बहुत संख्या में होना)। इसी को लेकर किसी-वस्तु (कार्य) में महत् परिमाण तभी पैदा हो सकता है जबकि उसी (वस्तु) के कारण में भी 'महत् परिमाण' हो या फिर उस वस्तु [कार्य] का कारण 'बहुत्व' संख्या से युक्त हो। इस रीति से त्र्यणुक में भी महत् परिमाण तभी आ सकेगा जबकि उसके कारण अर्थात् द्वयणुक में महत् परिमाण पाया जाता हो या फिर वह कारण अर्थात् द्वयणुक 'बहुत्व' संख्या में हो। स्पष्ट है कि द्वयणुक में महत्परिमाण न होने से त्र्यणुक के महत्परिमाण का कारण 'कारण-महत्त्व' तो सोचा ही नहीं जा सकता पर त्र्यणुक के महत् परिमाण का दूसरा कारण अर्थात् 'कारण-बहुत्व' बन जाता है। इसीलिये द्वयणुक के (अणु) परिमाण को महत्परिमाण के प्रति कारण न लेकर अब त्र्यणुक के महत्परिमाण के

उसी दूसरे कारण अर्थात् '*कारण-बहुत्व*' को लिया जाता है। इससे यह आया कि दो द्व्यणुकों में रहने वाली संख्या 'द्वित्व' [जिसे बहुत्व संख्या के अन्तर्गत नहीं लिया जाता उस] से त्र्यणुक का महत्परिमाण पैदा नहीं होता अपितु तीन द्व्यणुकों में रहने वाली संख्या 'त्रित्व' (जोकि बहुत्व संख्या के अन्तर्गत है उसी) से त्र्यणुक में महत्परिमाण पैदा होता है (त्रित्व तथा उससे आगे की सभी संख्याएं 'बहुत्व' कहलाती हैं) इस प्रकार बहुत्व संख्या (त्रित्व संख्या) से तो त्र्यणुक का महत्परिमाण पैदा होता है। और फिर त्र्यणुक के महत्परिमाण से पैदा हुई उत्तरोतर) वस्तु का त्र्यणुक के महत्परिमाण से बढ़ा ही हुआ अर्थात् 'महत्तरपरिमाण' पैदा होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि—महत् से महत्तर परिमाण की उत्पत्ति का ऐसा क्रम (महत्परिमाण वाले कारण से पैदा हुए कार्यमें) सभी जगह लागू हो जाता है जो हमारे प्रत्यक्षका विषय होता है।

'*महत्परिमाण*' दो तरहका होता है। एक-'महत्' और दूसरा 'परममहत्'। इनमें से महत्' परिमाण केवल कार्य परिच्छिन्न) द्रव्यों का होता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। रहा 'परममहत्परिमाण' वह-आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा [इन चार अपरिच्छिन्न अर्थात् सर्वत्रव्यापक द्रव्यों] में रहता है। ध्यान रहे कि जैसे अणु तथा द्व्यणुक के परिमाण [अणुपरिमाण] से कोई अगला परिमाण पैदा नहीं हो पाता वैसे ही 'आकाश-काल तथा दिशा' इन तीनों विभु द्रव्यों का विभु (परममहत्) परिमाण भी किसी कार्य के परिमाण का उत्पादक (कारण) नहीं सोचा जा सकता। क्योंकि आकाश आदि विभु द्रव्यों (पदार्थों) में रहने वाला 'परम-महत्-परिमाण' (जोकि सर्वत्र व्यापक परिमाण है सभी जगह विद्यमान ही है। इससे यह आया कि 'परममहत्परिमाण' के सर्वत्र होने से उससे कोई दूसरा उत्कृष्ट (बढ़ा हुआ) परिमाण अनुभव (कल्पना) में नहीं लाया जा सकता। अर्थात् अपनी तरह के बढ़े हुए परिमाण का उत्पादक वह 'परम महत् परिमाण' हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। स्पष्ट हुआ कि 'परम महत्परिमाण' (तथा अणु परिमाण) किसी व्यवहार-कार्य के प्रति कारण नहीं। इसीलिए 'आकाश-काल तथा दिशा' का महत् (परिच्छिन्न)

परिमाण न होने की दृष्टिसे उनका प्रत्यक्ष भी नहीं होता अपितु केवल अनुमाव के द्वारा स्वीकार किये जाते हैं।

यहाँ पर इतना और जान लेना भी आवश्यक है कि—न्याय की दृष्टि से 'परम महत् परिमाण' को सर्वथा [सभी जगह] अकारण का रूप नहीं दिया जा सकता है क्योंकि आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से उसका परिमाण भी परम महत् [विभु] परिमाण कहा जायगा [और किसी वस्तु के प्रत्यक्ष करने में केवल उसी वस्तु का परिमाण ही कारण होता है] इस रीति से यदि परममहत परिमाण को सर्वशः अकारण कह दिया जाय तो स्पष्ट है कि मानसप्रत्यक्ष में आत्मा के परम महत् परिमाण को भी अकारण ही कहना होगा [अर्थात् आत्मा का मन के द्वारा प्रत्यक्ष ही न बन सकेगा] परन्तु न्याय में आत्मा का प्रत्यक्ष होना अभीष्ट है इसी दृष्टि से आत्मा के परम महत् परिमाण को छोड़ कर बाकी बच रहे [आकाश आदि] का परममहत् परिमाण प्रत्यक्ष में कारण नहीं होता, न्याय में ऐसा ही सिद्धान्त लिया गया है। ध्यान रहे कि 'मन' अणु है इसलिये उसका 'अणु परिमाण' होने से मन का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। कई एक लोग वायु के स्पर्श होने की दृष्टि से उसे प्रत्यक्ष मानते हैं। पर न्याय में किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिये महत्परिमाण तथा उद्भूतरूप [प्रकट हुए रूप] का होना आवश्यक है। वायु में ये दोनों बातें नहीं पायी जातीं इस से यह आया कि वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार निष्कर्ष यही निकला कि [व्यावहारिक] पृथिवी जल तथा तेज [जिनका महत् परिमाण और उद्भूतरूप होता है केवल वही] बाह्य प्रत्यक्ष में कारण होते हैं [अन्य नहीं]।

यहां ऐसा प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि 'अणुपरिमाण' अथवा 'परम महत्-परिमाण' आदि का किसी साधारण मानव को प्रत्यक्ष न हो सकता सही पर योगी लोगों को तो सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता ही होगा क्योंकि वे लोग त्रिकालज्ञ होते हैं इसलिये उनसे किसी समय कोई भी चीज छुपी नहीं रह सकती इस प्रकार आकाश, वायु आदि का भी योगी के प्रत्यक्ष में कारण हो सकना सम्भव होने से वे प्रत्यक्ष [के बारे] में सर्वथा अकारण कैसे रहे ? इसका उत्तर यह है कि योगी के प्रत्यक्ष में विषय कारण नहीं हुआ करता

"*योगि प्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्*" [यह आगे स्पष्ट होगा]। 'कारण' क्या है और कितने प्रकार का है ? अब इसी को स्पष्ट करते हैं—

मूल=अथ द्रव्योत्पत्तिप्रक्रिया-तत्रोत्पत्तिःकारणवतः, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ति कारणम्, तत्त्वं कारणत्त्वम्। त्रिविधानि कारणानि-समवायिकारणासमवायिकारणनिमित्तकारणानि। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्, यथा-परमाणुः द्व्यणुकस्य, कपालं घटस्य।

अनुवाद=अनन्तर द्रव्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया [जिस प्रकार से द्रव्य उत्पन्न होता है उसे] विशद करेंगे। उत्पत्ति केवल उसी की होती है जिसका कारण होता है। [कारण कहते किसे हैं ? यही बताते हैं] जो अन्यथासिद्ध न हो और [कार्य से] नियमतः पहले रहता हो केवल उसी को कारण कहते हैं [अन्य को नहीं], इसी प्रकार 'वैसा होना' [अर्थात् कार्य के प्रति पूर्वभावी होने पर अन्यथासिद्ध न होना ही] कारणता [कारण की परिभाषा] है। कारण तीन प्रकार के होते हैं (१) समवायिकारण (२) असमवायिकारण, और (३) निमित्तकारण। जिसमें समवेत होता हुआ [समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ] कार्य उत्पन्न हो उसे 'समवायिकारण' कहा जाता है। जैसे कि-'परमाणु-द्व्यणुक का' और 'कपाल-घट का' [समवायिकारण हैं]।

व्याख्या=द्रव्य के उत्पन्न होने का ढंग अर्थात् प्रकार [जैसे वह उत्पन्न होता है उसी को] तो अभी बताया ही जायगा। यहाँ 'कारणत्व' [कारण होने] को बताते समय उसका लक्षण यह किया गया है कि-'*अन्यथासिद्ध न होने पर जो नियत पूर्ववर्ती हो*'। इस रीति से कारण का स्वरूप यही निश्चित हुआ कि-अन्यथासिद्ध न होते हुए, किसी वस्तु का नियम् से अर्थात् अनिवार्य रूप से, पूर्ववर्त्ती या पूर्वभावी होना, ही 'कारणता' [कारण होना] है। क्योंकि 'जन्मदाता' [कारण] का अस्तित्व यदि उत्पन्न होने वाले [कार्य] से पहले न हो तो वह अपने से किसी को उत्पन्न ही कैसे कर सकेगा ? इसीलिये यह अवश्यंभावी है कि 'उत्पादक' [उत्पन्न करने या बनाने वाला] पहले विद्यमान हो और 'कार्य'

[उत्पन्न होने या बनने वाला] उसके बाद में हो। पर यह ध्यान रहे कि कारण का स्वरूप निर्धारित करते हुए उस [कारण] के लक्षण में 'पूर्ववर्ती' होने के साथ साथ 'नियत' शब्द' भी जोड़ दिया गया है जिसको कारण के लक्षण में रखने का मुख्य उद्देश्य विशेष रूप से इसी बात को विशद कर देना है कि— 'कारणता' [कारण का स्वरूप] केवल 'पूर्ववर्तिता' [पूर्ववर्त्ती होने] तक सीमित या निर्भर नहीं है। क्योंकि पूर्ववर्तिता जहाँ 'कारण' में अवश्य रहती है वहाँ 'अकारण' में भी वह पाई जा सकती है। उदाहरणार्थ कुम्हार जिस मिट्टी से घड़ा बनायगा वही मिट्टी यदि गधे पर लाद कर लाई गई हो तो गधा भी घड़े के प्रति पूर्ववर्त्ती होगा, ध्यान देना चाहिये कि पूर्ववर्त्ती होने की दशा में भी गधे को घड़े का कारण स्वीकार नहीं किया जाता, वह इसलिये कि गधा घट के प्रति एक अनिवार्य [जिसका निराकरण न हो सके ऐसा] कारण नहीं होता क्योंकि जिस मिट्टी से घड़ा बनेगा वही मिट्टी गधे की बजाय कोई अन्य भी तो ला सकता ही है। इस प्रकार यह आया कि गधे के पूर्ववर्त्ती होने पर भी उसके नियतपूर्ववर्त्ती [अनिवार्य पूर्वभावी] न होने की दृष्टि से वह घट का कारण नहीं माना गया। इसीलिये कारण के लक्षण में 'पूर्ववर्ती' [होने] के साथ '*नियत*' पद का जोड़ देना भी प्रयोजनीय हुआ।

इसकेबाद कारण के बारे में यह जान लेना भी आवश्यक है कि-जिसप्रकार कारण के लक्षण में पूर्ववर्ती के साथ जुड़ा हुआ 'नियत' शब्द है और वह प्रयोजनीय है ठीक उसीप्रकार कारणके लक्षणमें डाला गया 'अनन्यथासिद्ध' शब्द भी विशेष महत्त्व को सूचित करता है। अर्थात् कारण को सिद्ध करते समय हमारे सामने कई एक ऐसी चीजें भी बीच में आ पड़ती हैं जो कार्य की 'नियतपूर्ववर्ती' तो होती हैं किन्तु फिर भी वे वस्तुतः कार्य के प्रति कारण नहीं होतीं प्रत्युत अनावश्यक [जिनकी कार्य के निर्माण में आवश्यकता न पड़े ऐसी] होती हैं। जैसे [कुम्हार का] 'दण्ड' घट के प्रति [एक आवश्यक] कारण है तथा वह नियतपूर्ववर्ती है। पर यह भी निश्चित है कि जहाँ दण्ड होगा वहाँ [उसमें रहने वाला धर्म] 'दण्डत्व' भी उसके साथ ही रहगा क्योंकि [दण्ड और दण्डत्व का परस्पर नित्य सम्बन्ध होने से] 'दण्ड' बिना 'दण्डत्व' के अकेला नहीं

रह सकता। इस प्रकार यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जैसे 'दण्ड' घट का नियतपूर्ववर्ती है वैसे ही 'दण्डत्व' भी घट का नियतपूर्ववर्ती हुआ, परन्तु ध्यान रहे कि—'दण्डत्व' के नियतपूर्ववर्ती होते हुए भी उसे घट का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह [अनावश्यक होने की दृष्टि से] 'अन्यथासिद्ध' ही है। अर्थात् दण्डत्व घट का साक्षात् नियतपूर्ववर्ती नहीं है क्योंकि दण्डत्व का नियतपूर्ववर्ती होना दण्ड के तियतपूर्ववर्ती होने के कारण से है। इसीलिये कारण के लक्षण में 'नियतपूर्ववर्ती' के साथ 'अनन्यथासिद्ध' शब्द डालना भी आवश्यक था क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि-कार्य के प्रति जो कोई अन्यथासिद्ध होगा, यदि तो वह नियतपूर्ववर्त्ती भी क्यों न हो, कारण नहीं हो सकेगा, प्रत्युत अकारण ही रहेगा। कारण के विषय में कौन से पदार्थ 'अन्यथासिद्ध' होते हैं [और वे क्यों अन्यथासिद्ध माने जाते हैं] इसी बात को जान लेने पर ही 'कारण' का स्वरूप समझ में आ सकेगा, इसीलिये [जिनके अन्तर्गत सब अन्यथासिद्ध आ जाते हैं ऐसे] श्री विश्वनाथ जी के द्वारा 'न्याय-मुक्तावली' में प्रतिपादित पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्ध' दिखाय जाते हैं—

येन सह पूर्वभावः, कारणमादाय वा यस्य ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥१९॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते ।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनाः ॥२०॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥२१॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम, कुलालजनको ऽपरः ।
पञ्चमो रासभादिःस्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥२२॥

(१) *"येन सह पूर्वभावो"* जिस रूप के सहित [जिस धर्म के योग से] कारण का [अपने] कार्य के प्रति पूर्वभाव [पूर्ववर्तित्व] ग्रहण होता है। कारण का वही रूप [धर्म] उसके कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' होता है। अर्थात् जिस

कार्य के प्रति उसके कारण का पूर्ववर्ती होना जिस रूप से जाना जायगा, उस कार्य के प्रति [कारण का] वह रूप 'अन्यथासिद्ध' होगा। जैसे कि-'घट' कार्य के बारे में 'दण्डत्व' ['एक' प्रकार का] 'अन्यथासिद्ध' है। क्योंकि 'दण्ड' घट का पूर्ववर्ती [कारण] है, उस दण्ड को 'दण्डत्व' से जाना जाता है। इस प्रकार 'घट' [कार्य] का पूर्ववर्ती [कारण] जो 'दण्ड' है उसकी पूर्ववृत्तिता [कारणता] 'दण्डत्व' से गृहीत हुई। इससे यह आया कि घट के प्रति कारण अर्थात् दण्ड' का ग्रहण 'दण्डत्व' रूप से ही होता है इसलिये वह 'रूप' [जिससे कारण को जाना गया है] अर्थात् 'दण्डत्व' घट के प्रति 'अन्यथासिद्ध' रहा। यह प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

(२) "*कारणमादाय वा यस्य*" कारण के ग्रहणपूर्वक [कारण को लेकर] जिसका ग्रहण [जिसको लिया जाता] हो, वह अन्यथासिद्ध होता है। अर्थात् जिस किसी का साक्षात् रूप से कार्य के प्रति 'अन्वयव्यतिरेक' न हो, प्रत्युत अपने कारण [जिसमें वह रहता है उस] के 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा हो, तो वह अन्यथासिद्ध' ही होगा। जैसे-दण्डरूप [दण्ड का लाल आदि 'रूप'] घटके प्रति अन्यथासिद्ध है। *प्रसङ्गवश प्राप्त 'अन्वय-व्यतिरेक' का भाव यह है [कि]* 'यह है तो वह भी है' इस रीति से-एक के होने पर दूसरे का होना '*अन्वय*' कहलाता है। 'यह नहीं तो वह भी नहीं' इस प्रकार-एक के न होने पर दूसरे का न होना '*व्यतिरेक*' कहा जाता है। कारण और कार्य का अन्वयव्यतिरेक हुआ करता है जैसे कि 'कारण होगा तो कार्य होगा' यह '*अन्वय*' है और 'कारण नहीं तो कार्य भी नहीं' यह '*व्यतिरेक*' है। इस प्रकार स्पष्ट है कि-कारण अर्थात् 'दण्ड' का अपने कार्य अर्थात् 'घट' के प्रति [नियतपूर्ववृत्ति रूप] 'अन्वय-व्यतिरेक' है। दण्ड में [कोई न कोई] रूप भी रहता है इससे यह आया कि जहाँ 'दण्ड' का घट के प्रति अन्वयव्यतिरेक है वहां उस [दण्ड] में रहने वाले रूप अर्थात् 'दण्डरूप' का भी घट के साथ अन्वयव्यतिरेक हुआ। परन्तु फिर भी 'दण्डरूप' को घट का कारण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'दण्ड' तो घट का एक साक्षात् कारण है, इसलिये उसका अपने कार्य अर्थात् घट के प्रति अन्वयव्यतिरेक भी साक्षात् रूप से प्रसिद्ध है। पर 'दण्डरूप' जो कि एक स्वतन्त्र चीज़ ही नहीं, तो स्पष्ट

है कि उसका घट के प्रति अन्वयव्यतिरेक भी स्वतन्त्ररूप से [साक्षात्‌रूप से] गृहीत नहीं हो सकता, अपितु घट के कारण अर्थात्‌ 'दण्ड' के 'अन्वयव्यतिरेक' को लेकर ग्रहण होता है। इसीलिये 'दण्डरूप' को घट का कारण न मान कर 'अन्यथासिद्ध' ही माना गया है। यह अन्यथासिद्ध का दूसरा प्रकार हुआ।

(३) *'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्।'* किसी दूसरे के प्रति पूर्वभाव [पूर्ववर्ती रूप कारण होने] का ज्ञान हो लेने पर जिसका [प्रकरण में आये कार्य के प्रति] पूर्वभाव [पूर्ववर्तीरूप कारण होना] जाना जाय तो वह [तीसरे प्रकार का] अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे कि-घट के प्रति 'आकाश' को *तृतीय* 'अन्यथासिद्ध' माना गया है। ध्यान देना चाहिये कि 'आकाश को यदि हम घट का कारण' स्वीकार करें तो उसे केवल 'आकाशत्व' रूप में [आकाश होने के नाते] ही कारण कहा जा सकेगा क्योंकि किसी अन्य [अर्थात् द्रव्य आदि पदार्थ के] रूप में तो वह [घट का] कारण लिया ही नहीं जा सकता। और 'आकाशत्व' [आकाश होने] का अर्थ है 'शब्द का समवायिकारण होना'। अर्थात्‌ 'आकाश' प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु उसका शब्द के समवायिकारण के रूप में अनुमान किया जाता है। इस प्रकार आकाश का कारण होना सर्व प्रथम शब्द के प्रति ज्ञात हुआ। जिससे यह आया कि—आकाश को घट आदि के प्रति कारण उस समय तक हम कह ही नहीं सकते जब तक कि शब्द के समवायिकारण होने के रूप में आकाश को हम अनुमानित [निर्धारित] न कर लें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'आकाश' का 'अन्य' अर्थात्‌ 'शब्द' के प्रति पूर्वभाव [कारणता] का ज्ञान हो लेने पर ही उस [आकाश] का घट आदि के प्रति कारण होने का ज्ञान [ग्रहण] होता है। इसीलिये घट के प्रति 'आकाश' अन्यथासिद्ध ही हुआ।

(४) *'जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।'* कारण के प्रति पूर्ववृत्तिता [कारण होना] न जान कर जिस [के कारण होने] का ग्रहण न हो [अर्थात्‌ "कारण के प्रति कारण होना जान कर ही जिसके कारण होने का ग्रहण हो" यह चतुर्थ अन्यथासिद्ध का लक्षण है]। इससे यह आया कि-जिस कार्य के कारण के प्रति [जिसका] कारण होना जान कर यदि कार्य के प्रति

[उसका] कारण होना जाना जाय, तो वह वस्तुतः उस कार्य के प्रति [कारण नहीं होता प्रत्युत] 'अन्यथासिद्ध' ही रहता है। जैसे कि–कुम्हार का पिता घट के प्रति [अन्यथासिद्ध है]। क्योंकि कुम्हार के पिता का 'घट' कार्य के कारण अर्थात् 'कुम्हार' के प्रति कारण होना जान कर ही घट के प्रति कारण होना जाना जाता है। इसीलिये कुम्हार का 'पिता' [घट-कार्य के कारण'का कारण] 'चतुर्थ' अन्यथासिद्ध हुआ। इस प्रकार सिद्धान्त यह बना कि किसी-कार्य के 'कारण' का जो 'कारण' होगा वह कार्य के प्रति 'अन्यथासिद्ध' रहेगा। क्योंकि कार्य के कारण के कारण को भी यदि उस कार्य का कारण मानने लग पड़ें तो कारण का स्वरूप अवस्थित करने में कठिनता आ पड़ेगी अर्थात् कारणकल्पना में गौरव रहेगा। इसीलिये उचित यही है कि-किसी कार्य के कारण के कारण को उस कार्य का कारण स्वीकार न करके उसे 'अन्यथासिद्ध' ही रहने दिया जाय, इस प्रकार कारणकल्पना में लाघव भी है।

(५) '*अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः।*' नियत [नियमतः अर्थात् निश्चित् रूप से], आवश्यक [जिसे अवश्य होना ही चाहिये ऐसे], पूर्वभावी [कारण] के अतिरिक्त, अन्य जो भी कुछ है [वह सब 'पञ्चम' अन्यथासिद्ध है]। इससे यह आया कि—ऐसा 'नियतपूर्ववर्ती' [कारण] जिसे अवश्य मानना पड़ता हो, उसी से जबकि कार्य बन जाय तो, उसके अतिरिक्त और सब के सब अन्यथासिद्ध होते हैं। जैसे कि-प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' या 'महत्परिमाण' तो कारण, और उससे 'अन्य' अर्थात् 'अनेकद्रव्यवत्त्व' [बहुत से अवयव द्रव्यों से युक्त होना] 'अन्यथासिद्ध' माना गया है। क्योंकि '*कारिका*' में आया हुआ 'आवश्यक' शब्द यहां इसी बात का नियामक [समर्थक] है कि-कार्य के प्रति अनिवार्य नियतपूर्ववर्ती से शेष, किसी और दूसरे पदार्थ को [चाहे वह भी नियत पूर्ववर्ती ही क्यों न हो] कारण की गणना में नहीं लिया जायगा, अर्थात् वह सभी कुछ अन्यथासिद्ध रहेगा। ध्यान रहे कि प्रत्यक्ष केवल उसी वस्तु का होता है जिसका महत्परिमाण हो। इसी के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि-प्रत्यक्ष के प्रति निश्चित् कर लिया गया 'कारण' जो 'महत्परिमाण' है' उसी से ही जब काम निकल आता [काम चल सकता] है तो उस से अन्य,

और कोई फ़ालतू चीज़ [आवश्यकता से अधिक वस्तु] जैसे कि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' आदि हैं उनको प्रत्यक्ष में कारण नहीं लिया जाता, इस प्रकार वे सब अन्यथासिद्ध ही रहते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष में यद्यपि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' या अनेकद्रव्यत्व [बहुत से अवयवों से बना होना] ऐसा धर्म भी कारण होता ही है। परन्तु शास्त्र में प्रत्यक्षके प्रति 'महत्परिमाण' को 'अनेकद्रव्यवत्त्व' कीअपेक्षा श्रेष्ठ [सर्वउत्कृष्ट] कारण निश्चित् किया गया है। इसीलिये प्रत्यक्ष के प्रति 'महत्परिमाण' जितना प्रसिद्ध कारण है उसके मुक़ाबले में 'अनेकद्रव्यवत्त्व' उतना प्रसिद्ध कारण न होने से 'अन्यथासिद्ध' ही है, ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार यहां दिखाए गए पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धों में से-'दण्डत्वादिक' धर्म घटादि कार्य के प्रति '*प्रथम*' प्रकार का अन्यथासिद्ध है। 'दण्डरूप' [दण्ड का रूप] '*द्वितीय*'। आकाश '*तृतीय*'-कुम्हार का पिता '*चतुर्थ*' और गधा अर्थात् रासभ '*पञ्चम*' अन्यथासिद्ध है। इन सब में यह 'पांचवां' अन्यथासिद्ध अत्यन्त 'आवश्यक' है। पूर्वोक्त सि० मु० कारिका संख्या २१ की द्वितीय पंक्ति के प्रथम शब्द '*घटादौ*' का अर्थ है '*घट आदि के बारे में*' इस प्रकार इसका अन्वय पांचों से हुआ। इसलिये यह आया कि "दण्डत्व आदि से लेकर रासभ आदि" तक के ये पांचों घट आदि कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं। अब पांचवें अन्यथासिद्ध को 'रासभादि' अंश की टीका से दिखाया जाता है—

सि० मु०=रासभादिरिति। यद्यपि यत् किञ्चिद् घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः। एतेष्विति। एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात्। तथाहिः—दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्। न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ॥२१-२२॥

अर्थ =‘रासभादि’ अंश को बताते हैं। किसी एक घट व्यक्ति के प्रति यद्यपि गधा भी नियतपूर्ववर्ती होता है, तो भी समस्त ‘घटत्व’ जाति वाले घट व्यक्तियों के प्रति प्रसिद्ध कारण दण्ड आदि से ही यदि उस [रासभ पूर्ववर्ति कारणता वाले विशेष-किसी एक] घट व्यक्ति का बन जाना भी सम्भव हो तो [उन दण्ड आदि प्रसिद्ध कारणों के सिवाय] ‘गधा’ आदि अन्यथासिद्ध रहेगा, यह अर्थ हुआ। इसके बाद ‘*कारिका*’ [२२ के अन्त] में आए दूसरे अंश—

‘*एतेष्वावश्यकस्त्वसौ*’ की टीका की जाती है। इन [पूर्वोक्त] पांचों अन्यथासिद्धों के बीच में ‘*पञ्चम*’ अन्यथासिद्ध आवश्यक [अवश्य जानने योग्य] है, क्योंकि इसी के अन्तर्गत बाकी के अन्यथासिद्ध आ जाते हैं। जैसे कि [प्रत्येक घट के प्रति] दण्ड आदि ही ऐसे नियत पूर्ववर्ती [कारण] हैं कि जिनको अवश्य लेना पड़ता है, उनसे कार्य [घट] बन सकता है, इसीलिये ‘दण्डत्व’ आदि [अनावश्यक होने से] अन्यथासिद्ध ही हैं। पर यदि कोई यहां कहे कि-इसके उलट [अर्थात् ‘दण्डत्व’ को तो घट का कारण और ‘दण्ड’ को अन्यथासिद्ध] मान लें तो ‘*विनिगमक*’ [प्रकरण में आए हुए दो पक्षों में से ‘किसी एक’ अर्थात् ‘सिद्धन्त पक्ष’ की साधक युक्ति] क्या होगी? [इसका उत्तर यहां यह दिया गया है कि] ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘दण्डत्व’ का कारण होना [साक्षात् रूप से नहीं अपितु] ‘दण्ड’ ही के द्वारा लिया जा सकने से [एक ज़रूरत से अधिक] परम्परा सम्बन्ध असाक्षात् सम्बन्ध] की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे गौरव ही रहेगा [इसीलिये ‘दण्डत्व’ को कारण नहीं माना जाता]। इसी प्रकार और भी [जितने अन्यथासिद्ध हैं वे सब] इसी [पांचवें] के अन्दर आ जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये। ॥२१—२२॥

भाव=पांचवें अन्यथासिद्ध का निष्कृष्ट अर्थ यह है कि-जितने तक का लेना अवश्यंभावी हो, अर्थात् जिस किसी को स्वीकार किये बिना निर्वाह न हो सके, ऐसे *अवश्यक्लृप्त* [अवश्य माने गये] नियतपूर्ववर्ती से काम निकल आने पर [आवश्यकता के पूर्ण हो जाने से] उस से अन्य, और यदि कोई होगा तो वह सभी कुछ ‘अन्यथासिद्ध’ माना जायगा। जैसे कि—घट बनाने के लिये ‘दण्ड’ आवश्यक रूप से ले लिया गया एक कारण अर्थात् नियतपूर्ववर्ती है, इसीलिये

उससे अन्य अर्थात् 'दण्डत्व' [की आवश्यकता न रहने से वह] अन्यथासिद्ध ही है। इसी तरह *प्रथम* अन्यथासिद्ध पांचवें के अन्दर आ गया ऐसे ही *तृतीय* तथा *चतुर्थ* अन्यथासिद्ध के बारे में भी जान लेना चाहिये। यहां यह प्रश्न हुआ है कि इससे विपरीत अर्थात् 'दण्ड' को अन्यथासिद्ध और 'दण्डत्व' को घट का कारण मान लेने की दशा में, इन दोनों में से कौनसा पक्ष ठीक ठहरेगा? इसका उत्तर यह है कि 'दण्डत्व' एक धर्म होने से स्वतन्त्र नहीं रह सकता इस प्रकार वह अपने धर्मी अर्थात् 'दण्ड' के आश्रित रह कर ही घट का कारण बन सकेगा। क्योंकि घट के प्रति 'दण्ड' की कारणता '*स्वजन्य भ्रमीवत्ता*' सम्बन्ध से ग्रहण की जाती है—'स्व' अर्थात् 'दण्ड' उसी से उत्पन्न हुए भ्रमण [चक्कर] द्वारा कारण देखा जाता है, इससे यह आया कि 'घट' उन चक्करों से बनता है। इसलिये वह 'दण्डत्व' जो अपने आश्रय अर्थात् 'दण्ड' में रहता है '*स्वाश्रयजन्य भ्रमीवत्ता*' सम्बन्ध से ही घट का कारण बनेगा। इस प्रकार 'स्व' का अर्थ यहां आया 'दण्डत्व' उसका आश्रय हुआ 'दण्ड' उससे उत्पन्न हुए भ्रमण द्वारा कारण लिया जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'दण्डत्व' का कार्य अर्थात् घट के साथ साक्षात् सम्बन्ध तो होता ही नहीं, इस परिस्थिति में 'दण्डत्व' को घट का कारण मानने के लिये असाक्षात्रूप [एक अनावश्यक परम्परा] सम्बन्ध की कल्पना बढ़ानी पड़ेगी इससे यह भी स्पष्ट है कि 'गौरव' [कल्पना का आधिक्य] ही रहेगा। इसीलिये 'दण्डत्व' की अपेक्षा 'दण्ड' को ही कारण मानना ठीक है, क्योंकि कल्पना का लाघव इसी में होता है। इस प्रकार से पांचों अन्यथासिद्धियों का वर्णन हो चुकने पर 'कारण का निष्कृष्ट सामान्य लक्षण' यह हुआ कि—अन्यथासिद्ध न होने पर ही जो नियत पूर्ववर्ति हो वही कारण है "*अनन्यथासिद्धत्वे सति नियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्*" इस लक्षण के अनुसार पञ्चम अन्यथासिद्ध में उदाहरणार्थ रखा गया 'रासभ' [जिसके बारे में पीछे स्पष्ट हो चुका है, कि वह] नियत आवश्यक [जिसे अवश्य मानना पड़े अर्थात् जिसको लिये बिना काम न चल सके ऐसा] पूर्ववर्ती [कारण] नहीं होता। इसी दृष्टि से, उसकी गणना कारण के इस उपर्युक्त सामान्य लक्षण में भी नहीं हो सकती इसीलिये घट के प्रति 'गधा' अन्यथासिद्ध ही है

अर्थात् कारण नहीं है। इसके बाद मूल में यह बताया गया है कि-'कारण' तीन प्रकार के होते हैं (१) समवायिकारण (२) असमवायिकारण (३) निमित्तकारण। अब क्रमशः इनको स्पष्ट करते हैं—

(१) *"यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् [कारणम्] समवायिकारणम्"* अर्थात् जिसमें समवेत होता हुआ 'कार्य' उत्पन्न हो वही [कारण] 'समवायिकारण' है।

व्याख्या—जो जिसके बिना न पाया जाए उन दोनों का सम्बन्ध नित्य होता है। नित्य सम्बन्ध का ही दूसरा नाम समवाय है *"समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्"*। ऐसा कारण जिसमें 'कार्य' समवेत होता हुआ अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ उत्पन्न हो उसे 'समवायिकारण' माना गया है। उदाहरणार्थ 'द्वयणुक' के प्रति 'परमाणु' और 'घट' के प्रति 'कपाल' समवायिकारण होते हैं। क्योंकि 'द्वयणुक और परमाणु' तथा 'कपाल और घट' का समवाय सम्बन्ध होता है। अर्थात् 'कपाल' और 'घट' दोनों एक अलग-अलग वस्तु होने पर भी घट कपाल के बिना नहीं पाया जाता प्रत्युत कपाल में ही [मिला] रहता है इसी तरह द्वयणुक भी परमाणुओं में रहता है। इसलिये 'परमाणुओं में द्वयणुक' वा 'कपाल में घट' के रहने का सम्बन्ध 'समवाय' होने के कारण-'कपाल' तथा 'परमाणु' [ये दोनों] तो 'समवायी' हैं और 'घट' तथा 'द्वयणुक' क्रमशः उनमें 'समवेत' हैं अर्थात् घट-'कपालों में' और द्वयणुक-'परमाणुओं में' समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस प्रकार घट की उत्पत्ति कपालों में रहते हुए ही हो सकती है इसीलिये 'घट' कपाल में समवेत होता हुआ अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ उत्पन्न होने की दृष्टि से 'कपाल' घट का 'समवायिकारण' होता है। इस प्रकार यह आया कि-'कार्य' जिसमें 'समवाय सम्बन्ध से रहता हो' वह 'समवायिकारण' है। इसके बाद दूसरे अर्थात् 'असमवायिकारण' को बताते हैं—

मूल—समवायिकारणे सम्बद्धं कारणम् असमवायिकारणं, यथा—'परमाणुद्वयसंयोगो द्व्यणुकस्य, कपालरूपं घटरूपस्य'। एतदुभयभिन्नं यत्कारणं तन्निमित्तकारणम्, यथा—'द्व्यणुके ईश्वरः, घटे दण्डः। एतत्कारणत्रयं भावकार्यमात्रस्य।

अनुवाद=समवायिकारण में मिल कर रहता हुआ कारण [कार्य के प्रति द्वितीय कारण अर्थात्] 'असमवायिकारण' कहलाता है। जैसे कि-'दो परमाणुओं का संयोग' द्वयणुक का 'असमवायिकारण' है, अथवा 'कपाल का रूप'—'घट के रूप' का असमवायिकारण होता है। इन दोनों [समवायिकारण और असमवायिकारण] से तो अलग हो और [फिर भी] जो कारण हो, वह 'निमित्तकारण' ही होता है [इसी को साधारण कारण भी कहते हैं]। जैसे—द्वयणुक के प्रति 'ईश्वर' अथवा घट के प्रति 'दण्ड' [निमित्तकारण] हैं। ये तीनों [समवायि, असमवायि तथा निमित्त] कारण केवल प्रत्येक भाव कार्य [उत्पत्ति-वृद्धि तथा विनाश इन तीन प्रकार के विकारों से युक्त पदार्थों] के होते हैं।

व्याख्या=*कार्य के उत्पादन में*-जो समवायिकरण में रहता हुआ कार्य का कारण हो वह 'असमवायिकारण' होता है। जैसे कि—द्वयणुक का [समवायिकारण 'परमाणु' है और] असमवायिकारण-'दो परमाणुओं का संयोग' है क्योंकि दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होने पर ही द्वयणुक बनता है। ध्यान रहे कि-दो परमाणुओं का संयोग 'गुण' है [गुण हमेशा गुणी में मिला हुआ रहता है, स्वतन्त्र नहीं] इसीलिये वह संयोग अपने गुणी द्रव्य' अर्थात् परमाणुद्वय में हमेशा मिला हुआ या समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार 'परमाणुद्वय संयोग' के 'परमाणुद्वय' में मिलकर रहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि-द्वयणुक का असमवायिकारण 'दो परमाणुओं का संयोग' गुण द्वयणुक के समवायिकारण अर्थात् 'परमाणुद्वय' द्रव्य में रहता हुआ कार्य अर्थात् 'द्वयणुक' का कारण होता है। इससे-"*जो समवायिकारण में मिल कर रहता हुआ कार्य का कारण हो*" यह असमवायिकारण का लक्षण द्वयणुक के असमवायिकारण 'दो परमाणुों के संयोग' में घट जाता है।

इसके बाद सूत्र में असमवायिकारण का दूसरा उदाहरण यह दिया गया है कि-घटरूप का असमवायिकारण 'कपालरूप' है पर यह भी ध्यान रहे कि '*कार्य के-समवायिकारण में रहता हुआ जो उस कार्य का कारण हो*' यह असमवायिकारण का लक्षण 'कपालरूप' में लागू नहीं हो सकता है। क्योंकि असमवायिकारण जो 'कपालरूप' है वह अपने कार्य अर्थात् 'घटरूप' के

समवायिकारण 'घट' में नहीं रहता है परन्तु कार्य 'घटरूप' का समवायिकारण जो घट' है उसके समवायिकारण 'कपाल' में ही वह 'कपालरूप' रहता है। इसलिये यहां पर '*कार्य के समवायिकारण में रहता हुआ*' न लेकर प्रत्युत कार्य के 'समवायिकारण के समवायिकारण' में रहता हुआ जो कार्य का 'कारण' हो वही 'असमवायिकारण' होता है' यहां ऐसा कहा जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि-असमवायिकारण [होने] के दूसरे दृष्टान्त में 'समवायिकारण के समवायिकारण' को भी 'समवायिकारण' ही लिया गया है। इससे यह आया कि-घटरूप 'कार्य' के 'समवायिकारण का समवायिकारण' अर्थात् 'समवायिकारण' जो कि 'कपाल' है, उसमें रहता हुआ कपालरूप 'असमवायिकारण' अपने 'कार्य' अर्थात् घटरूप का 'कारण' होता है। इसी तरह से यहां पर [समवायिकारण के समवायिकारण अर्थात्] *समवायिकारण में मिलकर रहता हुआ जो कार्य का कारण हो*, यह असमवायिकारण का उपर्युक्त लक्षण 'घटरूप' कार्य के असमवायिकारण 'कपालरूप' में ठीक ठीक लागू हो जाता है।

इस प्रकार ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि-कार्य के 'समवायिकारण' में कार्य का 'असमवायिकारण' दो प्रकार से सम्बद्ध [प्रत्यासन्न] होता है। एक तो '*कार्यैकार्थप्रत्यासन्न*' और दूसरा *कारणैकार्थप्रत्यासन्न*'। 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ है 'घनिष्ठता' [दो वस्तुओं का किसी एक स्थान में साथ साथ रहना]। इसके अनुसार 'असमवायिकारण अपने कार्य के साथ [जब] एक ही स्थान अर्थात् समवायिकारण में रहेगा तो, उसे कार्यैकार्थप्रत्यासन्न' कहा जायगा। जैसा कि, पहले उदाहरण [स्थल] में-असमवायिकारण जो दो परमाणुओं का संयोग है वह अपने कार्य 'द्व्यणुक' के साथ एक ही स्थान 'परमाणुद्वय' में रहता [प्रत्यासन्न] है। अर्थात् 'द्व्यणुक' समवाय सम्बन्ध से 'परमाणुद्वय' में रहता है और वहां 'परमाणुद्वयसंयोग' भी रहता है। इसलिये असमवायिकारण [दो परमाणुओं के संयोग] की अपने कार्य [द्व्यणुक] के साथ यहां एक अर्थ [दो परमाणुओं] में प्रत्यासत्ति होने से यह [असमवायिकारण की] '*कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति*' कहलाती है। इसी को दूसरे शब्दों में साक्षात् प्रत्यासत्ति भी कहते हैं। अर्थात् असमवायिकारण

'परमाणुद्वयसंयोग' का अपने कार्य 'द्वयणुक' के साथ-एक अर्थ 'परमाणु
में साक्षात् रहना [प्रत्यासन्न या सम्बद्ध होना]।

दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति जिसे '*कारणैकार्थप्रत्यासत्ति*' कहा जाता
उसका अर्थ है—असमवायिकारण का अपने कार्य के समवायिकारण के स
एक अर्थ में रहना। जैसे कि, मूल में आए दूसरे उदाहरण के अनुसार
असमवायिकारण जो कि 'कपालरूप' है वह अपने कार्य-घटरूप के कारण 'घ
के साथ, एक अधिकरण [अर्थ] 'कपाल' में रहता है। अर्थात् कार्य-घटरूप
कारण 'घट' तथा असमवायिकारण 'कपालरूप' [ये दोनों] साथ साथ 'एक
अर्थ-कपाल' में रहते हैं। इस प्रकार इस प्रत्यासत्ति से यह आया कि
असमवायिकारण 'कपालरूप' यद्यपि अपने कार्य 'घटरूप' के साथ साक्ष
एक जगह' नहीं रहता तो भी कार्य 'घटरूप' के कारण 'घट' के साथ एक
स्थान अर्थात् 'कपाल' में तो रहता ही है। इसीलिये कार्य के कारण के साथ ए
अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने के आधार पर—कपालरूप को भी [घट में लाक
घटरूप के बारे में कारण कहा जा सकता है। अर्थात् कार्य के समवायिकार
के समवायिकारण में रहने वाला [प्रत्यासन्न] धर्म भी परम्परया समवायिका
में प्रत्यासन्न कहा जा सकता है क्योंकि-'*कारण के गुण कार्य में आ जाते
ऐसा नियम होने से*' इसी के अनुसार 'कपालरूप' [कपाल के रूप] को
समवायिकारण 'घट' में प्रत्यासन्न मानकर कार्य 'घटरूप' [घट के रूप]
'असमवायिकारण' लिया जा सकता है।

उपर्युक्त प्रकार से '*कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति*' और '*कारणैकार्थप्रत्यास*
[इन दोनों तरह की प्रत्यासत्तियों] का स्पष्टीकरण हो जाने
'असमवायिकारण' का निष्कृष्ट सामान्य लक्षण यह हुआ कि-कार्य के साथ
अर्थ [स्थान या अधिकरण] में प्रत्यासत्ति से, अथवा कारण के साथ एक
में प्रत्यासत्ति से, [अर्थात्] इन दोनों प्रत्यासत्तियों में से किसी भी प्रत्यासत्ति
समवायिकारण में रहता हुआ [प्रत्यासन्न होकर] जो कारण हो [और
ज्ञानादि से भिन्न ही हो] उसी को 'असमवायिकारण' कहते हैं। '*तर्क सं*
में भी ऐसा ही लक्षण पाया जाता है-"*कार्येण, कारणेन वा सहैकस्मि*

समवेतं सत् कारणम्-असमवायिकारणम् " अब 'निमित्तकारण' जैसे कि—

(३) समवायिकारण तथा असमवायिकारण [इन दोनों प्रकार के कारणों] से भिन्न जो कोई कार्य के बारे में यदि कारण हो सकता है तो वह 'निमित्तकारण' होता है। अर्थात् जो न तो समवायिकारण हो और न ही असमवायिकारण हो किन्तु फिर भी यदि कार्य के प्रति [नियतावश्यकपूर्ववर्ती] कारण हो तो वह-निमित्तकारण होगा। जैसे कि-द्वयणुक का समवायिकारण 'परमाणु' है और असमवायिकारण 'दो परमाणुओं का संयोग' है, तथा इन [दोनों] के सिवाय 'ईश्वर' आदि 'निमित्तकारण' होते हैं। ठीक इसी प्रकार घट के प्रति-कपाल तो 'समवायिकारण' होता है और दो कपालों का संयोग [गुण] 'असमबायिकारण' है और इन दोनों को छोड़कर बाकी के जो-कर्त्ता, करण इत्यादि जैसे 'घट' कार्य को बनाने वाला [कर्त्ता] अर्थात् कुम्हार तथा दण्ड, चक्रादि जितने भी साधन घट की बनावट में सहायक होते हैं वे सब 'निमित्तकारण' ही होते हैं। इस प्रकार यह आया कि—समवायिकारण और असमवायिकारण से अलग सभी कारण प्राय: निमित्ताकारण ही होते हैं।

इसी बात को दूसरे रूप में इस प्रकार समझना चाहिये कि-समवायिकारण तथा असमवायिकारण के नाश से उनका कार्य भी नष्ट हो जाता है ऐसा नियम है, परन्तु निमित्तकारण यदि न भी रहे तो भी कार्य रह सकता है अर्थात् निमित्तकारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता। अथवा कारण दो प्रकार से होता है एक तो साधारणतया [सामान्य रूप से] और दूसरा असाधारणतया [विशेष रूप से]। कारण के इन दो प्रकारों में से समवायिकारण और असमवायिकारण तो केवल 'असाधारण' कारण होते हैं, और निमित्तकारण 'साधारण और असाधारण' दोनों प्रकार का होता है' इसीलिये 'निमित्तकारण' उन दोनों कारणों से एक अलग ही कारण होता है।

ये तीनों [समवायी-असमवायि और निमित्त] कारण 'द्रव्य-गुण और कर्म' रूप भावकार्य के ही होते हैं। और प्रध्वंसाभावरूप कार्य में तो केवल एक निमित्तकारण होता है। क्योंकि किसी भावपदार्थ का अभाव के साथ समबाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है इसीलिये [समवाय सम्बन्ध के न बन पड़ने के कारण]

कोई भी पदार्थ उस [अभाव] का समवायिकारण तथा असमवायिकारण नहीं है

मूल=तत्र समवायिकारणं द्रव्यमेव । असमवायिकारण द्रव्ये-गुणः, गुणे-गुणःकर्म च । कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणानिईश्वरः, तज्ज्ञानेच्छा कृतयः, प्रागभावकालदिगदृष्टानि तत्र परमाणुद्वयसंयोगात् द्व्यणुकमुत्पद्यते, संयुक्तद्व्यणुकतया त्रसरेणुः । एवं चतुरणुकादिकपालान्तम् । कपालद्वयसंयोगेन घटो जन्यते, घटस्त्वन्त्यावयवी ।

अनुवाद=कारण के विषय में [तत्र] समवायिकारण तो केवल द्रव्य होता है। द्रव्य के प्रति गुण-असमवायिकारण होते हैं। और गुण के प्रति-गुण और कर्म [ये दोनों] असमवायिकारण होते हैं। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली वस्तु अर्थात् कार्य मात्र के प्रति-(१) ईश्वर, तथा उसका (२) ज्ञान, (३) इच्छा, तथा (४) कृति, [और ऐसे ही] (५) प्रागभाव, (६ काल, (७) दिशा, और (८) अदृष्ट [प्रत्येक जीव के अपने-अपने किये हुए पुण्य, पाप के संस्कार] आठ प्रकार के सामान्य अर्थात् साधारण कारण ही होते हैं। अब द्रव्य की उत्पत्ति के बारे में [तत्र] दो परमाणुओं के परस्पर संयोग से तो एक द्वयणुक बनता [उत्पन्न होता] है। इसके बाद-तीन द्वयणुकों के आपस में मिलने [संयोग होने पर एक त्रसरेणु या त्र्यणुक उत्पन्न होता [बनता] है। इसी प्रकार से चतुरणुक इत्यादि से लेकर 'स्थूल कपाल तक' [पूर्व पूर्व कारण से उत्तर उत्तर कार्य की उत्पत्ति होते हुये स्थूल कार्य अर्थात् 'कपाल' तक] पहुँच जाने पर [फिर] दो कपालों के संयोग [आपस में जुट जाने] से घट बन जाता है, वह घट 'अन्त्यावयवी' [जिससे कोई अगला द्रव्य उत्पन्न नहीं होता ऐसा] माना जाता है

व्याख्या= न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में 'अणु या परमाणु' शब्द के दो अर्थ पाये जाते हैं एक तो—'अणु' शब्द का अर्थ सभी से सूक्ष्म निर्विभाग परमाणु है और दूसरा 'अणुपरिमाण' के बारे में भी 'अणु' शब्द का प्रयोग होता है। किसी वस्तु के प्रति 'अणुपरिमाण' तो कारण बन सकता ही नहीं [यह बताया जा चुका है] इसलिए 'अणु' कारण होते हैं। पीछे यह कह

था कि—द्रव्य की उत्पत्ति का प्रकार [जिस तरह से उसका जन्म होता है] अनन्तर बतावेंगे उसी को यहां स्पष्ट किया जाता है। जन्म उस वस्तु का हो सकता है जिसका कारण हो। अणु कारण हैं इसलिये उनसे उत्पत्ति इस प्रकार [क्रम] से होती है अर्थात् न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार 'आकाश-काल-दिशा और आत्मा' ये विभु [नित्य] पदार्थ हैं और उनसे किसी द्रव्य का जन्म नहीं होता इसलिये इनको छोड़कर अन्य 'पृथिवी-जल-तेज [अग्नि] और वायु' ये चार ही परमाणु वाले द्रव्य हैं। जिन्हीं से द्वयणुक इत्यादि के क्रम से नये नये द्रव्य पैदा होते हैं। जैसा कि—प्रलय के समय में पृथिवी से लेकर वायु तक के प्रत्येक परमाणु के बिखरे [अलग अलग हुए] रहने से वे द्वयणुक आदि कार्य को उत्पन्न [प्रारम्भ] न करते हुए जब सृष्ठि के आदि काल में ईश्वर की ऐसी इच्छा कि 'कार्य द्रव्य हों' उससे सब परमाणुओं में क्रिया होने लगती है। उसी क्रिया से उन उन 'सजातीय' [एक से] दो दो परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है। अर्थात् पृथिवी के परमाणुओं का भी पृथिवी के परमाणुओं के साथ, तथा जलीय परमाणु का जलीय के साथ संयोग होता है। इस प्रकार 'पृथिवीत्व' आदि वाले सजातीय दो परमाणुओं के संयोग से पार्थिव आदि द्वयणुक उत्पन्न होता [बनता] है। परमाणु अनन्त हैं इसलिये उन दो दो परमाणुओं के संयोग से बने द्वयणुक भी अनन्त हैं। जो भी भावकार्य है वह समवायी, असमवायि तथा निमित्त कारण से पैदा होता है इसलिये द्वयणुक भी एक भावकार्य होने से उन तीनों कारणों से पैदा होगा। जैसे कि–द्वयणुक का दोनों परमाणु तो समवायिकारण, उनका संयोग [गुण] असमवायिकारण और ईश्वर तथा उसका ज्ञान आदि निमित्तकारण होते हैं। इसी प्रकार से द्वयणुकों के बन जाने पर फिर उनमें क्रिया उत्पन्न होती है, क्रिया से सजातीय तीन द्वयणुक संयुक्त होते हैं उनसे त्र्यणुक बनता है। इस प्रकार-चार त्र्यणुक मिलकर एक अगले नये द्रव्य अर्थात् चतुरणुक को पैदा करते हैं। इसी क्रम से कपाल तथा कपाल से घट तक के द्रव्य का जन्म होता है। घट को अन्त्यावयवी माना जाता है। अन्त्यावयवी का अर्थ है कि-जो द्रव्य अवयवों से बना हुआ होने पर किसी दूसरे द्रव्य का कारण अर्थात्

अवयव न हो। इसलिये अन्त्यावयवी से कोई अगला द्रव्य नहीं बन पाता। अर्थात् दो या तीन घटों से मिलकर कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार घट आदि जो किसी अगली बनावट में 'अवयव' न हों उन्हें अन्त्यावयवी कहा जाता है जिनसे कि किसी आगे के द्रव्य का जन्म नहीं होता।

मूल में यह आया है कि 'समवायिकारण' केवल 'द्रव्य' होता है। इसका अर्थ यह है कि—न्याय-वैशेषिक में 'द्रव्य' कहते ही उसी वस्तु को हैं जो समवायिकारण हो '*समवायिकारणं द्रव्यम्*' द्रव्य नौ माने गए हैं जो किसी न किसी गुण आदि कार्य के समवायिकारण होते ही हैं। इस प्रकार द्रव्य से अतिरिक्त पदार्थ जो गुण और कर्म आदि हैं वे समवायिकारण नहीं होते प्रत्युत वे गुण आदि असमवायिकारण होते हैं।

मूल=अथ द्रव्ये प्रमाणं कथ्यते—प्रत्यक्षद्रव्ये प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्, अतीन्द्रियेऽनुमानम्। तत् पक्षहेतुसाध्यदृष्टान्तज्ञान-साध्यम्। विशेषो वक्ष्यते। परमाणुद्व्यणुकानुमानं यथा, त्रसरेणुः सावयवद्रव्यारब्धः बहिरिन्द्रियवेद्यद्रव्यत्वात्। बहिरिन्द्रियवेद्यद्रव्यं यत्, तत्सावयवद्रव्यारब्धं, यथा घटः। अत्र त्रसरेणुः पक्षः, सावयवद्रव्यारब्धत्वं साध्यम्, बहिरिन्द्रियवेद्य-द्रव्यत्वादिति हेतुः, घटो दृष्टान्तः अनेन द्व्यणुकं परमाणुश्च सिध्यति।

अनुवाद=अब द्रव्य में प्रमाण कहे जाते हैं, जो द्रव्य प्रत्यक्ष होते हैं [ऐसा होने से] उनमें तो प्रत्यक्ष प्रमाण है ही, परन्तु अतीन्द्रिय [जिसका किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होता हो, ऐसी वस्तुओं] में अनुमान ही प्रमाण होता है। उस अनुमान की [*तत्*] पक्ष, हेतु, साध्य और दृष्टान्त इनके ज्ञान से-सिद्धि होती है। इसी बात को विशेषरूप से अनुमान का निरूपण करते समय बतावेंगे। [फिर भी-त्रसरेणु के निर्माण में] परमाणु और द्व्यणुक का अनुमान इस प्रकार से किया जाता है कि—त्रसरेणु सावयवद्रव्यों से बने हैं, क्योंकि वे बाह्य इन्द्रियों

के द्वारा जाने जाते हैं, बाह्य इन्द्रियों से जाना जाने वाला जो भी द्रव्य होता है वह सावयव द्रव्य से ही आरम्भ होता है, जैसे कि—घड़ा [एक-बाह्य इन्द्रिय से ज्ञात होने वाला द्रव्य है और वह सावयवद्रव्यों अर्थात् कपालों से बनता है]। इस अनुमान में [अत्र] त्रसरेणु तो '*पक्ष*' है, सावयद्रव्य से प्रारम्भ होना '*साध्य*' है, बहिरिन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होने के योग्य द्रव्य होना 'हेतु' और घड़ा इसमें '*दृष्टान्त*' अर्थात् उदाहरण है। इसी अनुमानिक क्रम से द्वयणुक तथा परमाणु की सिद्धि भी हो गई। [अतः ये सावयवद्रव्यों से भी नहीं बनते]।

व्याख्या—द्रव्य [वस्तु] का ज्ञान दो प्रमाणों के द्वारा होता है। जैसा कि-पृथिवी, जल तथा तेज [अग्नि] को हम स्पष्ट देखते हैं इसलिये इनमें तो प्रत्यक्ष [दिखाई पड़ना] ही प्रमाण है। परन्तु 'वायु-आकाश-काल-दिशा तथा मन' जो कि प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते अर्थात् जिनका कोई भी रूप नहीं होता ऐसे अतीन्द्रिय [प्रत्यक्ष के अयोग्य] द्रव्यों का अनुमान किया जाता है। जैसा कि—

मूल—आकाशवायू शब्देन स्पर्शेन चानुमीयेते, शब्दो द्रव्याश्रितः, गुणत्वात्, यथा-घटरूपम्, अनेन द्रव्यान्तरबाधात् शब्दाश्रयत्वेनाकाशं सिद्ध्यति। पृथिव्यादित्रयावृत्तिरयं स्पर्शो द्रव्याश्रितः, गुणत्वात्, इत्यनुमानेन द्रव्यान्तरबाधात् स्पर्शाश्रयत्वेन वायुःसिद्ध्यति।

अनुवाद—'आकाश' और 'वायु' क्रमशः 'शब्द' और 'स्पर्श' के द्वारा अनुमानित होते हैं [उनके अनुमान करने का प्रकार यह है कि] 'शब्द' द्रव्य के आश्रित है, क्योंकि वह 'गुण' है, जैसे—घट का 'रूप' [गुण है और वह द्रव्य अर्थात् घट के आश्रित ही है], इसी प्रकार के अनुमान से अन्य द्रव्यों का निषेध हो जाने पर [परिशेष से अर्थात् निषेध से बच रहे] 'आकाश' की 'शब्द का आश्रय होने के रूप में' सिद्धि [उपलब्धि] होती है। पृथिवी आदि तीनों 'पृथिवी-जल और अग्नि' जोकि रूप वाले द्रव्य हैं उन] में न रहने वाला जो यह 'अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श है वह [किसी रूप रहित] द्रव्य के आश्रित होगा, गुण होने से, इस प्रकार के अनुमान द्वारा अन्य द्रव्यों के बाधित हो जाने से

[हटा देने पर] बाकी बच रहे 'वायु' नामक द्रव्य की अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श का आश्रय होने के रूप में सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या='आकाश' को शब्द से अनुमानित करने का प्रकार यह है कि, शब्द 'विशेष-गुण' है, हमारी बाह्य एक [श्रोत्र] इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने योग्य [शब्दत्व] जाति वाला होने से, रूप आदि 'विशेष-गुण' के समान। और 'गुण' हमेशा द्रव्य ही के आश्रित होता है अकेला नहीं रहता है। इस प्रकार से— 'शब्द' का 'गुण-विशेष' होना, बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होना, और द्रव्य में समवेत होना, सिद्ध हो जाने पर वह। 'पृथिवी-जल-तेज तथा वायु' में तो समवेत हो नहीं सकता। क्योंकि शब्द श्रोत्र ग्राह्य है और पथिवी आदि चारों के गन्ध आदि विशेष गुणों में से कोई भी श्रोत्र ग्राह्य नहीं होता। इसीलिये शब्द इन चारों में से किसी का गुण नहीं है। एक 'विशेष-गुण' होने से वह—'काल, दिशा और मन' का भी गुण नहीं, क्योंकि इन तीनों में कोई विशेष गुण रहता ही नहीं। बाह्येन्द्रिय गृहीत ऐसा होने से 'शब्द' आत्मा का गुण भी नहीं। इसलिये इन आठ द्रव्यों के अतिरिक्त ही शब्द [गुण] का आश्रय [द्रव्य] ग्रहण करना चाहिये जो कि नवम द्रव्य '*आकाश*' सिद्ध हो जाता है।

[नौ द्रव्यों के बीच में रहता हुआ एक] ऐसा स्पर्श जो 'पृथिवी, जल तथा तेज' [इन तीनों रूपवाले द्रव्यों] में न पाया जाता हो, वह '*अपाकज-अनुष्णाशीतस्पर्श*' होगा। क्योंकि पृथिवी का स्पर्श तो—अनुष्णाशीत परन्तु पाकज [आग्नेय परिपाक से अभिव्यक्त] होता है। जल का स्पर्श शीत है। और अग्नि का स्पर्श उष्ण है। इस से यह आया कि 'अपाकज किन्तु अनुष्ण और अशीत ऐसा स्पर्श' जोकि इन तीनों रूप युक्त द्रव्यों में रहनेवाले स्पर्श से एक दूसरी तरह का स्पर्श है वह उन—पृथिवी, जल तथा अग्नि का स्पर्श नहीं हो सकता है और—'आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन' [इन पांचों द्रव्यों] में तो कोई स्पर्श रहता ही नहीं—इसीलिये इन आठ द्रव्यों के सिवाय। जिस स्पर्श की हमें [हवा के चलने पर] त्वचा द्वारा प्रतीति होती है ऐसा अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श [गुण होने के कारण] किसी द्रव्य में ही आश्रित होगा '*वही रूप रहित द्रव्य*' *वायु* है। इसी प्रकार परिशेषानुमान से '*वायु*' की सिद्धि होती है। अब 'काल' का निरूपण करते हैं—

मूल=काले प्रमाणं यथा-परत्त्वापरत्त्वे द्विविधे, कालिके दैशिके च। परत्त्वोत्पत्तिश्च बहुतरविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानात्, अपरत्त्वोत्पत्तिश्च स्वल्पतरविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानात्। तत् परत्त्वं ज्येष्ठत्वम्, अपरत्त्वं कनिष्ठत्वम्। तदनुमानं यथा–परत्त्वजनकं बहुतरविक्रियाविशिष्ठशरीरज्ञानमिदं परम्परासम्बन्धघटकसापेक्षम्, साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात्, लोहितः स्फटिक इति प्रत्ययवत्। परम्परासम्बन्धश्च स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगः। तेन सम्बन्धघटकः कालः सिद्ध्यति।

अनुवाद=काल के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण इस प्रकार है कि–परत्त्व [परला होना] और अपरत्त्व [वरला होना] ये दो प्रकार के होते हैं–कालिक और दैशिक। परत्त्व की उत्पत्ति अधिकतर [बहुत बार] सूर्य की गति या सूर्य के परिस्पन्दों से युक्त हुए शरीर [पिंड] के ज्ञान से होती है, और अपरत्त्व की उत्पत्ति न्यूनतर [कम बार] सूर्य की गति से युक्त हुए शरीर के ज्ञान से होती है। इसी प्रकार परत्त्व को ज्येष्ठ [अधिक] और अपरत्त्व को कनिष्ठ [कम] होना कहा जाता है। उस [परत्त्व और अपरत्त्व] के अनुमान का प्रकार यह है कि–परत्त्व का साधक अधिकतर सूर्य की गति से मिले हुए शरीर का ज्ञान ही है जो कि किसी की अपेक्षा रखने के कारण [अर्थात् किसी के द्वारा होने से] परम्परासम्बन्ध [असाक्षात् मेल] का ही घटक होता है, क्योंकि साक्षात्सम्बन्ध का अभाव होने पर भी वह एक विशिष्ट ज्ञान है–'स्फटिक लाल है' इस प्रकार के विश्वास के समान [अर्थात् जैसे स्फेद धर्म वाले बिल्लौर में लाली का आरोप करके, उस स्फटिक को लाल कह दिया जाता है उसी तरह की मिलावट वाले ज्ञान के समान ही यह ज्ञान होता है]। '*परम्परासम्बन्ध*-अपने समवायी से मिले हुए संयोग' को कहते हैं। इस प्रकार [कालिक परत्त्व और अपरत्त्व] के व्यवहार को जोड़ने वाला 'काल' ही अनुमानित होता है।

व्याख्या—परत्व और अपरत्व दो तरह के होते हैं-कालिक [काल सम्बन्धी] तथा दैशिक [दिशा सम्बन्धी] ये दोनों तरह के परत्व और अपरत्व [गुण] 'अपेक्षा बुद्धि' से उत्पन्न होते हैं [और अपेक्षा बुद्धि के नाश से नष्ट हो जा] हैं]। कालिक परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति का प्रकार यह है कि-हम ज दो छोटे बड़े व्यक्तियों को देख कर यह कहते हैं कि वृद्ध-युवक की अपेक्षा ब है या युवक-वृद्ध की अपेक्षा छोटा है तो इसका यह अर्थ होगा कि-वृद्ध में 'कालि परत्व' है और युवक में 'कालिक अपरत्व'। यहां वृद्ध का युवक की अपेक्ष बहुत बार की सूर्य की क्रियाओं से सम्बन्ध हुआ है इसी अपेक्षा बुद्धि से वृ में कालिक परत्व और युवक का वृद्ध की अपेक्षा कम बार की सूर्य की क्रिया से सम्बन्ध हुआ है इसी अपेक्षा बुद्धि से युवक में कालिक अपरत्व उत्पन्न हो है। जैसा कि सूत्र से स्पष्ट है कि- [कालिक] परत्व की उत्पत्ति 'अधिकत सूर्य की क्रियाओं से युक्त यह शरीर है' इस विशिष्ट ज्ञान से जो कि परम्पर सम्बन्ध का घटक होने के कारण एक सापेक्ष ज्ञान है उससे होती है। क्योंि जो ज्ञान विशेषण और विशेष्य के साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी विशि ज्ञान होता है वह परम्परा सम्बन्ध से [अर्थात् किसी के द्वारा] हो सकने सापेक्ष ज्ञान ही होता है-'स्फटिक लाल है' इस ज्ञान के समान। यहां स्फटि 'विशेष्य' और लालरूप 'विशेषण' है। 'लालरूप' उस स्फटिक [सफेद बिल्लौर] में साक्षात् रूप से तो रहता नहीं परन्तु जब गुलाब के फूल आदि [जिस लालरूप साक्षात् रहता है उस] का स्फटिक के साथ संयोग होता है त 'स्फटिक लाल है' ऐसा जो विशिष्टज्ञान होता है वह परम्परा सम्बन्ध घट [गुलाब के फूल आदि के द्वारा हो सकने वाला ज्ञान होने से] एक सापेक्ष ज्ञ है। वैसे ही-'यह शरीर सूर्य की अधिकतर क्रियाओं से युक्त हैं' इस विशि ज्ञान में क्रियाओं का [साक्षात् सम्बन्ध सूर्य के साथ होने से अर्थात्] शरीर साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी '*स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगरूप*' सम्ब [परम्परासम्बन्ध] बन जाता है। 'स्व' पद का अर्थ 'रविक्रिया' उसका समवा है सूर्य, उस सूर्य से संयोग वाला काल है और उस काल का संयोग शरीर साथ है। इस प्रकार से रविक्रियारूप विशेषण का शरीररूप विशेष्य के स

जो [परम्परा] सम्बन्ध है उसका घटक काल है अर्थात् शरीर का सूर्य की क्रिया से सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। इसलिये काल नामका द्रव्य मानना आवश्यक हो जाता है।

मूल=ननु कालस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानभेदेन बहुत्वात् कुत एकत्वमिति चेद्, न, उपाधिभेदेन भेदप्रत्ययात्। कालोपाधयो रविक्रियादिरूपा भिन्ना एव।

अनुवाद=प्रश्न होता है [ननु] कि काल के भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान [ये तीन] भेद होने से जबकि वह अनेक होगा तो कैसे [उसी] 'काल' का 'एकहोना' कहा जा सकता है? [उत्तर देते हैं] कि ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि केवल उपाधि के भेद से [काल में] भेद [अनेकता] की प्रतीति होने के कारण [यह वास्तविक स्थिति नहीं है]। क्योंकि काल को उपाधियां तो सूर्य की गति आदि के स्वरूप से अलग-अलग मानी ही जाती हैं। [इसीलिये उन भिन्न-भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से एक होता हुआ भी वह काल भूत आदि व्यवहार का विषय बन जाता है]।

व्याख्या=जिस प्रकार पचन-पाठन आदि क्रियारूप उपाधि के कारण से कोई पुरुष-पाचक, पाठक इत्यादि संज्ञा को प्राप्त हुआ भी एक ही रहता है अर्थात् अनेक नहीं हो जाता ठीक उसी प्रकार सूर्य आदि की क्रिया जोकि काल की उपाधि है उसके सम्बन्ध से 'काल' को भूत आदि व्यवहार का विषय बना लेने पर भी वह एक ही होता है [अनेक नहीं]। व्यतीत जो सूर्य की क्रिया या परिस्पन्द है उस अतीतक्रियारूप विशेषण [उपाधि] से विशिष्ट हुआ काल 'अतीत' कहा जाता है और सूर्य की वर्त्तमानगतिरूप विशेषण से विशिष्ट [युक्त] काल का नाम वर्त्तमान काल है तथा आगे होने वाली जो सूर्य की क्रिया होगी उस भविष्यत्क्रियारूप विशेषण से विशिष्टकाल को भविष्यत् काल कहते हैं। इस प्रकार अतीत आदि क्रिया से विशिष्ट काल अतीत आदि संज्ञा को प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी यह ध्यान रहे कि-संज्ञा का भेद [अनैक्य] संज्ञी की एकता को तो छेड़ता [नष्ट करता] ही नहीं क्योंकि जिस प्रकार पचन पाठन आदि संज्ञा के अनैक्य [भेद] से संज्ञी अर्थात् पुरुष का ऐक्य

नष्ट नहीं हो जाता वैसे ही-भूतादि की संज्ञा से [भूत आदि के व्यवहार का बिषय बन जाने पर] काल के 'एक' होने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् काल अनेक नहीं हो सकता। अतएव 'काल' एक ही है, जोकि नित्य विभु तथा सारे जगत् का आधार [आश्रय] है। अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु का तो 'सामान्य रूप से' [अर्थात् साधारणतया] और परत्त्वापरत्त्व बुद्धि [ज्ञान] का असाधारणतया-'निमित्त कारण' है। अब दिशा को बताया जाता है—

मूल=एवं दैशिकपरत्त्वापरत्त्वाभ्यां दिशः सिद्धिः, ते च दूरत्वसमीपत्वे। अवधिसापेक्षबहुतरसंयोगविशिष्टशरीरज्ञानम् इदं परत्त्वजनकं परम्परासम्बन्धघटकसापेक्षमित्यादि पूर्ववत्। तेन च दिशः सिद्धिः। न चाकाशमेव सम्बन्धघटकम् आस्तामिति वाच्यम्, तस्य शब्दाश्रयत्वेनैव धर्मिग्राहकप्रमाण-सिद्धत्वात् न रविक्रियाद्युपनायकत्वसम्भवः।

अनुवाद=इसी प्रकार से [कालिक परत्त्वापरत्त्व के समान] दैशिक परत्त्व और अपरत्त्व से दिशा सिद्ध होती है [अर्थात् दिशा के अस्तित्व का अनुमान होता है], और उन [दैशिक-परत्त्व तथा अपरत्त्व] को क्रमशः 'स्थान सम्बन्धी दूरी' और 'स्थान सम्बन्धी समीपता' भी कहते हैं। अवधि [वह इससे दूर या अन्तिम है इस प्रकार निर्धारित किये हुए स्थान] की अपेक्षा से होने वाला जो अधिकतर संयोगों से मिलकर यह स्थान [उस स्थान से] परे है ऐसा ज्ञान हुआ है उसके परम्परा सम्बन्ध से घटक होने के कारण सापेक्ष होना पूर्ववत् अर्थात् [पीछे-काल के प्रकरण में बताय गए की तरह] समझना चाहिये। इस प्रकार से [दिशाओं के परत्त्व और अपरत्त्व के सिद्ध हो जाने पर] दिशा भी सिद्ध हो गई। यहां पर शंका उठाई गई है कि—दिशा के बदले आकाश को ही क्यों न ऐसे सम्बन्ध के जोड़ने वाला [सम्बन्ध घटक] मान लिया जाय? इस पर उत्तर देते हैं कि—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आकाश तो केवल शब्द का आश्रय है इसलिये उसका धर्मी ग्राहक होना प्रसिद्ध होने के कारण [अर्थात् केवल शब्द

'धर्म' से आकाश 'धर्मी' का ग्रहण हो सकने से उस आकाश को] सूर्य की गति से [सम्बन्ध का घटक] सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

व्याख्या—दैशिक परत्व और अपरत्व का अर्थ दूरत्व और समीपत्व है। जिनका उदाहरण यह कि—दिल्ली से कलकता दूर और उसकी अपेक्षा कानपुर दिल्ली से समीप है। इससे यह जान पड़ता है कि—दिल्ली से लेकर कलकता तक, बीचवाले मूर्त्त पदार्थों के संयोग अधिक और उसकी अपेक्षा दिल्ली से कानपुर तक, बीच वाले मूर्त्त पदार्थों के संयोग कम हैं। इससे यह आया कि, दिल्ली से कलकता का—कानपुर की अपेक्षा, अधिकतर मूर्त्त पदार्थों के संयोगों से विशिष्ट होना [यह आपेक्षिक ज्ञान जिसको अपेक्षा बुद्धि कहा जा सकता है] कलकता में 'परत्व' नामक गुण का बोध कराता है। और दिल्ली से कानपुर का—कलकता की अपेक्षा, न्यूनतर मूर्त्त द्रव्यों के संयोगों से युक्त [विशिष्ट] होना कानपुर में 'अपरत्व' नामक गुण का बोध कराता है। दिल्ली से लेकर कानपुर तथा कलकता तक, बीच वाले मूर्त्त द्रव्यों के अल्पतर और अधिकतर संयोगों का [क्रमशः] कानपुर और कलकता के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता प्रत्युत *'स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगरूप'* परम्परा [दिशा के द्वारा ही] सम्बन्ध होता है। *'स्व'* पद से अधिकतर या न्यूनतर मूर्त्त संयोगों का ग्रहण होता है, उन संयोगों के समवायी मूर्त्त पदार्थ हैं, उनसे युक्त दिशा है और उस दिशा का संयोग कानपुर और कलकत्ता के साथ है। अर्थात् कलकता में जाने गए 'दैशिक परत्व' और कानपुर में ज्ञात 'दैशिक अपरत्व' का असमवायिकारण—'दिशा और कलकता का संयोग' वा 'दिशा और कानपुर का संयोग' है। उस संयोग के *आश्रय*—'दिशा और कलकता' अथवा 'दिशा और कानपुर' हैं। इस रीति से दैशिक परत्व और अपरत्व के असमवायिकारण रूप संयोग दिशा में रहते हुए दैशिक परत्वापरत्व व्यवहार के उत्पादक होने से, उनका आधार दिशा ही है, न कि आकश आदि, क्योंकि आकाश तो शब्द का ही आधार निर्णय [सिद्ध] किया जा चुका है अर्थात् आकाश को तो लिया ही इसीलिये जाता है कि शब्द [गुण] का कोई समवायिकारण या आधार होना चाहिये। इस प्रकार आकाश की सिद्धि शब्द के आश्रय [आधार] के रूप में

हो सकने [जाने] पर उसको दैशिक परत्व और अपरत्व का आश्रय या साधक सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतएव दूर और समीप होना इस बुद्धि का नियामक '*दिशा*' आकाश आदि से सर्वथा अलग ही पदार्थ है, जो कि—सर्वव्यापक नित्य तथा 'एक' है। दिशा में ये—'पूर्व-पश्चिम-उत्तर और दक्षिण' व्यवहार का होना केवल उपाधि के कारण समझना चाहिये, वस्तुतः नहीं। यथा क्रम आगे आत्मा को दिखाया गया है—

मूल="अहं सुखी" इत्यादिप्रत्यक्षमात्मनि प्रमाणम्। ईश्वरे चानुमानं यथा—'क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्'। तेन ईश्वरस्य तद्वृत्तिनित्यज्ञानेच्छाकृतीनां तत्सार्वज्ञ्यस्य चसिद्धिः

अनुवाद =*'मैं सुखी हूँ'* इत्यादि [आन्तरिक प्रतीति का होना] आत्मा के प्रत्यक्ष होने में प्रमाण है। और ईश्वर में तो अनुमान ही प्रमाण है उस अनुमान का प्रकार यह है कि—पृथिवी [जिसे हम नहीं बना सकते वह] किसी कर्त्ता के द्वारा बनाई गई है, क्योंकि वह एक बनावट अर्थात् कार्य है, [जो जो कार्य होता है वह अवश्य किसी कर्त्ता के द्वारा बनाया गया होता है] जैसे- 'घट' [एक कार्य है और वह कुम्हार आदि कर्त्ता से बनाया गया है]। इसी अनुमान के आधार पर [पृथिवी आदि के कर्त्ता] ईश्वर की तथा उसमें रहने वाले 'नित्य ज्ञान—नित्य इच्छा—नित्य कृति और साथ ही उसकी सर्वज्ञता' की भी सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या =न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि आदि गुणों वाले आत्मा का—*'मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ'* इत्यादि प्रकार की प्रतीति में मानस प्रत्यक्ष होता है। परन्तु फिर भी यदि सन्देह रह जाय तो दूसरा प्रमाण अर्थात् अनुमान भी है वह इस प्रकार कि—जैसे लकड़ी काटने के साधन कुल्हाड़ा आदि अपना फल जो कि लकड़ी का काटना है उसे बिना किसी काटने वाले कर्त्ता [की अपेक्षा किये] के नहीं कर सकते, ऐसे ही ज्ञान के करण [साधन] नेत्रादि को भी अपने फल अर्थात् देखने आदि ज्ञान के लिये जिस कर्त्ता की अपेक्षा

होगी वही आत्मा है । अथवा–नौ द्रव्यों के बीच में बुद्धि [ज्ञान] आदि गुणों का आश्रय कोई द्रव्य होना चाहिये । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जिन्हें 'पञ्चभूत' भी कहते हैं उन पाँचों भूतों के–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द आदि गुणों का प्रत्यक्ष क्रमशः नासिका आदि बाह्य इन्द्रियों में होता है और बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय केवल मन के द्वारा होता है । इसीलिये प्रत्यक्ष के परस्पर अन्तर होने से बुद्धि आदि पृथिवी से लेकर आकाश तक के पाँच द्रव्यों के गुण नहीं । और न ही वे बुद्धि आदि–काल, दिशा और मन के गुण हैं क्योंकि इन तीनों द्रव्यों में विशेष गुण रहते हैं, परन्तु बुद्धि [ज्ञान] आदि सामान्य गुण हैं । इसलिये इन आठ द्रव्यों को छोड़कर–बुद्धि आदि गुणों का आश्रय परिशेष [निषेध से बच रहने] से [नवम द्रव्य] आत्मा होगा । यह नियम है कि–जो भी करण होता है वह कर्त्ता की अपेक्षा रखता है । अर्थात् कर्त्ता से नियन्त्रित किया हुआ करण [अपना] कार्य करता है । इस प्रकार ज्ञान के करण अर्थात् इन्द्रियों में जिस ज्ञान [अहं इदम् भाव] की प्रतीति होती है वह आत्मा के कारण है । इसलिये इन्द्रिय आत्मा नहीं और न ही शरीर आत्मा है क्योंकि शरीर आदि को चैतन्य अर्थात् ज्ञान वाला मानने पर तो मृत शरीर आदि को भी [जिसमें कि चेतनता नहीं देखी जाती उसके] चैतन्य मानने का प्रसंग आ पड़ेगा । इससे यह आया कि–शरीर और इन्द्रिय जो कि सर्वंशः ज्ञान रहित अर्थात् वस्तुतः जड़ हैं वे चेतन आत्मा नहीं हो सकते प्रत्युत इन शरीर–इन्द्रिय [तथा अहंकार] आदि को धारण करने वाला [अधिष्टाता] आत्मा है जो शरीर आदि से सर्वथा अलग है ।

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः । *[आत्मा]* ॥"

(२) ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण माना जाता है वह इसलिये कि–बनावट बनाये बनती है, यह है भी एक सीधी सी बात । परन्तु ऐसी बनावट कि जिसका बन सकना हम जैसे शरीरधारियों की सामर्थ्य से बाहिर हो उसके विषय में तो यह मानना ही पड़ेगा कि उसका बनाने वाला भी हमारे

जैसे शरीरधारियों के अतिरिक्त कोई और विशाल शक्ति सम्पन्न होगा उसी का नाम ईश्वर है। इस प्रकार उस विशाल शक्ति सम्पन्न विश्व कर्त्ता को-जिसके नियन्त्रण में रह कर ये सूर्य--चाँद इत्यादि सब नियत रूप से चल रहे हैं संसार का निमित्त कारण कहकर ईश्वर में अनुमान प्रमाण भी दिखा दिया गया। सूत्र में दिये गए अनुमान को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

प्रतिज्ञा—क्षिति-अंकुर आदि कर्त्ता ही के द्वारा [पैदा] किये गये होते हैं।

हेतु—कार्य होने से।

उदाहरण—जो जो कार्य होता है वह वह किसी न किसी कर्त्ता से किया [सकर्तृक] होता है। जैसे कि—कार्य 'घट' का बनना [उसके कर्त्ता अर्थात् निमित्तकारण] कुम्हार से देखा जाता है। इस प्रकार व्याप्ति सहित इस उदाहरण से यह आया कि पृथिवी अंकुर आदि का भी कर्त्ता होना चाहिये। स्पष्ट है कि हम लोग [जीव वर्ग] न तो पृथिवी बना सकते हैं और न ही अंकुर जमा सकते हैं। इसलिये हम जैसे जीव वर्ग की शक्ति से अन्य ही कोई हम से विशाल शक्ति के रखने वाला इन पृथिवी अंकुर आदि का कर्त्ता हो सकता है, वह कर्त्ता ईश्वर ही है। इस प्रकार ईश्वर के सर्वशक्तिमान और सृष्टि के कर्त्ता सिद्ध हो जाने पर यह भी स्पष्ट है कि उसमें रहने वाले—ज्ञान, इच्छा, कृति भी नित्य होंगे [प्रकृति के नित्य होने से]। और वह ईश्वर सर्वज्ञ [सभी कुछ जानने वाला] ही होगा। ऐसी श्रुति भी है—

"परमात्मा जगत्स्रष्टा, सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान्।
सच्चिदानन्दरूपश्च, ह्येको नित्यो विभुस्तथा॥"

मूल=मनसि प्रमाणं यथा, सुखादिप्रत्यक्षमिन्द्रियजन्यम् जन्यप्रत्यक्षत्वात् घटप्रत्यक्षवत्। तथा चेन्द्रियान्तरबाधे मनसः सिद्धिः।

अनुवाद=मन के अस्तित्व में [अनुमान] प्रमाण इस प्रकार है कि—सुख आदि का ज्ञान किसी इन्द्रिय द्वारा होता है, क्योंकि वह 'जन्य' [उत्पन्न हुआ]

ज्ञान है, जैसा कि—'घट ज्ञान'। इस प्रकार दूसरी [अर्थात् बाह्य] इन्द्रियों के न रहने पर [भी सुख की उपलब्धि होने से] 'मन' सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या='मन' का प्रत्यक्ष इसीलिये नहीं होता कि—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष करने के लिये उस वस्तु का महत्परिमाण और उद्भूतरूप वाला होना आवश्यक है। क्योंकि जब तक महत्परिमाण और उद्भूतरूप न हो किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ—परमाणु और द्व्यणुक जिन में कि महत् परिमाण और उद्भूत रूप नहीं पाया जाता उन दोनों का प्रत्यक्ष भी नहीं होता प्रत्युत अनुमान होता है। चक्षु आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के साथ साथ रूपरहित मन को भी एक अन्त: इन्द्रिय माना गया है। प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय मन के संयोग से अपने अपने विषय को ग्रहण करती है [क्योंकि] यह नियम है कि—एक समय में एक इन्द्रिय से एक ही ज्ञान होता है [अनेक नहीं] अर्थात् जिस समय जिस इन्द्रिय से मन सम्बद्ध होता है उस समय केवल वही इन्द्रिय अपने विषय की ग्राहक होती है [दूसरी नहीं]। इसलिये मन को अणु [परिमाण वाला] माना जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि यदि मन का अणुपरिमाण न मान कर महत्परिमाण मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह बन जायगा कि मन का 'परम महत् परिमाण' होता है। क्योंकि मन नित्य है, नित्य वस्तु का या तो अणुपरिमाण लिया जा सकता है या परममहत्परिमाण। मन का परम महत्परिमाण' मानने की दशा में तो उसका अनेक इन्द्रियों से एकसाथ सम्बन्ध हो सकने से, अनेक ज्ञान भी एक दम हो सकने की बात बीच में आ पड़ेगी जो कि वस्तुत: ठीक ही नहीं क्योंकि अनेक ज्ञान एकदम नहीं होते। इसलिये मन का 'परम महत् परिमाण' न लेकर अणुपरिमाण मानने से [जैसा कि वस्तुत: होता भी है] सब काम ठीक हो जाता है। अर्थात् अणु [परिमाण वाले] मन का एक समय में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त हो सकने के कारण—एक समय में एक इन्द्रिय से एक ही ज्ञान होता है। इस प्रकार से मन का अणुपरिमाण होने पर यह आया कि—अरूप और अणु मन का प्रत्यक्ष तो हो सकता नहीं इसलिये अनुमान ही होता है। वह अनुमान इस प्रकार से किया जाता है कि—'सुखादिसाक्षात्कार: करणसाध्य: जन्यसाक्षात्कारत्वात्

चाक्षुषसाक्षात्कारवत्'। अर्थात् सुख आदि का ज्ञान [जैसा कि, तुम्हारी या आते ही मेरा दुःख--सुख में बदल जाता है ऐसा ज्ञान] किसी इन्द्रिय [करण] से मालूम पड़ने योग्य [साध्य] है, एक जन्य [उत्पन्न हुआ] ज्ञान होने से, जो भी जन्य ज्ञान होता है वह किसी न किसी इन्द्रिय से ही साध्य होता है जैसा कि—'अयं घटः, अयं पटः' यह ज्ञान [चक्षु द्वारा] जन्य होने से चक्षु इन्द्रिय से साध्य है। वैसे ही उत्पन्न हुए सुख आदि का ज्ञान भी किसी करण [इन्द्रिय] से ही साधनीय होना चाहिये। नेत्र आदि से तो सुख का अनुभव होना सिद्ध होता नहीं क्योंकि चक्षु आदि के न रहने पर [अन्धे, बहरे, गूंगे तथा नाक रहित को] भी सुख की उपलब्धि हो जाती है। इसलिये चक्षु आदि को छोड़ कर सुख आदि की प्रतीति होने का जो करण है वह 'मन' है और वह चक्षु आदि [बाह्येन्द्रियों] से भिन्न [अर्थात् 'अन्तरिन्द्रिय'] है।

मूल=अथ द्रव्यनाशप्रक्रिया—द्रव्यनाशो द्विविधः, क्वचित् असमवायिकारणनाशात्, क्वचित् समवायिकारणनाशाच्च। तत्राद्यो यथा—परमाणुद्वयसंयोगनाशात् द्व्यणुकनाशः। द्वितीयो यथा—कपालनाशात्घटनाशः। घटनाशः उभयतः सम्भवति।

अनुवाद=अब द्रव्य अर्थात् 'कार्य' के नाश का प्रकार बताते हैं। कार्य द्रव्यों का नाश दो तरह से होता है—कहीं तो 'असमवायिकारण' के नाश से और कहीं पर 'समवायिकारण' के नाश से [कार्य नष्ट हो जाता है]। असमवायिकारण के नाश से तो इस प्रकार कि जैसे—'दो परमाणुओं का संयोग' न रहने पर 'द्व्यणुक' भी नहीं रहता। और 'समवायिकारण' के नाश से कि जैसे—'कपाल' के न रहने [नाश] से घट का भी न रहना [नष्ट हो जाना]। घट का नाश [समवायिकारण तथा असमवायिकारण के नाश से अर्थात्] दोनों प्रकार से सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या=यह नियम है कि जिस प्रकार 'समवायिकारण' के नाश से कार्य का नाश होता है ठीक उसी प्रकार 'असमवायिकारण' के नाश से भी कार्य का नाश होता है। इसलिये कार्यनाश के दो प्रकार हो गए, एक तो यह कि—जिस कार्य का जो समवायिकारण हो वह यदि नष्ट हो जाय तो उसका

कार्य भी नष्ट हो जायगा और दूसरा यह कि—समवायिकारण तो नष्ट हो नहीं, परन्तु असमवायिकारण यदि नष्ट हो जाय तो उसके साथ साथ कार्य भी नष्ट जायगा। इस प्रकार समवायिकारण के नाश से तथा असमवायिकारण के नाश से—इन दोनों में से किसी भी एक के न रहने पर कार्य नहीं रह सकता। जैसा कि—'पट' का समवायिकारण 'तन्तु' [तागे] हैं और असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' [गुण] है। जिन तन्तुओं में पट समवेत है अर्थात् पट के जो समवायिकारण हैं वे यदि जलाकर नष्ट कर दिये जायें तो स्पष्ट है कि पट भी नहीं रहेगा और तन्तु नष्ट न भी हों परन्तु उनका परस्पर संयोग यदि न रहे [अर्थात् तन्तु अलग २ कर लिये जायें] तो भी पट नष्ट हो जायगा। इस प्रकार कार्य का नाश कहीं पर तो उसके—समवायिकारण के नाश से और कहीं पर असमवायिकारण के नाश से होता है। पट, घट इत्यादि स्थूल कार्यों का नाश दोनों प्रकार से सिद्ध हो जाता है। परन्तु द्व्यणुक जोकि एक 'सूक्ष्म' कार्य है उसके समवायिकारण अर्थात् परमाणुओं के नित्य होने से, उन परमाणुओं का नाश तो कहा ही नहीं जा सकता इसलिये द्व्यणुक का नाश केवल उसके असमवायिकारण अर्थात् 'दो परमाणु का संयोग' न रहने पर होता है। इससे यह आया कि—जहां समवायिकारण नित्य हो वहां तो केवल 'असमवायिकारण' के नाश से कार्य का नाश होता है और जहां पर समवायिकारण उत्पत्तिविनाश शील हो वहां पर ससवायिकारण के नाश से तथा असमवायिकारण के नाश से अर्थात् दोनों तरह से कार्य का नाश हो सकता है।

मूल=आकाशकालदिगात्मपरमाणवोऽवृत्तयः, समवायश्च। पृथिव्यादिपञ्चानां भूतत्वम्, पृथिवीजलतेजोवायुमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वे। पृथिव्यप्तेजोवायवो द्रव्यसमवायिकारणानि। दिशो कालस्य—कालिकसम्बन्धेन, सर्वाधिकरणत्वम्। दिशो दैशिकसम्बन्धेन सर्वाधिकरणत्वम्। इति द्रव्यनिरूपणम्॥

अनुवाद=आकाश, काल, दिशा, आत्मा और परमाणु तथा समवाय

[ये अवयव रहित अर्थात् कारण रहित होने से] किसी में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते। पृथिवी आदि [पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश इन] पाँचों का साधर्म्य [एकसा धर्म] 'भूतत्व' है ['भूत होना' है अर्थात् ये पाँचों 'भूत' हैं] और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन का समानधर्म 'क्रिया वाला होना' और 'मूर्त्त [अविभु] द्रव्य होना' है। पृथिवी, जल, तेज, और वायु [ये चारों] प्रत्येक काय द्रव्य [व्यवहार में आने वाले सब पदार्थों] के समवायिकारण [जिन में कार्य उत्पन्न हो ऐसे कारण] होते हैं। काल का प्रत्येक वस्तु के साथ कालिक [विशेषणता रूप] सम्बन्ध होने से सर्वाधिकरणत्व [सर्व आधारता] है। दिशा की भी दैशिक [विशेषणता रूप] सम्बन्ध से सबके प्रति अधिकरणता है। यहां तक 'द्रव्य का वर्णन समाप्त' हुआ।

व्याख्या = न्याय वैशेषिक के मत में–अवयव कारण होते हैं और अवयवी कार्य। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने अवयवों [कारणों] में समवाय सम्बन्ध से रहता है [आश्रित होता है]। आकाश-काल-दिशा-आत्मा और [पृथिवी आदि चार के] परमाणु नित्यद्रव्य कहलाते हैं, नित्य द्रव्यों के अवयव नहीं हुआ करते इसलिये वे [निरवयव अर्थात्] कारण रहित होने से, किसी में समवाय सम्बन्ध से [आश्रित] नहीं रहते। समवाय भी स्वरूपतः रहने से [किसी में] समवाय आदि सम्बन्ध से नहीं रहता। नौ द्रव्यों में से–काल, दिशा, आत्मा और मन-इन चारों के सिवाय जो बाकी के–पृथिवी से लेकर आकाश तक के पाँच द्रव्य 'पञ्चभूत' कहलाते हैं, इन पाँचों भूतों में रहने वाला धर्म 'भूतत्व' कोई जाति नहीं अपितु केवल उपाधि है, न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार [यहां] 'भूतत्व' का अर्थ है बाह्येन्द्रियों से ग्रहण होने के योग्य विशेष गुण वाला होना, बाह्य इन्द्रिय नाक, जीभ, नेत्र, त्वचा और कान ये पाँच हैं इस प्रकार इनसे ग्राह्य विशेष गुण क्रमशः गन्ध-रस-रूप-स्पर्श और शब्द हैं [आत्मा में रहने वाले ज्ञान आदि विशेष गुण बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते] काल आदि में कोई विशेष गुण रहते ही नहीं, इसलिये 'भूतत्व' का लक्षण केवल–पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश [इन पाँचों] में ठीक ठीक घट जाता है। और 'मूर्त्तत्व' का अर्थ है 'परिच्छिन्न, सीमित या अविभु परिमाण वाला होना' आकाश से लेकर आत्मा

क के चार द्रव्यों का असीमित, अपरिच्छिन्न या विभुपरिमाण होता है इसलिये उनको छोड़कर बाकी के—पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन [ये पाँच] 'सीमित परिमाण' वाले अर्थात् 'मूर्त' द्रव्य हैं और क्रिया युक्त होते हैं। जिस में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कार्य उत्पन्न हो उसको समवायिकारण कहा जाता है, नौ द्रव्यों में से केवल—पृथिवी, जल, तेज और वायु—ये चार द्रव्य परमाणु वाले द्रव्य होने से इनसे ही क्रमशः द्व्यणुक इत्यादि से लेकर आगे के नये नये द्रव्य बनते जाते हैं, आकाश-काल-दिशा और आत्मा सर्वत्रव्यापक पदार्थ हैं और उनसे कोई नया [आगे का] द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, इससे यह आया कि—पृथिवी आदि चार द्रव्य ही किसी कार्य द्रव्य के समवायिकारण होते हैं। प्रत्येक नित्य पदार्थ के सब देशों और सब कालों में विद्यमान होने के कारण और वैसे ही प्रत्येक अनित्य पदार्थ के भी किसी न किसी देश तथा काल में वर्त्तमान रहने के कारण 'काल और दिशा' का सभी नित्यानित्य पदार्थों के साथ जो सर्व अधिकरणत्व [सबका आश्रय होना] है वह केवल 'कालिक और दैशिक' विशेषणता रूप सम्बन्ध से ही समझना चाहिये, क्योंकि वे सब पदार्थ किसी और सम्बन्ध *समवाय आदि* से काल तथा दिशा में नहीं रहते हैं। यहां तक प्रथम पदार्थ 'द्रव्य' का वर्णन समाप्त हो चुका। इसके आगे दूसरे पदार्थ '*गुण*' को बताना प्रारम्भ करते हैं—

मूल=अथ गुणाः कथ्यन्ते—'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्न-गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाश्चतुर्विंशतिर्गुणाः'। अत्र रूपत्वादीनि सर्वाण्येव जातयः। रूपं पृथिवीजलतेजोवृत्ति तच्च शुक्लकृष्णरक्तपीतचित्रादिभेदेन बहुविधं पृथिवीवृति। अभास्वरशुक्लरूपं जलवृत्ति। शुक्लभास्वरं तेजोवृत्ति। रसः पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र मधुरलवणकटुतिक्ताम्लकषायभेदात् षड्विधो रसः पृथिव्याम्। जले मधुर एव रसः।

अनुवाद=अब 'गुण' कहे जाते हैं—(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न (१८) गुरुत्व (१९) द्रवत्व (२०) स्नेह (२१) संस्कार (२२) धर्म (२३) अधर्म, और (२४) शब्द'—ये चौबीस गुण हैं। इनमें 'रूपत्व' [अर्थात् 'रूप' में 'रूपत्व'-'रस में रसत्व'—'गन्ध में गन्धत्व'] इत्यादि सभी जातियां हैं। 'रूप' गुण—'पृथिवी, जल और अग्नि' [केवल इन तीनों द्रव्यों] में रहता है। और वह रूप—सफेद, काला, लाल, पीला, चित्र [कर्बुर] और नीला वा हरा [इन वर्णों] के भेद से 'अनेक अर्थात् सातों' प्रकार का तो पृथिवी में पाया जाता है। चमकरहित सफेद रूप-ऐसा गुण जल ही में रहता है। और चमकदार सफेदरूप [केवल] तेज में पाया जाता है। रस 'गुण' [केवल] पृथिवी और जल में रहता है। उन दोनों में से—'पृथिवी' में तो (१) मीठा (२) नमकीन (३) कड़वा (४) तीखा (५) खट्टा, और (६) कसैला-इस भेद से छः तरह का रस पाया जाता है। और 'जल' में केवल [एक] 'मीठा' ही रस होता है।

मूल=गन्धो द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च, पृथिवीमात्रवृत्तिः। स्पर्शः पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः—शीतः, उष्णश्च अनुष्णाशीतश्च। अनुष्णाशीतस्पर्शो वायुपृथिव्योः, जले-शीतः, तेजसि—उष्णः। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा—नव द्रव्यवृत्तयः। परत्वापरत्वे—पृथिवीजलतेजोवायुमनोवृत्तिनी। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नभावनाधर्माधर्म—आत्मवृत्तयः।

अनुवाद=गन्ध 'गुण' दो ही प्रकार का होता है, एक तो—'सुरभि [सुगन्ध]' और दूसरा—'असुरभि [दुर्गन्ध]'। ये दोनों तरह का 'गन्ध' मात्र पृथिवी [प्रत्येक पृथिवीत्व वाले पदार्थ] में [किसी पदार्थ में सुगन्ध और किसी में दुर्गन्ध] रहता है। स्पर्श 'गुण' पृथिवी आदि चार [पृथिवी-जल-वायु और अग्नि] में ही पाया जाता है। और वह 'स्पर्श' तीन तरह का ही होता है—(१) शीत [ठंडा], (२) उष्ण [गर्म] और (३) 'अनुष्ण-अशीत' [न गर्म और न ठंडा]।

'अनुष्णाशीत' स्पर्श केवल 'वायु और पृथिवी'में,–'शीत [स्पर्श]' केवल 'जल' में और 'उष्ण' [स्पर्श] केवल अग्नि में–पाया जाता है। 'संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग और विभाग [ये पाँचों गुण पृथिवी आदि] नौ द्रव्यों में पाए जाते हैं। 'परत्व' और 'अपरत्व' [ये दोनों गुण] पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में [अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होते] रहते हैं। 'बुद्धि' [अर्थात् 'ज्ञान']. सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, भावना, धर्म और अधर्म [ये नौ गुण] जीवात्मा में रहते हैं।

मूल=गुरुत्वं-पृथिवीजलवृत्ति। द्रवत्वं-पृथिवीजलतेजोवृत्ति। तत् द्विविधम्-नैमित्तिकं, सांसिद्धिकञ्च। आद्यं-पृथिवीतेजसोः, द्वितीयं–जले। स्नेहो–जलमात्रवृत्तिः। संस्कारः पृथिवीजलतेजोवाय्वात्ममनोवृत्तिः। स त्रिविधः–वेगः,भावना, स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः, द्वितीय आत्मवृत्तिः, तृतीयः पृथिव्यादि चतुष्टयवृत्तिः।

अनुवाद=*गुरुत्व* 'गुण' [भार 'ऐसा धर्म'] केवल 'पृथिवी और जल' [इन दो] में पाया जाता है 'द्रवत्व' गुण [पानी की तरह पतला होना, यह धर्म] केवल 'पृथिवी–जल और तेज' [इन तीनों] में पाया जाता है। वह 'द्रवत्व' दो प्रकार का होता है–एक तो 'नैमित्तिक' [किसी के द्वारा होने वाला] और दूसरा 'सांसिद्धिक' [स्वयंसिद्ध या द्रवस्वरूप]। पहला अर्थात् '*नैमित्तिक-द्रवत्व*' तो पृथिवी [घृत आदि पार्थिव पदार्थ] और तेज [सुवर्ण आदि तैजस] में रहता है। द्वितीय अर्थात् '*सांसिद्धिक-द्रवत्व*' केवल जल में ही पाया जाता है। '*स्नेह*' [चिकनापन] केवल 'जल' में पाया जाता है। '*संस्कार*' [नामक गुण] 'पृथिवी-जल-तेज-वायु-आत्मा और मन' [इन पाँच द्रव्यों] में रहता है। और वह तीन प्रकार का होता है—(१) *वेग* [आत्मक संस्कार], (२) *भावना* [आत्मक संस्कार] और (३) *स्थितिस्थापक* [आत्मक संस्कार]। उन तीनों में से–'वेग' नामक संस्कार तो 'पृथिवी आदि चारों [अर्थात् पृथिवी-जल-तेज और वायु]' तथा मन [इन पाँच द्रव्यों] में रहता है। 'भावना' नामक संस्कार केवल-'आत्मा' में ही

रहने वाला गुण है। और 'स्थितिस्थापक' नामक संस्कार—पृथिवी आदि 'चा' में पाया जाता है।

मूल=शब्दो द्विविधः—ध्वन्यात्मकः, वर्णात्मकश्च आकाशमात्रवृत्तिः। रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वशब्द बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावना विशेषगुणाः। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेग-स्थितिस्थापकाः सामन्यगुणाः।

अनुवाद==शब्द दो ही प्रकार का है—एक तो '*ध्वनिमय*' शब्द [किसी वस्तु पर चोट के पड़ने से वा वायु आदि के चलने से सुनाई देने वाला शब्द] और दूसरा '*वर्णमय*' शब्द [अव्यक्त शब्द को व्यक्त करने के लिये जो क-ख इत्यादि वर्णमाला में बोलचाल के लिये प्रयोग में लाया गया शब्द] वह ['शब्द' आकाश ही का गुण होने से] केवल आकाश में [आश्रित] रहता है। 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-स्नेह-सांसिद्धिक [स्वाभाविक] द्रवत्व—शब्द-बुद्धि [ज्ञान]-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-यत्न-धर्म-अधर्म और भावना ये सोलह '*विशेष-गुण*' [असाधारण-धर्म] कहलाते हैं। 'संख्या—परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-गुरुत्व-नैमित्तिक द्रवत्व-वेग-और स्थितिस्थापक' ये नौ '*सामान्य-गुण*' [साधारण—धर्म] कहे जाते हैं।

मूल=अथ नित्यगुणाः—जलतेजोवायुपरमाणूनां विशेषगुणाः, परमाणुवृत्तिस्थितिस्थापकश्च, विभूनां—परमाणूनाञ्च एकत्वपरिमाणपृथक्त्वानि, ईश्वरेच्छाज्ञानकृतयश्च, नित्यगुणा

अनुवाद=अब नित्य गुणों को बताते हैं—जल, तेज और वायु के परमाणुओं के विशेषगुण तथा परमाणु में रहने वाला 'स्थितिस्थापक नामक संस्कार' तथा 'विभु [आकाश आदि विभु] द्रव्यों के, और परमाणुओं के' जो-एकत्व, 'परिमाण [अर्थात् आकाश आदि का परममहत्परिमाण और परमाणुओं का अणुपरिमाण]' तथा पृथक्त्व—ये 'नित्यगुण' कहलाते हैं। ईश्वर—के इच्छा [जो भी चाहे], ज्ञान [सब कुछ जानने की शक्ति] और कृति [क्रियासामर्थ्य]

नित्य होते हैं।

मूल=अथाप्रत्यक्षगुणाः-गुरुत्वधर्माधर्मभावनास्थितिस्थापकाः परमाणुद्व्यणुकवृत्तिगुणाः,— अतीन्द्रियवृत्तिसामान्यगुणः, त्रसरेणोरूपं विहाय अन्ये गुणाः अतीन्द्रियाः।

अनुवाद=अब अप्रत्यक्ष [प्रत्यक्ष के अयोग्य] गुणों को बताते हैं— गुरुत्व [भार], धर्म [पुण्य], अधर्म [पाप], भावना [मन में किसी प्रकार का चिन्तन करना], स्थितिस्थापक [जिससे दूसरी अवस्था में गई कोई वस्तु अपनी पहली स्थिति में आ जाय], परमाणु और द्वयणुक में पाये जाने वाले सब गुण, अतीन्द्रिय पदार्थों में रहने वाले सामान्य-गुण [प्रत्यक्ष न हो सकने वाले पदार्थों में रहने वाले साधारण धर्म], और रूप को छोड़कर त्रसरेणु के बाकी गुण अतीन्द्रिय अर्थात् अप्रत्यक्ष माने जाते हैं।

मूल=रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहप्रत्यक्षे महद्वृत्तित्वे सति उद्भूतत्वं प्रयोजकम्। सामान्यगुणप्रत्यक्षे, त्वाश्रयप्रत्यक्षम्। बुद्धिप्रत्यक्षे स्ववृत्तिविशिष्टज्ञानत्वम्, सुखादिप्रत्यक्षे स्ववृत्तिसुखत्वादिकमेव। अन्त्याद्यशब्दौ विहाय सर्वः शब्दः प्रत्यक्षः।

अनुवाद=रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और स्नेह [क्रमशः अपनी-अपनी इन्द्रिय—चक्षु, रसना, नासिका और त्वक् से] तभी प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं जबकि जिस जिस वस्तु में ये गुण पाये जाते हैं वह वस्तु महत् परिमाण [परिच्छिन्न परिमाण] से युक्त हो तथा उद्भूतरूप [स्पष्टतया प्रतीत हो सकने] वाली हो। सामान्यगुण के ग्रहण करने में उसके आश्रय [जिसमें कि वह रहता हो उस] का प्रत्यक्ष कारण होता है। बुद्धि के प्रत्यक्ष में कारण 'स्व' अर्थात् 'बुद्धि' में रहने वाला 'विशिष्टबोध [अनुभव तथा स्मरण ज्ञान] है। सुख के प्रत्यक्ष में 'स्व' अर्थात् 'सुख' में रहने वाला 'सुखत्व' [सुख होना या सुख का प्रतीत होना] कारण है। ऐसे ही 'दुःख' आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिये। 'अन्त्य' ['अन्तिम' अर्थात् तीसरे क्षण में समाप्त हो चुके] और 'आद्य' [प्रथम क्षण में

उत्पन्न होने वाले] शब्द को छोड़कर [बाकी रहा बीच का] सब शब्द सुनाई पड़ता है [ध्यान देना चाहिये कि किसी जगह पर उत्पन्न हुआ शब्द सीधे चलकर हमारे कान तक नहीं पहुँचता अपितु पहला शब्द अगले शब्द को पैदा करता है और उस अगले शब्द से पहले शब्द का नाश हो जाता है इसलिये पहला क्षण 'उत्पत्ति', दूसरा क्षण 'स्थिति' और तीसरा क्षण शब्द के विनाश का है]।

मूल==अथ गुणोत्पत्ति प्रक्रिया,—अवयववृत्तिविशेषगुणाः अवयविनि स्वसमानजातीयगुणानारभन्ते। पृथिवीविशेषगुणाः पाकजाः, ते द्विविधाः—पाकप्रयोज्याः, पाकजन्याश्च। कारणगुणप्रक्रमजन्याः, अग्निसंयोगजन्याः द्वितीयाः।

अनुवाद—जिस तरह से '*गुण उत्पन्न होता है*' उसी प्रकार [तरीके] को अब बताते हैं। अवयव [कारण] में रहने वाले 'विशेषगुण' अवयवी [कार्य] में 'अपने समानजातीय' [अपने जैसे] गुणों को उत्पन्न कर देते हैं। पृथिवी में पाए जाने वाले [रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चारों] विशेषगुण '*पाकज*' [अग्नि संयोग अर्थात् पाक द्वारा उत्पन्न हुए] होते हैं, और वे दो प्रकार के होते हैं-एक तो '*पाकप्रयोज्य*' [पाक के द्वारा होने का अनुमान कर लेने से व्यवहार में लाए गए] और दूसरे '*पाकजन्य*' [जिन के पाक से उत्पन्न होने की साक्षात् अभिव्यक्ति हो ऐसे] होते हैं। पहला प्रकार जो—कारणगुण के उपक्रम से पैदा होने का है [वह यह है कि—'कार्य' द्रव्य के रूप इत्यादि गुण कारण पूर्वक होते हैं अर्थात् कार्य में गुण उसके कारण से आते हैं] और द्वितीय 'पाकजन्य [पाकज] तो अग्नि सामान्य अर्थात् तेजमात्र के संयोग से उत्पन्न होते हैं, ऐसा क्रम है।

व्याख्या= *ऐसा जो नियम कि-कारण के गुण कार्य में पाय जाते [प्रविष्ट होते]* हैं तभी लागू हो सकता है जबकि अवयव अर्थात् कारण में जिस प्रकार का गुण हो उससे उत्पन्न हुए अवयवी अर्थात् कार्य का गुण भी उसी प्रकार का हो। जैसा कि यहां—कहा गया है कि अवयवी [कार्य] में आने वाला गुण उसके अपने कारण [अवयव] में रहने वाले गुण के जैसा [समानजातीय] ही होता है। कारण के गुण की कार्य में आजाने की प्रक्रिया क्या है इसे बताते हैं-

मूल = "श्यामघटे अग्निसंयोगेन श्यामरूपनाशानन्तरं घटेरक्तं रूपमुत्पद्यते" इति नैयायिकमतम् । "अग्निसंयोगेन परमाणौ पाके सति परमाणुषु रक्तरूपमुत्पद्यते, पुनर्घटोत्पत्तौ सत्यां कारणगुणप्रक्रमेण घटे रक्तरूपमुत्पद्यते" इति वैशेषिकमतम् । कपालं नीलमेकं, पीतञ्चैकं यदि, तदा घटे चित्ररूपमुत्पद्यते । सादावेवं सति अवयविनि रसो न जायते चित्ररसाद्यस्वीकारात् ।

अनुवाद = श्याम [साँवले, रंग के कच्चे] घड़े में अग्निसंयोग के द्वारा वह श्यामरूप नष्ट होकर उसी घट में लालरूप उत्पन्न हो जाता है–ऐसा नैयायिकों का मत [आशय] है । अग्नि संयोग से [कच्चे घड़े के पकते समय उसके परमाणु एक बार अलग अलग हो जाते हैं फिर उन] परमाणुओं में पकावट आने के साथ साथ प्रत्येक [विभक्त] परमाणु में रक्तरूप उत्पन्न होता है उसके बाद [उन पके हुए लाल अणुओं के संयोग से लाल] घट की उत्पत्ति होती है इसी तरह 'कारण' अर्थात् 'अवयव' के गुण [लाल रूप] से 'कार्य' अर्थात् 'घट–अवयवी' में लाल रूप उत्पन्न हो जाता है ऐसा वैशेषिक [दर्शन] का सिद्धान्त है । यदि एक कपाल नीला हो और एक पीला हो तो [उन दोनों कपालों से बनने वाले] घट में चित्र रूप की उत्पत्ति होती है । [परन्तु] रस आदि में ऐसा यदि हो जाय [अर्थात् खट्टे, मीठे बहुत से रस कहीं पर यदि एकत्रित हो जाते हैं] तो वहां पर अवयवी में [किसी और] रस की उत्पत्ति नहीं मानी जायगी क्योंकि चित्ररस [कई रसों से मिला हुआ एक नया रस] आदि माना ही नहीं जाता है ।

व्याख्या = पृथिवी में पाए जाने वाले 'रूप-रस-गन्ध और स्पर्श' ये चार ही गुण 'पाकज' अर्थात् अग्निसंयोग से उत्पन्न माने जाते हैं ।

उदाहरणार्थ—वृक्ष पर लगे कच्चे फल का पहले हरा रंग होता है पीछे पककर पीला या लाल आदि रंग हो जाता है । फलों के पकने [पाक] का कारण 'सूर्य' रूपी अग्नि का संयोग स्पष्ट है । इसी प्रकार कच्चा घड़ा भी जब 'आवा' में पकाया जाता है तो उसका पहला अर्थात् श्यामरूप नष्ट होकर

उसमें एक नया अर्थात् लालरूप उत्पन्न हो जाता है। इससे यह आया-कि पार्थिव पदार्थ में अग्निसंयोग से रूप बदलता रहता है। अग्निसंयोग के द्वारा रूप बदलने के बारे में न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र की प्रक्रिया कुछ अलग-अलग सी है। वैशेषिक के सिद्धान्त अनुसार—पहले रूप का नाश और दूसरे रूप की उत्पत्ति [ये दोनों अवस्थाएं केवल] पृथिवी के अणुओं में होती हैं। इसलिये 'पाकजोत्पत्ति' के बारे में वैशेषिक दर्शन का यह सिद्धान्त '*पीलुपाक*' सिद्धान्त कहलाता है। 'पीलू' शब्द का अर्थ है 'परमाणु' उसका 'अग्निसयोग से पाक'। परन्तु नैयायिकों के मत में—पहले रूप का नाश और नये रूप का उत्पन्न होना, कार्य-द्रव्य अर्थात् घट में ही हो जाता है। इसलिये न्याय का यह सिद्धान्त '*पिठरपाक*' कहलाता है। 'पिठर' शब्द का अर्थ है बर्त्तन=घट, उसका पाक। जैसे-

वैशेषिक का पीलुपाक—

'अवयव' [कारण] के गुण 'कार्य' [अवयवी] में आ जाते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि—श्यामघट' का 'श्यामरूप' उसके कारण अर्थात् 'कपालों के श्यामरूप' से आया है। और कपालों में श्यामरूप उनके अपने अवयवों से, इसी क्रम से कच्चे घट के त्रसरेणु, द्व्यणुक तथा अणु में भी श्यामरूप पाया जाता है। घट का श्यामरूप नष्ट होकर उसमें लालरूप का प्रवेश हो सकने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि—घट के अवयव जोकि परस्पर बिल्कुल संघटित होते हैं उनमें कुछ थोड़ा सा अन्तर आ जाय जिससे कि उनके बीच अग्नि जा सके। इसीलिये वैशेषिक का यह सिद्धान्त है कि पकते समय घट के अणुओं का घटारम्भक संयोग छूट जाता है जिसके छूटने से कच्चा घड़ा 'आवा' में [एक बार] नष्ट हो जाता है। अर्थात् घट का प्रत्येक अणु अलग अलग हो जाता है। फिर उस प्रत्येक विभक्त अणु में श्यामरूप का नाश होकर उनमें नया अर्थात् लालरूप उत्पन्न होने लगता है। अणुओं में लालरूप उत्पन्न हो जाने पर, प्राणियों के अदृष्ट द्वारा उन लाल अणुओं के संयोग पूर्वक [द्व्यणुक आदि क्रम से] फिर से एक नया अर्थात् लालघट उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अणुओं का 'पाकज' लालरूप क्रमशः घट में आ जाता है। इसी को '*पीलुपाक*' अर्थात् परमाणुओं का [अग्नि संयोग से] पाक कहते हैं।

न्याय का पिठरपाक—

नैयायिकों का मत है कि—अग्निसंयोग से कच्चे घड़े के अणुओं का अलग अलग होकर घट का नष्ट हो जाना और फिर से नया घट बनना दिखाई नहीं देता, इसलिये 'पहले द्रव्य अर्थात् घट' का नाश होकर दूसरे घट के बनने की कल्पना करने या बढ़ाने में व्यर्थ की सी लम्बाई मालूम पड़ती है। सीधी बात यही है कि—नए सिरे से घट की उत्पत्ति न होकर प्रत्युत उसी घट के रहते हुए ही पकते समय उसके पहले रूप का नाश होकर उसमें दूसरा रूप उत्पन्न हो जाता है। अतएव नैयायिक '*पिठर*' अर्थात् '*पिण्ड*' में ही पाक मानते हैं।

मूल==गुरुत्वस्थितिस्थापकयोश्च कारणगुणप्रक्रमजन्यता। द्वित्वादयोऽपेक्षाबुद्धिजन्याः। परिमाणं चतुर्विधम्–"अणु,-महत्, ह्रस्वम्, दीर्घश्च"। कारणगुणप्रक्रमजन्यं–स्वावयवबहुत्वं महत्त्वजनकं, यथा–त्रसरेणूनाम्। अवयवानां शिथिलः संयोगः प्रचयोऽपि तज्जनकः, यथा–तूलस्य परिमाणम्।

अनुवाद=गुरुत्व और स्थितिस्थापक नामक गुण की उत्पत्ति [*जन्यता*] कारणगुण–पूर्वक होती है। '*अपेक्षाबुद्धि*' [यह एक है, यह एक है, इस प्रकार से दो 'इकाईयों' के साथ साथ प्रत्यक्ष होने] से 'द्वित्व' इत्यादि [संख्याओं] का जन्म होता है। परिमाण चार प्रकार का होता है—(१) अणुपरिमाण (२) महत् परिमाण (३) ह्रस्व परिमाण, और (४] दीर्घ परिमाण। [कार्यगत चारों प्रकार के] परिमाण [गुण] का जन्म कारण के गुण से होता है जैसा कि–त्रसरेणु के महत्परिमाण [गुण] का जनक [उत्पादक] 'स्व' अर्थात् 'त्रसरेणु' उसके 'अवयव' [कारण] अर्थात् 'द्व्यणुक' का 'बहुत्व' [गुण] है। अवयवों के ढीले ढीले-से संयोग [*शिथिलसंयोग*] जिसको कि '*प्रचय*' कहा जाता है वह भी उस [महत्परिमाण] का 'जनक' [कारण] होता है, जैसे कि–तूल अर्थात् रुई के [महत्] परिमाण का [जन्म अपने 'आश्रय' अर्थात् रुई-पिण्ड के 'समवायिकारण' रूप अवयवों के '*प्रचय*' से होता है]।

व्याख्या=प्रत्येक कार्य-द्रव्य के रूप आदि गुण-कारणगुण पूर्वक होते हैं [अर्थात् कार्य में गुण-कारण के गुणों से आते हैं]। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि श्यामघट का श्यामरूप उसके कारण कपालों के श्यामरूप से आया है। और कपालों का श्यामरूप उनके अपने अपने अवयवों के श्यामरूप से। इसीप्रकार गुरुत्व और स्थितिस्थापक 'गुण' भी अपने अपने आश्रय [जिनमें वे दिखाई पड़ते हैं उस उस कार्य-द्रव्य अर्थात्] अवयवी में उसके कारण अर्थात् अवयवों के बहुत्व [गुण] से आकर प्रादुर्भूत होते हैं। गुरुत्व [भार] पृथिवी और जल में रहता है। स्थितिस्थापक गुण [जिसके कारण दूसरी अवस्था में चला गया कोई पार्थिव पदार्थ फिर अपनी पहली स्थिति को प्राप्त हो जाता है वह गुण] केवल पृथिवी आदि चारों में रहता है। 'संख्या' जोकि [एक] सामान्य गुण है-प्रत्येक द्रव्य में पाई जाती है। और वह एक से लेकर परार्द्ध तक मानी गई है [किन्तु उससे आगे की संख्या भी ली जा सकती है]। 'एकत्व' संख्या पदार्थों में स्थिर रूप से पाई जाती है। नित्य पदार्थ [परमाणु तथा आकाश इत्यादि] में रहने वाली 'एकत्व-संख्या' [इकाई] तो नित्य, और अनित्य पदार्थ [घट पट इत्यादि] में रहने वाली 'एकत्व' संख्या अनित्य मानी जाती है। परन्तु 'द्वित्व' और उससे आगे की संख्याएं [सर्वत्र] अनित्य ही होती हैं। ध्यान देना चाहिये कि यह 'द्वित्व' [दो की कल्पना] इत्यादि संख्याएं किसी भी जगह स्थिर रूप से नहीं रहतीं प्रत्युत बाह्य पदार्थ में द्रष्टा की 'अपेक्षा-बुद्धि' से सिर्फ़ तीन क्षण के लिये [वे 'द्वित्व' आदि सब सख्याएं] पैदा होती हैं। जैसे कि 'द्वित्व' की उत्पत्ति-'यह पदार्थ एक है, यह पदार्थ एक है' इस प्रकार दो इकाइयों को साथ साथ विषय बनाने वाला ज्ञान, जिसको '*अपेक्षाबुद्धि*' कहते हैं उसी से होती है। 'द्वित्व' के प्रति दोनों पदार्थ [तो] *समवायिकारण*, दोनों पदार्थों में रहने वाले 'एकत्व' *असमवायिकारण* और 'अपेक्षा-बुद्धि' [अर्थात् '*अयमेकः अयमेकः*' यह ज्ञान] '*निमित्तकारण*' होते हैं। और उस 'अपेक्षाबुद्धि' का विनाश होते ही 'द्वित्व' का भी विनाश हो जाता है। इसी क्रम को द्वित्व से आगे की [त्रित्व आदि सब] संख्याओं की उत्पत्ति [और विनाश] के बारे में भी लगा लें।

मान व्यवहार के असाधारण कारण [ऐसे गुण या धर्म] का नाम 'परिमाण' है। वह [परिमाण] अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ-भेद से चार प्रकार का माना गया है। इनमें से ह्रस्व और दीर्घ नाम के ये दोनों परिमाण क्रमशः अणु और महत् परिमाण के साथ साथ पाए जाते हैं। अर्थात् जहां 'अणु' परिमाण वहीं 'ह्रस्व' और जहां 'महत्' परिमाण है वहीं 'दीर्घ' व्यवहार होता है। इसीलिये व्यावहारिक दृष्टि से दो ही परिमाण लिये जाते हैं अर्थात् 'अणुपरिमाण' और दूसरा 'महत्परिमाण'। *अणुपरिमाण*–केवल अणु तथा द्वयणुक में रहता है अर्थात् एक ऐसा परिच्छिन्न छोटे से छोटा परिमाण जो हमारे अनुभव का विषय बन ही नहीं सकता वह अणुपरिमाण कहलाता है। और *महत्परिमाण*–त्र्यणुक से लेकर प्रत्येक वस्तु जोकि हमारे अनुभव में आ सकती है, अर्थात् दिखाई पड़ने वाले सबसे छोटे कण [त्र्यणुक] और बड़े बड़े पहाड़ या कोई अन्य वस्तु [पिण्ड] चाहे वह करोड़ों, अरबों मील लम्बी-चौड़ी ही क्यों न हो सब में महत् परिमाण ही रहता है। किन्तु जन्य महत्परिमाण के सिवाय एक दूसरा अर्थात् विभुपरिमाण भी होता है जिसे *परममहत्परिमाण* कहते हैं और वह आकाश-काल-दिशा तथा आत्मा [इन चार] सर्वव्यापक पदार्थों में रहता है। इस प्रकार महत्परिमाण और परम महत् परिमाण [दोनों] के लिये साधारणतया 'महत्परिमाण' शब्द को प्रयोग में लाया जाता है। कार्य के गुण कारण [गुण] पूर्वक होते हैं इसी बात को परिमाण के बारे में इस प्रकार से समझा जा सकता है कि–'कार्य' द्रव्य में पाया जाने वाला [उपरोक्त] अणु आदि चारों प्रकार का परिमाण क्रमशः (१) संख्यायोनि (२) परिमाणयोनि, और (३) प्रचययोनि-परिमाण होता है। जैसे कि–द्वयणुक का [जन्य] अणुपरिमाण [गुण] दो अणुओं में रहने वाली 'द्वित्व' संख्या से पैदा होने के कारण 'संख्या-योनि' अर्थात् संख्या [गुण] कारणक होता है। इसके बाद तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक बनता है उस त्र्यणुक का [महत्] परिमाण भी द्वयणुक के [अणु] परिमाण से पैदा नहीं होता [क्योंकि अणुपरिमाण कदापि महत्परिमाण का कारण नहीं बन सकता–यह पीछे बताया जा चुका है] इसलिये त्र्यणुक का महत्परिमाण

द्व्यणुक के अणुपरिमाण से उत्पन्न न होकर प्रत्युत तीन द्व्यणुकों में रहने वाली 'त्रित्व' संख्या से उत्पन्न होता है। त्रित्व और उसके आगे की संख्याएं 'बहुत्व' मानी जाती हैं। न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त अनुसार 'बहुत्व' संख्या भी महत्परिमाण को उत्पन्न करती है। अतएव त्र्यणुक का महत्परिमाण तीन द्व्यणुकों में रहने वाली 'त्रित्व' संख्या [जो कि 'बहुत्व' संख्या है उस] से पैदा होने के कारण '*संख्या-योनि*' ही है। इसके बाद चतुरणुक का परिमाण [त्र्यणुक के परिमाण जैसा बढ़ा हुआ होने के कारण] अपने आश्रय अर्थात् 'चतुरणुक' के समवायिकारण 'त्र्यणुक' के परिमाण से पैदा होता है। इसीलिये चतुरणुक [आदि] का यह परिमाण '*परिमाण-योनि*' [परिमाण कहलाता] है। रुई का 'परिमाण' अपने आश्रय अर्थात 'रुई [पिण्ड] के समवायिकारण रूप अवयवों के प्रशिथिल संयोग से उत्पन्न माना जाता है। इसलिये रुई [तूल] का यह परिमाण '*प्रचय-योनि*' कहा जाता है [*प्रचय* का अर्थ 'शिथिल अवयव संयोग' है]। इसी प्रकार से अवयवों का शिथिलसंयोग अर्थात् '*प्रचय*' भी [रुई के समान ढीली-ढाली वस्तुओं के] महत्परिमाण का कारण बन जाता है।

मूल=पृथक्त्वं-कारणगुणप्रक्रमजन्यम्। ननु तत्र किं प्रमाणम्? घटात् पटः पृथगिति प्रत्यक्षम्। तस्य अन्योन्याभावविषयकत्वमिति चेत्, न, अन्योन्याभावप्रत्यये प्रतियोग्यनुयोगिनोः समानविभक्तिकत्वनियमात्, यथा 'घटः पटो न' इति। अन्योन्याभावस्य पृथक्त्वरूपत्वे घटात् पटो नेत्यपि प्रयोगापत्तेः। न चैवं घटादन्यः पट इत्यत्र कथमन्योन्याभावप्रतीतिरिति वाच्यम्, अन्यत्त्वस्यापि पृथक्त्वरूपत्वात्।

अनुवाद=पृथक्त्व [गुण] कारण गुण पूर्वक होता है। शंका होती है [ननु]

ः उसके ऐसा होने में [तत्र] क्या प्रमाण है। यदि यह कहा जाए कि
ट से पट के पृथक् होने में' प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तो वैसा होना [अर्थात् घट
पट का पृथक् होना] अन्योन्याभाव को विषय करेगा ? [अर्थात् यह काम तो
न्योन्याभाव से भी चल सकता है]। [उत्तर देते हैं—कि] ऐसा कहना ठीक
हीं, क्योंकि अन्योन्याभाव के निश्चय में प्रतियोगी और आधार [जोकि एक
सरे के अभाव से युक्त होते हैं, उन] के समान विभक्तिक होने का नियम है
अर्थात् दोनों को प्रथमा विभक्ति से दिखाया जाता है] जैसा कि—'घट पट नहीं'।
स दशा में अन्योन्याभाव को पृथक्त्व स्वरूप मानने पर तो 'घट से पट नहीं'
सा [पञ्चमी युक्त] प्रयोग करने का प्रसंग भी आ पड़ेगा। [अर्थात्
न्योन्याभाव स्थल में भी पञ्चमी से पृथक्त्व वाची, प्रथमा रखने की प्रणाली
वीकार करनी पड़ेगी, जोकि वस्तुतः ठीक ही नहीं]। इसी प्रकार यह भी
नहीं कहना चाहिये कि—अन्यत्व के भी पृथक्त्व रूप होने से [जैसा कि]
घट से अन्य पट है' इस प्रयोग में अन्योन्याभाव की प्रतीति क्यों हो जाती है।
[अर्थात् अन्योन्याभाव और पृथक्त्व में विभक्ति भेद होने पर भी वे दोनों
समान अर्थक' हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि] जिस अर्थ के योग में
पञ्चमी है वह अर्थ 'नञ्' अर्थ वाले 'अन्योन्याभाव' से भिन्न गुण कल्पना
किया जाता है, इसलिये पृथक्त्व 'गुण' अन्योन्याभाव से अलग ही है।

व्याख्या = संख्या की तरह—सभी द्रव्यों में रहने वाला और
'पृथक् निश्चय' [यह वस्तु इस वस्तु से अलग है, ऐसी प्रतीति] का असाधारण
कारण [गुण] 'पृथक्त्व' कहलाता है। "*संख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्-
प्रत्ययकारणम् [न्याय—मु० का० ११३]*।" और वह दो प्रकार का है—
'एकपृथक्त्व' और 'द्विपृथक्त्व'' इत्यादि। संख्या की तरह—एक पृथक्त्व' भी
नित्य [परमाणु आदि] में रहने वाला तो नित्य, और अनित्य [घट आदि]
में रहने वाला अनित्य होता है। द्विपृथक्त्व आदि [सर्वत्र] अनित्य ही हैं।
ध्यान रहे कि—संख्या के विषय में 'एकत्व और द्वित्व' तो जाती थीं किन्तु
यहां 'एकपृथक्त्व' और 'द्विपृथक्त्व' आदि जातियां नहीं, प्रत्युत इनका परस्पर

भेद संख्या के ही आधार पर होता है, जैसा कि वैशेषिक प्रशस्तपा
इसका वर्णन इस प्रकार आया है कि—

"एतावांस्तु विशेषः । एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्य
संख्यया तु विशिष्यते । तद्विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति ।" अर्थात्–'वि
इतना [इस स्वरूप से युक्त] हुआ । एकत्व आदि की तरह 'एक पृथक्
आदि में सामान्य नहीं रहता प्रत्युत वह [एकपृथक्त्व द्विपृथक्त्व आ
संख्या में विशिष्ट माना जाता है । क्योंकि उसका [एकपृथक्त्व द्विपृथ
आदि का] संख्या द्वारा [परस्पर] विशिष्ट होना [ऐसा] लोकव्यवहा
देखा जाता है ।" मूल में जो यह कहा गया है कि पृथक्त्व कारण गुण
होता है उसका आशय यह है कि–नित्य पृथक्त्व [जोकि पदार्थों में नि
रूप से रहता है उस] को छोड़कर अनित्य पृथक्त्व पदार्थ में स्थिर रू
नहीं रहता अपितु अपने आश्रय द्रव्य अर्थात् बाह्य पदार्थ में द्रष्टा
अपेक्षाबुद्धि से तीन क्षण के लिये पैदा होता है [और अपेक्षाबुद्धि के नाश
नष्ट हो जाता है] प्रत्येक पदार्थ को दूसरे से पृथक् देखा जाता है, इसलि
मानना पड़ता है कि एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के पृथक् होने की प्रती
का कारण प्रत्येक पदार्थ में रहने वाला 'पृथक्त्व' नाम का गुण [धर्म] हो
परन्तु कोई यदि कहने लगे कि यह काम 'अन्योन्याभाव से भी निकल आ
है' क्योंकि अन्योन्याभाव भी 'घट में पट का अभाव' अर्थात् 'घट पट न
इस प्रकार मालूम देता है और एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् क
है । इसलिये पृथक्त्व का काम जबकि अन्योन्याभाव से ही चल सकता
तो 'पृथक्त्व' गुण के मानने की आवश्यकता नहीं रहती ? इस शंका
उत्तर यह है कि सूक्ष्म दृष्टि से यदि ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट हो ज
है कि पृथक्त्वात्मक गुण की 'अन्योन्याभाव जोकि अभावात्मक है उ
चरितार्थता [स्थान पूर्ति] नहीं हो सकती क्योंकि '**अयमस्मात् पृथक्**' इस प्रती
से 'इदमिदं न' यह प्रतीति विलक्षण [एक भिन्न ही प्रकार की] है । अर्थ
पहले स्थल में 'पृथक्त्व' गुण के द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के अल
होने की प्रतीति तो 'भावरूप' है और दूसरे स्थल में 'अन्योन्याभाव' से हो

ली प्रतीति 'अभावात्मक' होती है। इसलिये दोनों प्रतीतियों में पारस्परिक न्तर के आ जाने से 'पृथक्त्व' गुण को अन्योन्याभाव के अन्तर्गत नहीं लिया । सकता है, जैसा कि—

"अन्योन्याभावातो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते,
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा।" [न्याय मु० का०११४]

सके बाद भी यदि कहा जाय कि अन्योन्याभाव और पृथक्त्व में केवल शब्द र्थात् विभक्ति की ही परस्पर विलक्षणता [पृथक्त्व में पञ्चमी और न्योन्याभाव में प्रथमा] दिखाई गई है परन्तु अर्थ दोनों का समान है ? तो ह शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि दोनों के अर्थ में यदि भेद न होता तो जैसे-*घटात् पृथक्*' [घट से पृथक्] इस प्रयोग में पञ्चमीविभक्ति हुई है, वैसे ही *घटो न पटः*' [घट पट नहीं] यहां भी पञ्चमी होनी चाहिये थी अर्थात् नञ्' तथा पृथक् अवयव [ये दोनों] यदि एक अर्थक होते तो पृथक् के योग जैसे-'*पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२*" व्याकरण में इस त्र से पञ्चमी आदि विभक्तियां [पृथक् अर्थ में] होती हैं, वैसे ही 'नञ्' के ोग में भी होनी चाहिये थीं। परन्तु किसी भी स्थल में ऐसा विधान नहीं ाया जाता है। इसलिये दोनों का एक अर्थ कल्पना नहीं किया जा सकता। अपितु जिस अर्थ के योग में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है, वह अर्थ तो नञ अर्थ-अन्योन्याभाव' के अतिरिक्त ही 'पृथक्त्व-गुण' मानना पड़ता है।

मूल=संयोगस्त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। आद्यो यथा,–मनःकर्मणा आत्ममनसोः संयोगः। द्वितीयो यथा,–मेषयोः कर्मणा तयोः संयोगः। तृतीयो यथा,– कारणाकारण संयोगात् कार्याकार्य संयोगः, यथा, हस्ततरुसंयोगात् कायतरुसंयोगः।

अनुवाद=संयोग [नामक गुण] तीन प्रकार का होता है;–(१) '*अन्यतरकर्मज*' दो में से एक के कर्म से उत्पन्न], (२) '*उभयकर्मज*' [दोनों के कर्म से उत्पन्न],

(३) 'संयोगज संयोग' [संयोग द्वारा संयोग]। उनमें से 'प्रथम'
जैसे—मन ही की क्रिया के द्वारा होने वाला आत्मा के साथ जो मन का संयो
द्वितीय [संयोग का उदाहरण] जैसे—दो भेड़ों के [लड़ने पर दोनों के] क
जन्य उन दोनों का जो [परस्पर] संयोग। 'तृतीय' कि जैसे—[अवयवी
शरीर के] 'कारण [अवयवरूप हाथ]' और [उस शरीर के] 'अकारण [वृ
के संयोग से जो [हाथ के] 'कार्य [शरीर]' और 'अकार्य [वृक्ष]' का संयो
अतः हाथ और वृक्ष के संयोग से [भी] शरीर के साथ वृक्ष का संयोग हो जाता

व्याख्या = संयोग [एक] सामान्य गुण है जो प्रत्येक द्रव्य में रहता
जिसका कि संयोग होता है, इसीलिये संयुक्त व्यवहार [यह इससे मिला
है इस प्रकार की प्रतीति] का कारण माना गया है—

"संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः, सर्वद्रव्यवृत्ति [तर्क-संग्रह]।"

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि—द्रव्य और गुण के नित्य सम
[समवाय सम्बन्ध] की तरह संयोग एक नित्य सम्बन्ध नहीं। अपितु अ
सम्बन्ध है अर्थात् दो द्रव्यों के बीच में होने वाला एक ऐसा सम्बन्ध जो
तो रहता हो और कभी न [भी] रहता हो, उसको संयोग कहते हैं। जैसे
कुरसी और पुरुष का संयोग। इन दोनों पदार्थों [द्रव्यों] में एक ही सं
एक साथ रहता है। अर्थात् कुरसी और पुरुष में रहने वाला संयोग एक
है। इसलिये संयोग [गुण] को द्विनिष्ठ [दो द्रव्यों में रहने वाला] म
जाता है। किसी 'अविभु' [परिच्छिन्न = मूर्त्तद्रव्य] का भी किसी 'वि
[अपरिच्छिन्न = सर्वव्यापक अमूर्त्त] द्रव्य से संयोग हो सकता है। क्यों
संयोग 'अव्याप्यवृत्ति' गुण है। अर्थात् जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है
द्रव्यों को वह पूर्णतया [सभी ओर से] व्याप्त नहीं करता [अर्थात् रूप
की तरह सारे पदार्थ में व्याप्त हुआ नहीं रहता] अपितु उसके केवल एक
में पाया जाता है। जैसे कि—'मन—आत्मा के साथ संयुक्त होता है' तो
[के अणु होने के कारण उस] का संयोग भी सर्वत्र व्यापक आत्मा के
देश में ही रह सकता है [न कि सम्पूर्ण आत्मा में]। इसीप्रकार घट
[प्रत्येक] परिच्छिन्न द्रव्य का संयोग सर्वत्र व्यापक आकाश आदि के

देश में [उतने प्रदेश में कि जितने में वह घट विद्यमान होगा ऐसा] होता है। कई लोग दो विभु [सर्वत्रव्यापक] पदार्थों का, जैसे–दिशा और आकाश का, नित्य संयोग कहते हैं। परन्तु साधारणतया विभु पदार्थों में संयोग नहीं माना जाता।

इस विषय का वर्णन वैशेषिकदर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में इस प्रकार आया है–

"*नास्त्यजःसंयोग–परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्धयभावात् ।*"

उपर्युक्त यह 'संयोग' [प्रकारान्तर से] तीन प्रकार का होता है। 'अन्यतरकर्मज' संयोग–'उभयकर्मज' संयोग और 'संयोगज–संयोग' जैसे [सूत्र के अर्थ से स्पष्ट किया जा चुका है] कि इनमें पहला 'अन्यतर–कर्मज' तो संयुक्त होने वाले दोनों द्रव्यों में से किसी भी एक की क्रिया से उत्पन्न। और दूसरा–दोनों की क्रिया से होने के कारण 'उभय–कर्मज' कहलाता है। रहा तीसरा अर्थात् 'संयोगज' संयोग वह [किसी की] क्रिया से उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत संयोग से उत्पन्न माना जाता है। जैसे कि—हाथ और वृक्ष के संयोग से ही शरीर और वृक्ष का संयोग।

कर्मज अर्थात् क्रिया से उत्पन्न संयोग के फिर दो भेद होते हैं—एक तो 'अभिघात' और दूसरा 'नोदन'। जिस संयोग के होने से 'शब्द' होता हो, जैसा कि–वेग युक्त कुल्हाड़े से वृक्ष पर जब चोट पड़ती है तो उनका संयोग इस प्रकार होता है कि–उस संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, इस प्रकार का संयोग '*अभिघाताख्य*' कहलाता है। परन्तु इसके विपरीत अर्थात् जिस संयोग के बाद शब्द न हो, जैसा कि–अत्यन्त गीली भूमि या रेत पर पाओं रखने से उस गीली या रेतली भूमि और पैर का जो [परस्पर] संयोग होता है तो वहां शब्द सुनाई नहीं देता, ऐसे संयोग को '*नोदनाख्य*' कहते हैं।

संयोग के न रहने [विनाश] के दो ही कारण हो सकते हैं। या तो आश्रय [अर्थात् जिनमें वह रहता है उस] के न रहने से संयोग का नाश होता है। या फिर जो संयुक्त हैं वे विभक्त [अलग अलग] हो जायें तो भी पूर्व संयोग विनष्ट हो जाता [टूट जाता] है। इस प्रकार 'संयोगनाश' के दो रास्ते हुए एक तो–'आश्रय' [द्रव्य] के नाश से संयोग का नाश। और दूसरा अर्थात् आश्रय–

द्रव्य के विद्यमान रहने पर भी, जिनका संयोग है 'उनमें यदि विभाग गु उत्पन्न हो जाए' तो पूर्व संयोग का नाश हो जाता है।

मूल=विभागोऽपि त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः विभागजश्च। आद्यो यथा,—मनःकर्मणा आत्ममनसोविभागः द्वितीयो यथा,—मेषयोःकर्मणा तयोर्विभागः। विभागजविभाग द्विविधः—कारणमात्रविभागजः, कारणाकारणविभागजश्च आद्यो यथा,—कपालकर्मणा कपालद्वयविभागः, तत कपालद्वयसंयोगनाशः, ततो घटनाशः, ततः कपालस्याकाशा देशाद्विभागजो विभागः।

अनुवाद='विभाग' [बँटवारे] के भी तीन प्रकार हैं—(१) अन्यतरकर्मज (२) उभयकर्मज, और (३) विभागज—विभाग। पहला अर्थात् 'अन्यतर कर्म विभाग' [परस्पर संयुक्त दो पदार्थों में से किसी एक की क्रिया से हों वाला विभाग] जैसा कि—केवल 'मन' की क्रिया से [उत्पन्न होने वाला] आत्म से मन का जो विभाग होता है। दूसरा अर्थात् 'उभय कर्मज विभाग' [संयुक्त हुई दोनों वस्तुओं के कर्म से होने वाला विभाग] जैसे—[लड़ाई में भिल रही दो भेड़ों की क्रिया से उनका [परस्पर] विभाग हो जाता है। तीसरा अर्थात् 'विभागज विभाग'—दो तरह का होता है एक तो 'केवल कारण के विभाग से उत्पन्न जो विभाग हो' और द्वितीय—'कारण और अकारण [दोनों] के विभाग से जो विभाग होता हो। अब पहले प्रकार का जो 'विभागज-विभाग [अर्थात् कारण मात्र के विभाग से होने वाला विभाग तो] जैसा कि [घट के कारण दोनों परस्पर संयुक्त कपालों में से किसी] कपाल की क्रिया से दोनों कपालों का परस्पर विभक्त हो जाना, उससे दोनों कपालों के संयोग का न रहना [विनाश], उस [कपालद्वयसंयोगनाश] से घट का विनाश, फिर [उस क्रिया से युक्त विभक्त] कपाल का [जोकि घट का कारण है उसी का] आकाश आदि प्रदेश से विभाग होना 'विभागज-विभाग है]।

व्याख्या—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग के सिवाय प्रत्येक द्रव्य में पाया जाने वाला पाँचवा गुण 'विभाग' है। संयोग की तरह विभाग भी एक होता हुआ [अकेला] दो पदार्थों में साथ साथ रहता है। विभाग हमेशा संयोग पूर्वक होता है अर्थात् संयोग के बाद में विभाग हुआ करता है क्योंकि जब तक संयोग न हो तब तक विभाग हो ही नहीं सकता। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि संयोग के न रहने [अभाव] को विभाग नहीं कहा जाता अपितु विभाग संयोग का नाशक होता है अर्थात् संयुक्त पदार्थों को विभक्त करता है-"*संयोगनाशको गुणो विभागः, सर्वद्रव्यवृत्तिः।*"[तर्क संग्रह]। इससे यह आया कि 'विभाग' [स्वतन्त्र] एक 'भावरूप' गुण है, जोकि विभक्त प्रतीति का कारण होता है।

संयोग की तरह 'विभाग' के भी तीन प्रकार बताए गए हैं—पहला 'अन्यतर कर्मज' दूसरा 'उभय कर्मज' और तीसरा 'विभागज-विभाग'। 'कर्मज' का अर्थ है 'कर्म से उत्पन्न। इस प्रकार जिस विभाग का जन्म कर्म या क्रिया से होगा उसे कर्मज विभाग कहेंगे, जैसा कि मूल में—दो में से एक, की क्रिया से उत्पन्न, विभाग को '*अन्यतर-कर्मज-विभाग*' और दोनों की, क्रिया से उत्पन्न, विभाग को '*उभय-कर्मज-विभाग*' कहा गया है। ध्यान रहे कि तीसरे प्रकार का विभाग क्रिया से उत्पन्न नहीं माना जाता अपितु विभाग से ही उत्पन्न माना गया है इसलिये 'विभाग से उत्पन्न' माना जाने के कारण उसे '*विभागज विभाग*' कहा गया है। और वह 'विभाग से उत्पन्न विभाग' [विभागज—विभाग] दो प्रकार का होता है—एक तो केवल 'कारण' के विभाग से उत्पन्न, और दूसरा—'कारण और अकारण' [दोनों] के विभाग से उत्पन्न। इनमें से पहले प्रकार का विभाग अर्थात् 'कारण मात्र के विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग' तो इस प्रकार कि जैसे—'सर्व प्रथम [चेतन प्रदत्त प्रेरणा से या अचेतन के साथ संघर्ष से घट के अवयव या कारण अर्थात्] कपाल में क्रिया होती है, उस क्रिया के द्वारा घट के समवायिकारण दोनों कपालों का परस्पर विभाग होता है, उस विभाग से घट के आरम्भक [असमवायिकारण] 'दोनों कपालों के संयोग' का विनाश होता है, उस संयोग

[अर्थात् असमवायिकारण] के नाश से [कार्य अर्थात्] घट का नाश होता फिर कपाल का आकाश आदि देश से विभागज-विभाग होता है। दू शब्दों में इसको *'विभाग पूर्वक विभाग'* भी कह सकते हैं क्योंकि क्रिया यु कपाल का दूसरे कपाल से विभाग होकर ही उसका आकाश इत्यादि प्रदे से विभाग हुआ है। इस प्रकार उपर्युक्त यह विभाग घट के कारण अर्थ कपाल के विभाग से उत्पन्न विभाग होने से, यह आया कि—यह केवल का के विभाग से होने वाला विभाग होता है।

संयोग की तरह 'विभाग' भी सर्वत्र [सभी जगह] 'अनित्य' होता है और यह 'विभाग' गुण या तो 'आश्रय द्रव्य [जिसमें विभाग रहता है उ पदार्थ] के नाश' से 'नष्ट' होता है या फिर जिस किसी पदार्थ का जब दू पदार्थ से विभाग होता है तो उसी विभक्त पदार्थ का पूर्वसंयोग नष्ट होक दूसरी जगह संयोग हो जाने के बाद में विभाग नष्ट हो जाता है। अर्थात् उत्तरदेश संयोग हो जाने पर विभाग समाप्त हो जाता है। इसके बाद यदि उस पदार्थ का फिर विभाग होगा तो वह नया ही विभाग होगा।

मूल=न च विभागः स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव विभागजविभा जनयत्विति वाच्यम्, द्रव्यनाशसहकृतस्यैव तस्य तज्जनकत्वा तत्र द्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्वेन सति द्रव्ये तदसम्भवात् न च कर्मैव एकदा कपालद्वयविभागमाकाशकपालविभागञ्च जनयत्विति वाच्यम्, यद् द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधि विभागमारभते, न तत् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधितम् अन्यथा विकसत्कमलकुड्मलदलकर्मण्यतिव्याप्तिः। न संयोगेऽप्येवमस्तु, तत्र अविरोधात्।

अनुवाद=[यहां यदि यह कहा जाये कि] 'विभाग' अपनी उत्पत्ति साथ साथ 'विभागज-विभाग' को भी तो उत्पन्न कर सकता है? [उत्तर दे हैं कि] ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि [बीच में आये हुए] द्रव्य के ना

पूर्वक [अर्थात् द्रव्य के न रहने पर] ही वह [विभाग] उस [विभागज विभाग] का उत्पादक हुआ करता है। इसलिये—जहां भी कहीं द्रव्य के प्रतिबन्धक होने की दशा में जब तक वही [प्रतिबन्धक] द्रव्य विद्यमान रहेगा [अर्थात् नष्ट न हो चुकेगा] तब तक उसका [विभागज विभाग का] हो जाना सम्भव नहीं। इसी प्रकार—यह भी नहीं कहा जा सकता, कि [किसी कपाल में क्रिया के उत्पन्न होने पर वही] क्रिया ही एक साथ [दो कार्यों की अर्थात्] दो कपालों के विभाग की, और आकाश से कपाल के विभाग की, कारण बन जायेगी। क्योंकि [यह नियम है कि] जो कर्म द्रव्य के अनारम्भक संयोग विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, वही कर्म द्रव्य के आरम्भक संयोग विरोधी विभाग का उत्पादक नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा न मानें तो [अन्यथा] विकसित हो रही कमल की प्रत्येक पँखड़ी के कर्म में अतिव्याप्ति होगी। संयोग के बारे में चूँकि ऐसा [कर्मक] विरोध पाया ही नहीं जाता इसलिये वहां इस प्रकार का प्रश्न भी नहीं होता।

व्याख्या = कार्य अपने कारण में समवेत होता है। इसीलिये यह कहा जा सकता है कि जिस जगह से कारण का विभाग होगा उसी जगह से उसके साथ साथ कार्य का भी विभाग होगा [परन्तु प्रकरण में अभीष्ट केवल कारण का विभाग है, साथ में उसके कार्य का नहीं]। कारण का स्वतन्त्र हो कर किसी देश से विभाग तब हो सकता है जबकि उसका कार्य नष्ट हो जाये। कार्य नाश के दो ही रास्ते हैं—एक तो, समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होता है, और दूसरा—असमवायिकारण के नाश से भी कार्य का नाश हो जाता है [समवायिकारण का नाश तो यहां सोचा ही नहीं जा सकता क्योंकि उसी का प्रकरण में विभाग दिखाया जा रहा है इससे यह आया कि असमवायिकारण के नाश से यहां कार्य का नाश होगा]। इस प्रकार कार्य अर्थात् घट का नाश तभी हो सकता है जबकि उसके असमवायिकारण अर्थात् 'दो कपालों के संयोग' का नाश हो। दो कपालों के संयोग का नाश भी तब हो सकता है जबकि [उस संयोग का नाशक अर्थात्] दो कपालों का परस्पर विभाग हो जाये। और दो कपालों का विभाग भी तभी हो सकता है जबकि कपाल में क्रिया हो। इस प्रकार के नियम से यह स्पष्ट हो जाता है कि—

प्रथम क्षण में तो कपाल में क्रिया उत्पन्न होगी, द्वितीय क्षण में उसी क्रि के द्वारा [केवल] दो कपालों में विभाग होगा, तृतीय क्षण में विभाग से दो कपालों के संयोग का नाश, और चतुर्थ क्षण में उस संयोग [अर्थात् असमवायिकारण] के नाश से द्रव्य अर्थात् 'घट' का नाश होगा, उसके बा [पंचम क्षण में] घट के नाश पूर्वक [उसके कारण अर्थात्] 'कपाल' का आका इत्यादि प्रदेश से विभाग होगा। इसी प्रकार '*कारण मात्र*' का 'पूर्व देश विभाग' होने के लिये [बीच में आये हुए प्रतिबन्धक अर्थात्] उसके कार्य- '*द्रव्य*' *का नाश* आवश्यक है।

दूसरी शंका का आशय यह है कि [क्रिया युक्त कपाल का आकाश आदि पूर्व देश से विभाग घट के नाश पूर्वक मान लेने पर भी, परन्तु उस] कपाल क यह जो आकाश आदि पूर्व देश से विभाग होता है वह विभाग दो कपालों विभाग से उत्पन्न नहीं होता, अपितु जिस क्रिया के द्वारा उन दो कपाल का विभाग हुआ है वही क्रिया ही उस कपाल का आकाश आदि पूर्व देश भी विभाग उत्पन्न कर देती है, इसलिये दो कपालों के विभाग की तरह क कपाल के पूर्व देश का विभाग भी [एक] कर्मज विभाग ही हो सकता है विभागज विभाग नहीं ? इसी शंका का उत्तर यह दिया गया है कि, एक क्रियारूप कर्म-'द्रव्य आरम्भक संयोग के नाशक विभाग को, तथा द्र अनारम्भक संयोग के नाशक विभाग को' उत्पन्न नहीं करता। जैसा कि प्रकरण में-द्रव्य अर्थात् घट का असमवायिकारण जो 'दो कपालों का संयो है वह [कपालद्वय संयोग] घट का उत्पादक होने से-द्रव्य आरम्भक संयो कहलाता है। और उस कपाल का जो आकाश आदि पूर्व देश के साथ संयो है वह [कपाल पूर्व देश] संयोग घट का उत्पादक न होने से-द्रव्य अनारम्भ संयोग माना जाता है। यहां घट आरम्भक संयोग का नाशक जो दो कपाल का विभाग है, तथा घट अनारम्भक संयोग का नाशक जो कपाल पूर्व दे का विभाग है। इन दोनों विभागों का असमवायिकारण के रूप में जनक हो कपाल की क्रिया को नहीं कहा जा सकता [प्रत्युत वह क्रिया केवल एक ची की अर्थात् दो कपालों ही के विभाग की कारण होती है, न कि कपाल

आकाश आदि पूर्व देश के विभाग की कारण भी] क्योंकि यदि एक ही क्रियारूप कर्म आरम्भक संयोग के नाशक विभाग का जनक [कारण], तथा अनारम्भक संयोग के नाशक विभाग का जनक होता हो, तो खिल रहे कमल का नाश हो जाना चाहिये। क्योंकि सायंकाल अर्थात् शाम के समय कमल बन्द हो जाता है और प्रातःकाल उसी बन्द कमल की पंखड़ियों के अग्रभाग [अगले सिरे] में क्रिया होती है, उसी क्रिया से पंखड़ियों का एक दूसरे से अग्रभाग में विभाग उत्पन्न होता है, फिर उस अग्रभाग में विभाग होने से उन पंखड़ियों के अग्रभाग वाला संयोग नष्ट होता है। यहां ध्यान देना चाहिये कि–पंखड़ियों के अग्रभाग वाला संयोग कमल रूप द्रव्य का आरम्भक नहीं होता प्रत्युत पंखड़ियों के मूल प्रदेश का संयोग ही कमल का आरम्भक होता है। इस प्रकार पंखड़ियों के अग्रभाग का संयोग एक अनारम्भक संयोग हुआ, और पंखड़ियों के मूल देश का संयोग ही आरम्भक संयोग होगा। ध्यान रहे यहां अनारम्भक संयोग का नाशक जो विभाग है उस विभाग को उत्पन्न करने वाला कर्म उन पंखड़ियों में विद्यमान है [अब यदि उसी क्रियारूप कर्म को ही दो विभागों का कारण मान लिया जाय तो] वही कर्म मूलदेश अर्थात् पूर्वदेश वाले आरम्भक संयोग के नाशक विभाग को भी उत्पन्न कर देगा, फिर उस विभाग से आरम्भक संयोग का नाश भी मानना पड़ेगा, और उसी आरम्भक संयोग का नाश होने पर तो कमल ही नष्ट हो जायेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं। इसीलिये यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण, यह आया कि–जो कर्म अनारम्भक संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न करता है. वही कर्म आरम्भक संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न नहीं करता है। इसलिये कपाल की क्रिया को कपाल पूर्वदेश के विभाग का कारण न मान कर–'*दो कपालों का विभाग ही उस कपालपूर्वदेश के विभाग का कारण समझना चाहिये।*

सूत्र में 'अतिव्याप्ति' शब्द आया है संक्षेप में यहां यह जान लेना भी आवश्यक है कि— जिस का लक्षण कहा जाता है, उसे '*लक्ष्य*' कहते हैं। जो धर्म लक्ष्य में नियमतः रहता है और अलक्ष्य में नहीं रहता वह '*लक्षण*' है अर्थात् जो धर्म लक्ष्यमात्र में दिखाई पड़े, वही लक्षण है। जैसे कि—'*सास्नादिमत्वम्*'

अर्थात् 'सास्ना आदि होना' [गाय के गले की चमड़ी को सास्ना कहते हैं, इ प्रकार—सास्ना होना] यह गाय का लक्षण हुआ, क्योंकि लक्ष्यमात्र में ऐ धर्म विद्यमान है। लक्षण के तीन दोष भी होते हैं—(१) अव्याि (२) अतिव्याप्ति, और (३) असम्भव। "*लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्ति*" अर्थ जो धर्म लक्ष्य के एक देश में न रहता हो, यदि उसे लक्षण मान लिया जा तो वह अव्याप्ति दोष से दूषित होता है। जैसे—'*कपिलत्वम्*' [कपिलवर्ण होना ऐसा धर्म सभी गायों में नहीं पाया जाता है, इसीलिये इस लक्षण *अव्याप्ति* [दोष] है। (२) "*अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः*" [लक्षण का अप क्षेत्र या लक्ष्य से आगे बढ़ जाना अर्थात् किसी लक्षण का अधिक देश य अलक्ष्य में चला जाना 'अतिव्याप्ति' है। इस प्रकार जो धर्म लक्ष्य तथा अलक [दोनों] में पाया जाय, वह धर्मरूप लक्षण 'अतिव्याप्ति' इस दोष से युक्त हो है। जैसे कि—"*शृङ्गित्वम्*" [सींग होना] इस 'गाय के लक्षण' में अतिव्याप्ति दो है, क्योंकि ऐसा धर्म लक्ष्यमात्र जो गाय उसके अतिरिक्त अलक्ष्य 'भैंस आदि' भी रहता है। इस प्रकार इस लक्षण की अपने क्षेत्र या लक्ष्य से 'अधिक व्याप्ति होने के कारण '*सींग होना*' यह गाय का लक्षण अतिव्याप्ति' इस दोष ग्रस्त है। इसी अधिक व्याप्ति को ही 'अतिव्याप्ति' कहा जाता है (३) "*लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः*" अर्थात् जो धर्म लक्ष्य के किसी भी देश य अंश में न पाया जाय, यदि उसे लक्षण के रूप में मान लें तो वह '*असम्भव* इस दोष से युक्त होता है। जैसे कि—"*एकशफत्वम्*" [एक खुर होना] इ प्रकार के गाय के लक्षण में असम्भव नामक दोष है, क्योंकि कोई भी गाय ए खुरवाली हो ऐसा सम्भव ही नहीं, अर्थात् किसी भी गाय का एक खुर न होता है। इसी प्रकार संक्षेप में यह आया कि—'*लक्षण*' का अपने लक्ष्य या क्षे में पूर्णतया न पाया जाना *अव्याप्ति* दोष कहलाता है। अपने लक्ष्य से आ बढ़कर अधिक देश में भी घट जाना *अतिव्याप्ति* दोष है, और अपने लक्ष में कहीं भी न पाया जाना यह *असम्भव* दोष है। इन तीनों दोषों से रहि धर्म ही लक्षण होता है।

इस प्रकार जैसे कि ऊपर बताया गया है कि "जो कर्म द्रव्य

अनारम्भक संयोगविरोधी विभाग को उत्पन्न करता है वही कर्म द्रव्य के आरम्भक संयोगविरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करता" इस लक्षण के अनुसार यदि वह कर्म द्रव्य के आरम्भकसंयोगविरोधी विभाग का भी उत्पादक सिद्ध हो जाता तो यह उपर्युक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त कहलाता अर्थात् वह कर्म केवल "द्रव्य के अनारम्भकसंयोगविरोधी विभाग का ही उत्पादक होने से" यदि अपने इस क्षेत्र या लक्ष्य से आगे चला जाता [जहां उसे नहीं जाना चाहिये] तो वह कर्म 'अधिकव्याप्त=अतिव्याप्त' माना जाता।

मूल=द्वितीयस्तु कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागः, यथा–करतरुविभागात् कायतरुविभागः। परत्वापरत्वोत्पत्तिः कालप्रकरणे उक्ता।

अनुवाद=द्वितीय [अर्थात् विभागज–विभाग का दूसरा प्रकार तो] यह हैकि–कारण और अकारण के विभक्त हो जाने से, कार्य और अकार्य का भी विभक्त होना। जैसे कि, [शरीर के कारण जो अवयव अर्थात्] हाथ और [उस शरीर के अकारण अर्थात्] वृक्ष के विभाग से [कार्य जो अवयवी अर्थात्] शरीर और [अकार्य अर्थात्] वृक्ष का [परस्पर] विभक्त हो जाना। परत्व और अपरत्व [सामान्य गुण] की उत्पत्ति [के क्रम को चूँकि] काल के प्रकरण में बतला ही चुके हैं [अतएव यहां पर फिर से कहने की कोई आवश्यकता नहीं है]। इसके आगे आत्मा के विशेष गुण 'बुद्धि' आदि को बताया गया है—

मूल=बुद्धिर्ज्ञानम्; तद्द्विविधं–स्मरणमनुभवश्च। स्मरणमपि द्विविधम्–यथार्थमयथार्थञ्च। तद्वति तत्प्रकारकत्वं यथार्थत्वम्, तदभाववति तत्प्रकारकत्वमयथार्थत्वम्। पूर्वानुभवः संस्कारद्वारा स्मरणं जनयति। तत्र पूर्वानुभवस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यां स्मरणमपि उभयरूपं भवति।

अनुवाद=बुद्धि [सोचने–समझने तथा निश्चय करने की शक्ति] का अर्थ 'ज्ञान' है। वह दो प्रकार का होता है(१) स्मरण [किसी भी देखी, सुनी या

बीती हुई बात का उसके संस्कार द्वारा याद आ जाना] (२) अनुभव [प्रयं
के द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान]। स्मरण का होना भी दो प्रकार का है—एक
'यथार्थ' के रूप में [अर्थात् सत्य स्मरण], और दूसरा 'अयथार्थ' के रूप
[अर्थात् असत्य स्मरण]। तद्वान् में तत् प्रकारता [जैसा भी जो है वैसा
उसको समझना] तो यथार्थता है। और तदभाववान् में तत्प्रकारक ज्ञा
[अर्थात् अतत् में तत् बुद्धि] अयथार्थता है। हो चुके अनुभव के संस्कार से
स्मरण का जन्म होता है। इसीलिये उसमें पूर्व अनुभव के [दो प्रकार होने अर्थात्
'यथार्थ होने' और 'अयथार्थ होने' के कारण 'स्मरण' भी [वैसा अर्थात्]
ही प्रकार का होता है।

व्याख्या=जानकारी का जितना कार्यक्रम हो सकता है वह सब ज्ञा
[बुद्धि] के द्वारा होता है [क्योंकि ज्ञान के बिना किसी कार्य का होना सम्भ
ही नहीं] इस प्रकार यह आया कि संसारचक्र के चल सकने का कारण केव
बुद्धि अर्थात् ज्ञान ही है—"*सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्*" [तर्क संग्रह]
ज्ञान के दो भेद माने गये हैं—एक तो 'स्मृति' और दूसरा 'अनुभूति'। कि
वस्तु के देखने, सूंघने, स्पर्श करने, रस लेने और उसके बारे में कुछ सु
समझने से जैसा भी उस वस्तु का हमें ज्ञान होता है वैसा ही हमारे चित्त प
उसका प्रभाव पड़ता है उसको संस्कार कहते हैं [वस्तु के ज्ञान से चित्त प
पड़ने वाला वह प्रभाव अर्थात् संस्कार वस्तु के दूर हो जाने पर भी बराबर ब
रहता है] जब कभी किसी कारण से वह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है तब बा
इन्द्रिय से बिना देखे सुने उसी वस्तु की याद आने लगती है ऐसा '*ज्ञात विषय
ज्ञान*' अर्थात् जाने हुए का ज्ञान '*स्मृति*' कहलाता है। इस प्रकार स्मृति का
में पूर्वानुभूत विषयों का ही पुनरनुभव होता है, किसी अननुभूत भाव
स्मरण कदापि नहीं होता, और स्मृति का कारण हमेशा संस्कार का उद्बो
ही होता है इसीलिये "*संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः*"। यह स्मृति का [सामा
लक्षण 'तर्क-संग्रह' में किया गया है। इस प्रकार स्मरण जबकि अनुभव
आधार पर ही होता है तो स्पष्ट है कि यथार्थ तथा अयथार्थ जैसा भी अनु
होगा वैसा ही उस अनुभव से चित्त में संस्कार उत्पन्न हो जायेगा फिर

संस्कार [के वल] से वैसी ही स्मृति होगी । उदाहरणार्थ—किसी पिता के दो लड़कों में से बड़े लड़के ने सदा अपने पिता को सत्य बोलते हुए देखा अर्थात् अनुभव किया है और छोटे लड़के ने कई एक बार झूठ बोलते भी अपने पिता को अनुभव कर लिया है जब भी कभी बड़ा लड़का अपने छोटे भाई से पिता के बारे में यह कहता है कि हमारे पिता कदापि झूठ नहीं बोलते इस पर छोटा लड़का तुरन्त कह उठता है कि तुम्हारी बात ठीक नहीं क्योंकि मैं ने उनको कभी कभी झूठ बोलते भी देखा हुआ है । जब पिता से पूछा जाता है तो वह यही कहता है कि मैं किसी समय झूठ भी बोल ही पड़ता हूँ । इस प्रकार दोनों भाईयों के पूर्वानुभव में अन्तर होने से स्मरण में भी अन्तर होता है । अर्थात् जैसा जैसा पूर्व अनुभव से प्रत्येक के चित्त में संस्कार जम गया था कालान्तर में उसको स्मरण भी वैसा ही हुआ । आगे अनुभव को बताते हैं—

मूल=अनुभवो द्विविधः—प्रमा, अयथार्थश्च । तत्र प्रमा चतुर्विधा, सा वक्ष्यते । अयथार्थज्ञानं चतुर्विधं—संशयः, विपर्ययः, स्वप्नः, अनध्यवसायश्चेति । संशयो यथा,—समानधर्मवद्धर्मिज्ञानविशेषादर्शनकोटिद्वयस्मरणैरयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं जन्यते, स एव संशयः । विपर्ययस्तु—समानधर्मवद्धर्मिज्ञानविशेषादर्शनैककोटिस्मरणैः शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानं जन्यते । तत्र गुरुमते, इदमित्यनुभवात्मकं ज्ञानम्, रजतमिति स्मरणात्मकम् । तेन ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयं, न तु रजतत्वविशिष्टज्ञानमिदम्, अन्यस्यान्यथाभानसामग्र्यभावात् ।

अनुवाद=अनुभव दो प्रकार का होता है—एक तो 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थअनुभव' और दूसरा 'अयथार्थ अनुभव' । उन दोनों विभागों में से 'प्रमा=यथार्थज्ञान' के चार प्रकार माने गये हैं जिनको आगे कहेंगे । और अयथार्थज्ञान

के भी चार ही प्रकार होते हैं—(१) संशय, (२) विपर्यय, (३) स्वप्न, औ (४) अनध्यवसाय । 'संशय' [का उदाहरण] जैसा कि—समानधर्म व [अर्थात् एक से धर्म वाले दो] धर्मियों [पदार्थों] का ज्ञान रहते हुए, वि के अदर्शन से, जो दो तरह का स्मरण, अर्थात् 'यह स्थाणु [सूखे वृक्ष का ठूं है या कि पुरुष ?' ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न हो आता है उसको 'संशय' कहते हैं और 'विपर्यय' [का लक्षण] यह कि—एक से धर्म वाली [दो] वस्तुओं ज्ञान रहने पर, विशेष के दिखाई न पड़ते हुए, जो एक कोटि का स्मरण, अर्थ शुक्ति [सीप] में 'इदं रजतम्' [यह चाँदी है] ऐसा जो ज्ञान पैदा हो जाता वह [विपरीत ज्ञान होने से] 'विपर्यय' अर्थात् 'भ्रम' कहा जाता है। इस स्थ पर मीमांसक प्रभाकर का मत यह है कि—'इदं' अंश यहां अनुभवात्मक अर्थ प्रत्यक्ष होता है और 'रजतम्' इस अंश की स्मृति होती है। इसलिये ग्र अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मरण ये दोनों अलग अलग ज्ञान हैं, न कि शुक्ति 'इदं' रजतत्व विशिष्ठ ज्ञान, क्योंकि अन्य के अन्य रूप में भान होने सामग्री के यहां विद्यमान न होने से [इन दोनों अंशों में कहीं भी भ्रम नहीं है

व्याख्या=जिस ज्ञान में पूरा निश्चय न हो रहा हो [प्रत्युत वह शंकित ज्ञान हो] जैसे-क्या यह स्थाणु है कि पुरुष ? । इस प्रकार का एक धर्मी दो कोटिक ज्ञान [अर्थात् दृश्यमान व्यक्ति में एक साथ परस्पर विरुद्ध भावाभा विषयक परिज्ञान] 'संशय' कहलाता है। [*"एकधर्मिणिविरुद्धभावाभावप्रका ज्ञानं -संशयः"*]। और वह संशय 'समान धर्म' का ज्ञान होते हुए 'विशेष' अदर्शन से उत्पन्न होता है। जैसे कि-स्थाणु [सूखे वृक्ष के ठूंठ] और पु में पाये जाने वाले समान [एक से] धर्म ऊँचाई आदि को जानने वाले मनु को रात के समय स्थाणु वा पुरुष के स्पष्ट रूप से दिखाई न पड़ने के का कुछ दूर सामने खड़े एक लम्बेसे पदार्थ को देखकर [उसके बारे में, य *'स्थाणु है या पुरुष'* ऐसा जो संदेह उत्पन्न हो जाता है—उसे *'संशय'* कहते हैं (२) 'जिसके वैसा प्रसिद्ध न होने पर, उसको वैसा समझ लेना' अर्थात् अ में तत् दिखाई पड़ना' एक विपरीत प्रतीति या झूठा निश्चय होने के कारण उ 'विपर्यय' या मिथ्या ज्ञान कहते हैं *"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठ*

[पा० योग दर्शन]। अथवा "तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः"। और उस विपर्यय ज्ञान के होने में चार बातें कारण होती हैं–(१) समान धर्म का ज्ञान (२) विशेष का अदर्शन ३) एक कोटि का स्मरण, और (४) दोष की सहायता या विद्यमानता। जैसा कि–रजत [चाँदी] और शुक्ति [सीप] में पाये जाने वाले एक से धर्म [चमकीलेपन] का ज्ञान होते हुए, कुछ दूर धीमे से अंधेरे में पड़ी हुई [अर्थात् इन दूरत्व आदि दोष जो अनेक हो सकते हैं उन के कारण सामने पड़ी हुई], शुक्ति [विशेष] के अदर्शन होने [स्पष्ट या पूर्णतया दिखाई न पड़ने] पर,,–'यह रजत' [ऐसा एक कोटिक] जो स्मरण होता है,, वह मिथ्या ज्ञान का ही उत्पादक है। अर्थात् अरजत जो शुक्ति आदि उनमें रजत की प्रतीति विपर्यय या भ्रम है। इस विषय में–मीमांसा के प्रभाकर मत के अनुसार 'इदं रजतम्' यह ज्ञान वस्तुतः एक नहीं प्रत्युत इसमें 'इदं' और 'रजतम्' ये अलग अलग ज्ञान हैं। 'इदं' इस अंश का अनुभव इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न एक तात्कालिक प्रत्यक्ष ज्ञान है, जोकि यथार्थ ज्ञान है। 'रजतम्' इस अंश की 'स्मृति' होती है वह भी पूर्व अनुभूत रजत के संस्कार द्वारा उत्पन्न होने के कारण यथार्थ ही है। इसी प्रकार मीमांसक प्रभाकर के मत में दोनों अंशों का ज्ञान [अनुभव तथा स्मरण] यथार्थ ज्ञान होने के कारण, दोनों अंशों में से किसी जगह भ्रम नहीं है। पर फिर भी यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता था कि–सीप को चाँदी समझकर उसे उठाने के लिये मनुष्य प्रवृत क्यों होता है? इसीलिये इसका उत्तर यह दियागया है कि—

मूल=प्रवृत्तिश्च स्वतन्त्रोपस्थितेष्टभेदाग्रहात्। नैयायिकमते प्रवर्त्तकम् विशिष्टज्ञानं, तेन भ्रमः सिध्यति। स्वप्नस्तु अनुभूतपदार्थस्मरणैरदृष्टेन धातुदोषेण च जन्यते। अनध्यवसायश्च किञ्चिदिति ज्ञानं विशेषादर्शनाद् भवति। अत्र 'यदि अयं निर्वह्निः स्यात्तदा निर्धूमः स्यात्' इति तर्को विपर्ययमध्ये बोध्यः। तत्र नैयायिकमते स्वप्नानध्यवसायौ

[ये अवयव रहित अर्थात् कारण रहित होने से] किसी में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते। पृथिवी आदि [पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश इन] पाँचों का साधर्म्य [एकसा धर्म] 'भूतत्व' है ['भूत होना' है अर्थात् ये पांचों 'भूत' हैं]। और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन का समानधर्म 'क्रिया वाला होना' और 'मूर्त [अविभु] द्रव्य होना' है। पृथिवी, जल, तेज, और वायु [ये चारों] प्रत्येक काय द्रव्य [व्यवहार में आने वाले सब पदार्थों] के समवायिकारण [जिन में कार्य उत्पन्न हो ऐसे कारण] होते हैं। काल का प्रत्येक वस्तु के साथ कालिक [विशेषणता रूप] सम्बन्ध होने से सर्वाधिकरणत्व [सर्व आधारता] है। दिशा की भी दैशिक [विशेषणता रूप] सम्बन्ध से सबके प्रति अधिकरणता है। यहाँ तक 'द्रव्य का वर्णन समाप्त' हुआ।

व्याख्या = न्याय वैशेषिक के मत में-अवयव कारण होते हैं और अवयवी कार्य। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने अवयवों [कारणों] में समवाय सम्बन्ध से रहता है [आश्रित होता है]। आकाश-काल-दिशा-आत्मा और [पृथिवी आदि चार के] परमाणु नित्यद्रव्य कहलाते हैं, नित्य द्रव्यों के अवयव नहीं हुआ करते इसलिये वे [निरवयव अर्थात्] कारण रहित होने से, किसी में समवाय सम्बन्ध से [आश्रित] नहीं रहते। समवाय भी स्वरूपत: रहने से [किसी में] समवाय आदि सम्बन्ध से नहीं रहता। नौ द्रव्यों में से—काल, दिशा, आत्मा और मन-इन चारों के सिवाय जो बाकी के—पृथिवी से लेकर आकाश तक के पाँच द्रव्य 'पञ्चभूत' कहलाते हैं, इन पाँचों भूतों में रहने वाला धर्म 'भूतत्व' कोई जाति नहीं अपितु केवल उपाधि है, न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार [यहां] 'भूतत्व' का अर्थ है बाह्येन्द्रियों से ग्रहण होने के योग्य विशेष गुण वाला होना, बाह्य इन्द्रिय-नाक, जीभ, नेत्र, त्वचा और कान ये पाँच हैं इस प्रकार इनसे ग्राह्य विशेश गुण क्रमश: गन्ध-रस-रूप-स्पर्श और शब्द हैं [आत्मा में रहने वाले ज्ञान आदि विशेष गुण बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते] काल आदि में कोई विशेष गुण रहते ही नहीं, इसलिये 'भूतत्व' का लक्षण केवल—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश [इन पाँचों] में ठीक ठीक घट जाता है। और 'मूर्त्तत्व' का अर्थ है 'परिच्छिन्न, सीमित या अविभु परिमाण वाला होना' आकाश से लेकर आत्मा

प्रतीत होने की कोई सामग्री नहीं है। इसीलिये प्रभाकर के सिद्धान्त अनुसार 'इदं रजतम्' की प्रतीति भ्रम रूप नहीं, प्रत्युत इस व्यवहार का कारण 'भेदाग्रह' [भेद का मालूम न देना] है। और न्याय सिद्धान्त में प्रवृत्ति का कारण 'विशिष्ट ज्ञान' को माना गया है। इसलिये उनके सिद्धान्त अनुसार 'इदं रजतम्' अलग-अलग ज्ञान न होकर प्रत्युत विशिष्ट 'एक' ज्ञान है जो कि प्रवर्त्तक होने से 'भ्रम' [अर्थात् विपरीत व्यवहार] का साधक बन सकता है इसलिये नैयायिक के मत में 'इदं रजतम्' की प्रतीति भ्रम रूप सिद्ध हो जाती है। [सिद्धान्त की ओर ले जाने के लिये दोनों पक्ष अपनी अपनी युक्ति से ठीक हैं]। (३) अयथार्थ ज्ञान का तीसरा भेद 'स्वप्न' है। मन के पुरीतत् देश [हृदय के पास की एक नाड़ी] में पहुँच जाने पर सुषुप्ति [घोर नींद] होती है और उस पुरीतत् प्रदेश से मन के बाहर रहने पर जाग्रत् होती है। पुरीतत् तथा बाह्य देश के बीच में जब मन रहता है तो उस दशा में न तो घोर निद्रा होती है और न ही जाग्रत् प्रत्युत इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवस्था के समय 'स्वप्न' [विचित्र सी घटनाओं का घटना] दिखाई पड़ता है। 'स्वप्न' कारण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं (१) जाग्रत् काल की चिन्ता विशेष [किसी वस्तु के सम्बन्ध में बार-बार मन में होने वाले विचारों] से उत्पन्न, (२) अदृष्ट वश [न दिखाई पड़ने वाले पिछले जन्म के पुण्य पाप के संस्कार अर्थात् प्रारब्ध, के आधार पर मान्य] और (३) धातु [वात–पित्त–कफ़] के दोष से उत्पन्न स्वप्न। जैसे कि–प्रायः जिस वस्तु का जागते समय मनुष्य बार–बार मन में ध्यान करता है या जिसको बार बार देखने से उसके मन पर अधिक प्रभाव [प्रबल संस्कार] पड़ता है फिर उसी वस्तु को स्वप्न में देखता है। २–कभी कभी इस जीवन में न सोची गई या न देखी गई वस्तुओं को भी मनुष्य स्वप्म में देखता है इसका कारण उसका अदृष्ट माना जाता है। ३–'धातु' शब्द से आयुर्वेद शास्त्र में–वात, पित्त, कफ़, लिये जाते हैं। 'वात' का अर्थ वैद्यक के अनुसार शरीर के भीतर की वायु है–उसके विकार से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं इस प्रकार वात दूषित व्यक्ति को प्रायः आकाश में उड़ने के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। *पित्त*–प्रकृति व्यक्ति प्रायः क्रोधशील होता

है उसको भी पित्त विकार होने पर अग्नि के, और कफ़ दोषी को जल के 'स्वप्न' दिखाई पड़ते हैं। ये सब 'धातु दोष से' उत्पन्न स्वप्न कहलाते हैं।

(४) जिसके साथ न तो कभी हमारी सङ्गति हुई और न ही वह हमारे विचार का विषय बना '*किम् इदं*'—'यह क्या होगा' ? इस प्रकार का केवल आभास '*अनध्यवसाय*' कहलाता है और वह विशेष के अदर्शन से होता है। बुद्धि अर्थात् ज्ञान का विभाग करते हुए वैशेषिक दर्शन के प्रशस्त पाद भाष्य में 'अनध्यवसाय' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"*व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रं-अनध्यवसायः*"।

इसके बाद मूल में 'तर्क' का वर्णन आया है—'व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप कर लेना—'*तर्क*' कहलाता है'। "*व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः*" [तर्क संग्रह]। इसी को चतुराई भरी बात या युक्ति भी कहा जा सकता है जैसा कि—कोई व्यक्ति पर्वत पर धूआं देखता हुआ यदि वहां अग्नि का होना स्वीकार न करे तो [पर्वत में अग्नि के विद्यमान होने का ज्ञान रखने वाला दूसरा व्यक्ति] उस व्यक्ति को पर्वत में अग्नि का होना स्वीकार कराने के लिये जब 'चतुराई की यह बात [तर्क]' करता है कि "*पर्वते यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्*" अर्थात् इस पर्वत में यदि अग्नि न हो तो वहां धूआं भी न हो। क्योंकि ? धुआं—अग्नि का कार्य है, और यह नियम है कि कार्य बिना कारण के कभी होता ही नहीं, इस प्रकार के तर्क [युक्ति] को सुनकर [पर्वत में अग्नि के न मानने वाला] वह व्यक्ति वहां अग्नि का होना स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार '*जहां अग्नि का अभाव रहता है, वहां धूम का अभाव होगा*' जैसे कि—नदी आदि में। यहां 'अग्नि का अभाव' तो '*व्याप्य*' है, और 'धूम का अभाव—'*व्यापक*' है। अग्नि अभावरूप '*व्याप्य*' का आरोप करके—धूम अभावरूप '*व्यापक*' का आरोप पर्वत में किया गया है। अतः ऐसा आरोप ही 'तर्क' है। यहां ध्यान देना चाहिये कि—पर्वत में अग्नि न मानने वाले व्यक्ति ने केवल तर्क के आधार पर ही, अग्नि को बिना देखे हुए [अर्थात् अनिश्चित दशा में] चूंकि वहां [पर्वत में अग्नि का होना] स्वीकार किया है इसलिये 'तर्क' को 'विपर्यय' के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि–'तर्क' संशय के अन्तर्गत हो जाता है, परन्तु उनकी यह बात ठीक मालूम नहीं देती, क्योंकि संशय को उभयकोटिक ज्ञान माना जाता है अर्थात् *'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'* इससे स्पष्ट है कि–संशय का यह उदाहरण किसी एक कोटि में निश्चित नहीं किन्तु तर्क के समय [विशेष का दर्शन न होते हुए भी] एक कोटि में निश्चय हो रहा होता है इसीलिये 'तर्क' को संशय के अन्तर्गत न लेकर प्रत्युत 'विपर्यय' के अन्तर्गत लिया गया है, ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार 'स्वप्न' और 'अनध्यवसाय' भी न्याय मत के अनुसार 'विपर्यय' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये यह आया कि न्याय सिद्धान्त में 'अयथार्थ ज्ञान' के 'संशय' और 'विपर्यय' के भेद से दो प्रकार हैं।

मूल=सुखं–धर्मजन्यम्। दुःखमधर्मजन्यम्। इच्छा, इष्टसाधनताज्ञानजन्या। द्वेषोऽनिष्टसाधनत्वज्ञानजन्यः।

अनुवाद='सुख' [वह अनुकूल तथा प्रिय अनुभव जिसके सदा होते रहने की इच्छा हो] धर्म के द्वारा उत्पन्न होता है। 'दुःख' [मानसिक खेद, जिससे छुटकारा पाने की इच्छा प्राणियों में स्वाभाविक रहती है वह] अधर्म से उत्पन्न होता है। 'इच्छा' [वांछा, चाह, लालसा, अभिलाषा] का जन्म 'इष्ट साधनता' [अर्थात् ये मेरी इच्छा सिद्धि के साधन हैं ऐसे] ज्ञान द्वारा होता है। द्वेष' [अप्रिय लगने की वृत्ति] की उत्पत्ति 'अनिष्ट साधनता' [हानि के हेतु होने] के ज्ञान से होती है।

व्याख्या=*'सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जन्यते'*। प्रत्येक संसारी की कामना के विषय को [जीवमात्र जिसे चाहता है उसको] 'सुख' कहते हैं, धर्म से वह उत्पन्न होता है। अर्थात् धर्म–कारण है और सुख उसका कार्य है। अतः स्पष्ट है कि यदि 'धर्म' किया होगा तो 'सुख' मिल सकेगा, नहीं तो नहीं।

'प्रतिकूलवेदनीयं–दुःखम्'। जो बुरा लगे वह 'दुःख' है–अधर्म से उत्पन्न होता है। इस प्रकार अधर्म यदि किया है तो दुःख उठाना [कष्ट सहना] ही पड़ेगा, नहीं तो नहीं। इससे यह आया कि–अधर्म कारण है और दुःख उसका कार्य है। यहां इतना और जान लेना चाहिये कि दुःख के अभाव का नाम

सुख नहीं है क्योंकि जिन घट आदि जड़ पदार्थों में दुःख प्रतीत नहीं होत वहां सुख कभी उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार दुःख के बारे में भी समझ जा सकता है।

"निर्दु:खत्वे–सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते। इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥" [न्याय मु० का० १४६]

दुःख के न होने [दुःख अभाव] में, और सुख में, [जीव की] इच्छा के उत्पन्न होने का कारण–उन दोनों का ज्ञान है, [और] उनके उपाय में यदि इष्टसाधनता का ज्ञान [जीव को] हो तो '*उपाय इच्छा*' भी होती है।"

इस सूत्र के आशय को लेते हुए इच्छा के दो प्रकार हो जाते हैं–एक तो 'फल इच्छा' और दूसरी 'उपाय इच्छा'। जैसे कि–'*दुःख का अभाव*' और '*सुख*' ये दो अलग अलग यहां '*फल*' हैं इन दोनों में से किसी एक की इच्छा 'फल इच्छा' कहलायेगी। और वह उत्पन्न तभी होती है जबकि उस 'फल का ज्ञान हो। उदाहरणार्थ–किसी से यह सुन लेने पर कि 'ब्रह्म सुखस्वरूप है तब उसके लिये इच्छा यदि उत्पन्न हो कि 'ब्रह्म मुझे प्राप्त हो जाये [या मैं वैसा अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाऊं] तो यह इच्छा फल विषयक होने से '*फल इच्छा*' कहलाती है। और उस [फल] के 'उपाय' [जिनसे वह फल मिल सकता है उन] की प्राप्ति की इच्छा को '*उपाय इच्छा*' कहते हैं। यह उपाय इच्छा इष्टसाधनता के ज्ञान से उत्पन्न होती है। अर्थात् सुख रूप फल का उपाय यदि भोजन है तो, जिस समय यह ज्ञान होगा कि भोजन मेरे 'इष्ट का साधन [जिस बात को मैं चाहता हूँ उसी को पूरा कर देने का कारण] है तब उस 'उपाय' को प्राप्त करने की इच्छा होगी क्योंकि 'इष्ट के साधन होने का ज्ञान हुए बिना 'उपाय की इच्छा' [उपाय इच्छा] हो ही नहीं सकती। और यदि उपर्युक्त 'फल' या उसके 'उपाय' [की प्राप्ति] में प्रबल [जोर की] इच्छा हो तो उस इच्छा विशेष को 'राग' या चिकीर्षा कहते हैं '*उत्कटेच्छा रागः*'। परन्तु 'सामान्य इच्छा' [एक साधारण सी इच्छा] राग या चिकीर्षा नहीं कहलाती। चिकीर्षा के कारण तीन होते हैं (१) *कृतिसाध्यता ज्ञान*

(२) इष्टसाधनता ज्ञान. और (३) बलवद्द्विष्टसाधनत्व ज्ञान का अभाव। इन तीनों में से किसी एक के न होने पर 'चिकीर्षा' उत्पन्न नहीं होती। इसके बाद 'द्वेष' को बताते हैं—

'द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम्'।

'द्विष्ट अर्थात् द्वेष के, साधन होने का ज्ञान द्वेष के प्रति [निमित्त] कारण है।'

सुख आदि की तरह 'द्वेष' एक 'विशेष गुण' [जो किसी खास द्रव्य में रहे ऐसा गुण] होने से केवल जीवात्मा में रहता है। उस से अन्य अर्थात् पृथिवी आदि द्रव्यों तथा ईश्वर [परमात्मा] में 'द्वेष' गुण नहीं रहता। और वह दो प्रकार का होता है—एक तो 'दुःख द्वेष' और दूसरा 'दुःख उपाय द्वेष'। दुःख से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष को 'दुःख द्वेष' और दुःख के उपाय [शूल आदि] से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष को 'दुःख उपाय द्वेष' कहते हैं। दुःख द्वेष में तो केवल दुःख का ज्ञान कारण होता है और दुःख उपाय द्वेष के प्रति 'यह शूल आदि मेरे दुःख का हेतु [साधन] हैं इस प्रकार का' दुःख साधनताज्ञान कारण है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि— भोजन बनाते समय पाककर्त्ता को धूम से, तथा अग्नि की उष्णता [गरमी] से दुःख ही होता है, इस प्रकार वे भी दुःख के साधन हुए, इसलिये यदि दुःख साधनता के ज्ञान से द्वेष होता है तो भोजन बनाने में भी लोगों को द्वेष होना चाहिये ? [परन्तु ऐसा होता तो नहीं]। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—यद्यपि 'पाक' एक दुःख का साधन होने से, पाककर्त्ता को उसके प्रति दुःख के साधन होने का भी ज्ञान होता ही है परन्तु जिस क्रिया के प्रति 'बलवत् इष्ट की साधनता [अपनी प्रियतम वस्तु की सिद्धि के साधन होने] का ज्ञान उस व्यक्ति को होता है उसी क्रिया [काम के करने] में उसका द्वेष नहीं हुआ करता क्योंकि 'बलवत्इष्टसाधनताज्ञान' उस द्वेष का 'प्रतिबन्धक' [रोकने वाला] होता है। इसीलिये द्वेष के प्रति जैसे 'द्विष्टसाधनताज्ञान' कारण है ठीक उसी प्रकार से उसके साथ साथ 'बलवत्इष्टसाधनताज्ञान का अभाव' भी कारण होता है। यहां चूंकि भोजन द्वारा होने वाली तृप्तिरूप 'बलवत् इष्ट की साधनता' का ज्ञान जोकि पाक से

द्वेष कराने में प्रतिबन्धक है वह पाक के कर्त्ता में विद्यमान रहता है। इस प्रका बलवत् इष्ट साधनताज्ञानरूप प्रतिबन्धक के रहते हुए द्वेष का कारण ज "बलवत्इष्टसाधनताज्ञान का अभाव" है वह पाक के कर्त्ता में नहीं हो इसीलिये उसको पाक आदि [के बारे] में द्वेष नहीं हो पाता। और 'द्वेष विशे को 'क्रोध' भी कहा जाता है [द्वेष सामान्य का नाम क्रोध नहीं] क्योंकि नर इत्यादि से लोगों को द्वेष तो होता है परन्तु क्रोध नहीं होता। अर्थात् द्वेष साम [साधारण सा द्वेष] यदि क्रोध होता तो नरक आदि से जैसे लोगों क द्वेष होता है वैसे क्रोध भी होना चाहिये था [परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता इसलिये द्वेष सामान्य को क्रोध न मानकर प्रत्युत [चेतन वस्तु विषयक 'द्वेष विशेष' ही 'क्रोध' है ऐसा समझना चाहिये। सुख-दुःख आदि की तर जीवात्मा में रहने वाला यह विशेष गुण 'द्वेष' [प्रत्येक द्वेष] अनित्य ही होता है

मूल=कृतिस्त्रिविधा-जीवनयोनियत्नरूपा, प्रवृत्ति: निवृत्तिश्च। आद्या-जीवनादृष्टजन्या। द्वितीया-इच्छाजन्या तृतीया-द्वेषजन्या।

अनुवाद=कृति [करनी] तीन प्रकार की है-(१) जीवनयोनियत्नरू (२) प्रवृत्तिरूप, और (३) निवृत्तिरूप। प्रथम [जीवनयोनियत्नरूप] का जन जीवन अर्थात् जीविका या ज़िन्दगी के [उत्पादक के रूप में दिखाई न देने वा पुण्य पाप अर्थात्] 'अदृष्ट' के द्वारा होता है। द्वितीय [प्रवृत्तिरूप कृति] क कारण इच्छा है। और तृतीय [निवृत्ति के रूप में कृति] द्वेष होने पर होती है।

व्याख्या=कृति नाम करने का है इसको प्रयत्न [चेष्टा] भी कहते हैं जैसे कि '*करोमि*' यह मानसिक अनुभव उस कृतिरूप प्रयत्न को ही विष करता है इसलिये वह प्रयत्न 'करोमि' इस अनुभव का विषय कहा जाता है पृथिवी आदि आठ द्रव्यों को छोड़कर केवल आत्मा में रहता है इसीलिये प्रयत्न या कृति की गणना आत्मा के विशेष गुणों में हुई है। परमात्मा का प्रयत्न उत्पत्ति विनाश से रहित नित्य, एक, तथा सर्वजगत् विषयक होता है और जीवात्मा का प्रयत्न उत्पन्न विनाश शील अनित्य, केवल कई एक विशे

वस्तुओं तक निर्भर रह सकने वाला, तथा तीन प्रकार का है। उनमें से प्रथम–

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत्।
शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं स प्रकीर्तितः ॥ [न्याय मु०का०१५२]।

'जीवनयोनियत्न' [प्रत्येक जीव के जीवन का कारण प्रयत्न] सदा ही अतीन्द्रिय [अप्रत्यक्ष] होता है। और वही शरीर के भीतर [होने वाले] प्राणसंचार में कारण कहा गया है। प्रत्येक प्राणधारी के जीवन [जन्म और मृत्यु के बीच वाले समय] का कारण उसका पुण्यपाप के रूप में जो 'अदृष्ट' [न दिखाई पड़ने वाला प्रारब्धकर्म] है उसी अदृष्ट से उत्पन्न गुण अर्थात् प्रयत्न को *'जीवनयोनियत्न'* कहा जाता है। और वही 'जीवन योनि प्रयत्न' शरीर के अन्दर प्राणसंचार [प्राण के चलने] में कारण होता है।" इस प्रकार प्रत्येक प्राणधारी व्यक्ति जितने समय तक जीवित रहता है केवल उतने समय तक उसका जीवनयोनि प्रयत्न रहता है। परन्तु जिस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप प्रयत्न या कृति का मानस प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार इस जीवनयोनियत्न का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु धर्म अधर्म की तरह यह जीवनयोनियत्न भी अतीन्द्रिय [इन्द्रियों से परे अर्थात् प्रत्यक्ष के अयोग्य] होने से, केवल अनुमानगम्य ही होता है। जीवनयोनियत्न का अनुमान इस प्रकार से किया जा सकता है कि–*'प्राणसंचारः प्रयत्नसाध्यः प्राणसंचारत्वात् धावतः पुरुषस्य प्राणसंचारवत्'*। 'प्राणों का संचार [श्वास प्रश्वासादि के रूप में चलना] प्रयत्न से सिद्ध होने के योग्य है, प्राणसंचार होने से, क्योंकि जिस प्राणी में प्राणसंचार होता है वह प्रयत्न से ही साध्य होता है, जैसे कि धावन करते हुए [बहुतजल्दी और दौड़कर जातेहुए]' प्राणीका उत्कर्ष [बढ़ा हुआ] प्राण का संचार [गमन] अधिक प्रयत्न के द्वारा साध्य होता है।' इसका तात्पर्य यह है कि–बहुत ज़ोर से दौड़ते हुए व्यक्ति के प्रयत्न या कृति की अधिकता के कारण उसके श्वास आदि की गति [चाल] की भी उत्कर्षता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अधिक प्राण के संचार में जबकि अधिक प्रयत्न को कारण देखा जाता है तो [इसी दृष्टान्त के बल से] प्राण के

संचारमात्र का भी प्रयत्न से साध्य होने का अनुमान बन सकता है। अ
अधिक प्रयत्न या कृति के बिना जो स्वाभाविक [आप से आप होने वाला] प्र
का संचार [गमन] है उस स्वाभाविक प्राणों के संचार में कोई प्रत्यक्ष दि
पड़ सकने वाला प्रयत्न कारण न होने पर भी—प्राण तो चलते ही हैं, इसी
प्राण संचार में कारण अतीन्द्रिय '*जीवनयोनियत्न*' [अनुमेय] सिद्ध हो जाता

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ।
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत् ॥[*न्यायमु०का० १*

कृति से साध्य विषय की इच्छा [चिकीर्षा] वैसे ही 'इष्टसाधनता
[यही मेरे अभीष्ट कार्य को पूरा कर देने के हेतु हैं ऐसा बोध]
'उपादान का साक्षात्कार' [उपादेय पदार्थ॰के समवायिकारण का प्रत्यक्ष] ये
प्रवृत्ति के [रूप में होने वाले प्रयत्न के] उत्पादक होते हैं ॥

कृति साध्यता जो कि एक 'प्रकार' है उसके 'प्रकारक' का
'करने की इच्छा' अर्थात् 'चिकीर्षा' में विद्यमान है। अर्थात् क्रिया से साध्य
[किसी कार्य के] करने की इच्छा होती है, वही इच्छा विशेष प्रवृत्ति में [प्र
कारण है। उसके बाद प्रवृत्ति के लिये [दूसरा] कारण है 'इष्टसाधनता ज्ञा
[जिसे चाहता है उसकी प्राप्ति के साधनों का भी ज्ञान होना] और
[तीसरा कारण] 'उपादान का प्रत्यक्ष' [जिस वस्तु को बनाने के लिये प्र
होना है उसके उपादान कारण अर्थात् समवायिकारण का साक्षात्कार] ये ती
प्रवृत्ति के प्रति कारण हैं। इनमें से किसी के न होने पर प्रवृत्ति नहीं होती
जैसे कि—विषमिले मीठे भोजन में मानवी प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि विष
मिला हुआ मीठा भोजन अनुकूलता से रहित होने के कारण इष्टसाधन न
होता प्रत्युत प्रतिकूल अर्थात् मृत्यु कारक होने से अनिष्ट का साधन ही हो
है, इसीलिये विष मिले भोजन के 'करने की इच्छा' [चिकीर्षा] उत्पन्न नहीं
पाती। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि—इष्टसाधनता से रहित पद
में चिकीर्षा नहीं, और चिकीर्षा के न होने [अभाव] में प्रवृत्ति नहीं। पर
यहां यदि यह कहा जाये कि—कृतिसाध्यता आदि की तरह बलवान अनिष्ट

ाधन [जैसा कि विष] से युक्त ज्ञान भी तो स्वतन्त्ररूप से *'अन्वय-व्यतिरेक'* द्वारा प्रवृत्ति में कारण हो सकता ही है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि [गुरु] प्रभाकर के सिद्धान्त अनुसार केवल कृतिसाध्यता अर्थात् कृति से होने वाले कार्य के करने का ज्ञान ही प्रवृत्ति के बारे में कारण कहा जा सकता है [कार्य के न करने का ज्ञान नहीं] । जैसे कि प्रकरण में 'विष मिले भोजन का ज्ञान' [अनिष्टसाधनता या अनिष्टकारक ज्ञान] मनुष्य को उस भोजन के करने से, निवृत्त [विरक्त] तो करता है, परन्तु उसके लिये प्रवृत्त [उद्यत या तैयार] नहीं करता । और यदि यह कहा जाये कि [कृतिसाध्यता ज्ञान को छोड़कर] केवल अकेले इष्टसाधनताज्ञान को प्रवत्ति का कारण क्यों न मान लिया जाए ? उत्तर=तो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर–प्रिय लगने वाला चाँद भी एक इष्ट का साधन होने से जब हम चाँद को देखते हैं तो उसे नीचे उतार लाने के लिये प्रवृत्ति होनी चाहिये, पर होती नहीं । इसका अभिप्राय यह है कि प्रसन्नता दायक होने से यद्यपि चाँद हमारे इष्ट [आनन्द] का साधन [हेतु] हुआ, किन्तु अच्छी तरह से जब यह मालूम पड़ जाता है कि चाँद को नीचे नहीं लाया जा सकता अर्थात् चाँद की प्राप्ति मानवी कृति [प्रयत्न] से असाध्य है तो स्पष्ट है कि उसको नीचे उतार लाने [प्राप्त कर लेने] के लिये कोई मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता । इस प्रकार यह आया कि–उपादेय पदार्थ का ज्ञान हो लेने पर, इष्टसाधनताज्ञान के साथ साथ कृतिसाध्यताज्ञान को भी प्रवृत्ति के प्रति कारण मानना आवश्यक हो जाता है ।

'निवृत्ति' द्वेषजन्या है । अर्थात् निवृत्ति द्वेष पूर्वक ही होती है वैसे नहीं । क्योंकि जब तक किसी विषय में, पहले द्वेष [उसके, प्रिय न लगने का भाव] मन में उत्पन्न न हो ले तब तक उस विषय से निवृत्ति [विरक्ति या विमुखता] का हो जाना सोचा ही नहीं जा सकता । इसलिये किसी विषय से पहले पहल द्वेष होगा उसके बाद उस विषय से निवृत्ति । अर्थात् जब किसी से द्वेष होता है [वह मन को नहीं भाता] तब उससे निवृत्ति [दूर हटे रहने का भाव] उत्पन्न होता है, वैसे नहीं । जैसे कि–द्वेष का निवृत्ति के प्रति कारण होना 'अन्वय-व्यतिरेक' से इस प्रकार निश्चित हो जाता है । जिस

जिस पदार्थ से जिस जिस प्राणी को द्वेष होता है उस उस पदार्थ से वह प्राणी निवृत्त [हटा हुआ] रहता है–यह 'अन्वय' हुआ। और जिस किसी को जिसको द्वेष नहीं होता उस से वह निवृत्त [खिचा सा] भी नहीं रहता–यह 'व्यतिरेक' है। इसीलिये निवृत्ति का मूलद्वार द्वेष होता है। यहां इतना जान लेना चाहिये कि द्वेष का दूसरा नाम निवृत्ति नहीं अर्थात् द्वेष और निवृत्ति एक वस्तु नहीं क्योंकि द्वेष कारण है और निवृत्ति उसमें उत्पन्न एक नई वस्तु अर्थात् उसका कार्य है, न्याय सिद्धान्त में कारण और कार्य का अपना अपना अलग अस्तित्व होता है इसीलिये द्वेष और निवृत्ति एक चीज़ नहीं है।

मूल=धर्मः—श्रुतिविहितकर्मजन्यः । अधर्मः श्रुतिविरुद्धाचरणजन्यः । वेगाख्यः संस्कारः आद्यक्रियाजन्यः द्वितीयादिक्रियाजनकश्च । यथा—वेगेन बाणश्चलतीति भावनाख्यः संस्कारो विशिष्टज्ञानजन्यः । स्थितिस्थापकाख्यः संस्कारःकारणगुणप्रक्रमजन्यः ।

अनुवाद=श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट की गई [श्रुति का तात्पर्य जिनके करने में हो ऐसी] क्रियाएं 'धर्म' [न्याय-व्यवस्था] को पैदा करती हैं। और श्रुति के विपरीत [श्रुति का आशय जिनके निषेध या त्याग में हो उसी अभिप्राय को पूर्णतया न जानकर अपनी इच्छा के अनुसार या देखे दिखाये] आचरण अर्थात् अनुष्ठान से 'अधर्म' [अनर्थ या अन्याय] की उत्पत्ति हुआ करती है। वेग नामक संस्कार सबसे पहले की क्रिया के द्वारा तो [स्वयं] उत्पन्न होता है [और] [अगली अगली अर्थात्] द्वितीय आदि क्रियाओं का उत्पादक बन जाता है। जैसे कि–वेग से बाण चलता है। भावना नामक संस्कार की उत्पत्ति 'विशिष्ट ज्ञान' [वस्तु विषयक अनुभव] के द्वारा होती है। और स्थितिस्थापक नाम के संस्कार का जन्म कारण गुण पूर्वक होता है।

व्याख्या='धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम्' [न्याय मु० का० १६१] 'धर्म' और 'अधर्म' ये दोनों 'अदृष्ट [दिखाई न पड़ने

सकने वाले] होते हैं [इनमें से] धर्म—स्वर्ग इत्यादि [सुख की प्राप्ति] का साधन [कारण] है'।

'श्रुति' [सृष्टि के आरम्भ से चले आये पवित्र ज्ञान अर्थात् वेद] के द्वारा विहित [नियमानुसार उचित या ठीक] कर्म के करने से उस धर्म 'गुण' [जिस के द्वारा सुख-शान्ति की वृद्धि हो तथा परलोक में उत्तम गति प्राप्त हो ऐसे पुण्य] की उत्पत्ति होती है। धर्म सदैव अदृष्ट रहता है अर्थात् उसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता प्रत्युत अनुमान और आगम से जाना जा सकता है। जैसे कि विशेष आनन्द को भोग रहे और शान्त प्राणी को देख कर प्रायः यही अनुमान होता है कि अवश्यमेव उस ने पिछले जन्म में कोई ऐसा सत्कर्म [धर्म] किया होगा जिस से अब वह विलक्षण आनन्द पा रहा है [जब उसकी किस्मत में ही सुख लिखा है तो हमारे जलने से क्या होता है] इस रीति से किसी के सुख-शान्ति आदि फल को देख कर उस के बीज अर्थात् 'धर्म' का अनुमान कर लिया जाता है। वेद अध्ययन से भी यही कुछ जान पड़ता है कि [यज्ञदान आदि] शुभ कर्मों के करने से धर्म का संग्रह होता है फिर कालान्तर में उसी धर्म संग्रह से जीव वर्ग को [स्वर्ग आदि] आनन्द भोग रूप फल मिलता है। इसलिये 'धर्म' को जानने के लिये दो ही प्रकार हुए—एक तो 'अनुमान' से और दूसरा 'आगम' से।

"अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दित कर्मजः,
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ।" [मु०का०१६३]

'अधर्म' नरक इत्यादि [दुःखों की प्राप्ति] का कारण है जोकि 'निन्दित कर्म' [वेद तथा उसके जानने वाले महान् पुरुष जिसे बुरा कहें ऐसे खराब कर्म] के करने से उत्पन्न होता है, और प्रायश्चित्त आदि [आचरण के करने] से उस 'अधर्म' का नाश होता है ये [धर्म तथा अधर्म रूप] दोनों गुण केवल जीवात्मा में रहते हैं [परमात्मा में नहीं]।"

"इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः' [न्याय मु०का०]।

ये दोनों 'वासना' [मिथ्या विचार] से उत्पन्न होते हैं और इन दोनों का तत्त्वज्ञान से भी नाश होता है।'

इस सूत्र में आए सर्वप्रथम के 'इमौ' पद से तो 'धर्माधर्म' दोनों का ग्रहण होता है और 'ज्ञानादपि' में 'अपि' शब्द से 'भोग' का परिग्रहण किया गया है। इस प्रकार से सूत्र का आशय यह है कि—धर्म तथा अधर्म ये दोनों 'वासना' [मिथ्याज्ञान से होने वाले असत्य संस्कार] से उत्पन्न होते हैं और तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर उस तत्त्वज्ञान द्वारा वासना का क्षय हो चुकने के कारण उसके बाद में ज्ञानी पुरुष द्वारा किये जा रहे [अर्थात् क्रियमाण] कर्म के नये संस्कार नहीं बनते प्रत्युत उससे हो रही [शुभ अशुभ] क्रियायें केवल आभासमात्र या लीलामय होती हैं [भोगोपयोगिनी नहीं] यहां पर यदि यह कहा जाए कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इस स्मृतिवचन के अनुसार तो—भोगे बिना [अच्छे तथा बुरे] कर्मों का शतकोटि कल्पों [सौ करोड़ जन्मों] से भी क्षय [नाश] होना असम्भव है, इसीलिये सारे कर्म अपना भोग देकर ही नष्ट होंगे, वैसे नहीं ? इस का उत्तर यह है कि—'नाभुक्तं' इत्यादि वाक्य में 'भोग' पद वेदबोधित [श्रुति ज्ञापित] 'नाश मात्र' के प्रति उपलक्षक [उद्भावना करने के लिये] है। अर्थात् जैसे कि भोगे बिना कर्मों का [करोड़ों जन्मों या कल्पनाओं के हो लेने पर भी] क्षय नहीं होता वैसे ही आत्मज्ञान के बिना या प्रायश्चित्त आदि के बिना भी कर्म कदापि नष्ट नहीं होते। क्योंकि 'भोग' पद को यहां यदि आत्मज्ञान आदि का उपलक्षक न मानें तो प्रायश्चित्त आदि से भी कर्मों का नाश नहीं होना चाहिये, परन्तु हो जाता है। इसीलिये तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने से पहले के जो 'सञ्चित' [जिन से भोग मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है ऐसे जो] कर्म हैं वे सब के सब आत्मज्ञान [के प्रभाव] से नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये। जैसे कि—प्रारब्ध कर्मों के अतिरिक्त कर्मों के विषय में गीता में यह कहा गया है कि —

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन,
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।" [अ० ४ श्लोक ३७]

हे अर्जुन जैसे कि—इन्धन को प्रज्वलित अग्नि भस्ममय कर देता है वैसे ही [संचित] सम्पूर्ण कर्मों को तत्त्वज्ञान रूप अग्नि भस्ममय कर देता है

इस रीति से तत्त्वद्रष्टा का केवल प्रारब्ध [वह कर्म जिसका फल अर्थात् भोग वर्त्तमान शरीर के लिये आरम्भ हो चुका हो] बाकी रह जाता है जो नियत समय तक अर्थात् जब तक इसी वर्त्तमान शरीर की आयु निर्धारित है तभी तक चलता है। जैसे कि—तत्त्वद्रष्टा के प्रारब्ध द्वारा शरीर के चलने का उपपादन 'सांख्यदर्शन' में 'चक्रभ्रमि' के दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार से किया गया है कि 'चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः' [अध्याय ३ सूत्र ८२]। चक्र के भ्रमण [घूमने] की तरह शरीर धारण किये हुए होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे—कुम्हार एक बार जब अपने 'चाक' को घुमा कर दण्डा हटा लेता है तो कुम्हार का कर्म निवृत्त हो चुकने पर भी पूर्वले कर्म से उत्पन्न वेग [नामक संस्कार] द्वारा चाक कुछ समय तक घूमता रहता है, ऐसे ही प्रारब्ध कर्मों के वश तत्त्वज्ञानी [जीवन्मुक्त] का शरीर भी कुछ समय तक [अर्थात् अपने प्रारब्ध भोग की समाप्ति तक] चलता रहता है। प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न भोग के समाप्त हो जाने पर तत्त्वदर्शी का शरीर छूटते ही वह परम मुक्त हो जाता है "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्यते" उस के मोक्ष में उतनी ही देर बाकी है जब तक कि उस तत्त्वज्ञानी के वर्त्तमान शरीर का पात नहीं हो पाता। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान [आत्मसाक्षात्कार] हो जाने के बाद में जितने समय तक तत्त्वद्रष्टा जीवित रहेगा उतने समय तक तो वह 'जीवन्मुक्त' और शरीर पात होते ही 'परममुक्त' होता है।

'वेग' नामक संस्कार के बारे में यह माना गया है कि किसी पदार्थ में क्रिया के उत्पन्न कर देने पर, उस प्रथम क्रिया से उसी पदार्थ में वेग उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार किसी पदार्थ में 'वेग' सर्व प्रथम की क्रिया से उत्पन्न हुआ, उसके बाद लगातार जो उस पदार्थ में क्रिया उत्पन्न होती रहती है वह 'वेग' ही से होती है। जैसे कि धनुष से बाण को जब छोड़ा जाता है तब पहले पहल की क्रिया से तो उस बाण में 'वेग' उत्पन्न हो जाता है, फिर उसी वेग के कारण बाण में लगातार बहुत दूर तक उत्तरोत्तर क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं।

"भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः,
उपेक्षानात्मकस्तस्य, निश्चयः कारणं भवेत् ।" [मु० का० १६०

'भावना' [जिसके द्वारा किसी अनुभव की फिर स्मृति होती है, उसी नाम का संस्कार [सामान्यतः प्रत्येक] सजीवात्मा में रहता है और अतीन्द्रि [सदैव अप्रत्यक्ष] होता है, उपेक्षा अनात्मक निश्चय [लापरवाही से बोध का होना, अपितु किसी वस्तु के बारे में दृढ़ विचार] ही 'तस्य' अर्थात् उ [भावना नामक] संस्कार का, कारण होता है ।"

तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के बारे में जब तक [किसी तरह की पक्की धारणा न हो कि–यह वस्तु ऐसी है तब तक उस वस्तु का हृदय में को संस्कार जमता ही नहीं । इसलिये सर्वप्रथम किसी वस्तु का अनुभव होता उसी अनुभव से आत्मा में [उसी वस्तु विषयक अर्थात्] भावना नामक संस्क उत्पन्न हो जाता है । उस भावना नामक संस्कार के द्वारा ही फिर कभी उ वस्तु का स्मरण होता है । जैसे कि 'अयं घटः' इस प्रकार प्रथम घट का अनुभव हुआ, इसी अनुभव से आत्मा में घट सम्बन्धी भावना नाम संस्कार उत्पन्न होता है, फिर उसी 'भावना' नामक संस्कार से कालांतर में 'स घटः' ऐसा स्मरण उत्पन्न हो आता है । इसीलिये 'भावना' नामक संस्कार अनुभव से उत्पन्न और स्मृति का कारण कहलाता 'अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना ।" [तर्क संग्रह] ।

दूसरी तरह कर दी गई [अर्थात् उलट की गई या मुड़ गई किसी वस्तु] को फिर उसी [अपनी पहली] स्थिति में ले आने वाले [संस्कार] का ना 'स्थितिस्थापक' है । "अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः" [तर्क संग्रह] । जैसे कि—वृक्ष की सीधी सी शाखा आदि को खींच कर जब नी कर लिया जाता है तब वह टेढ़ी हो जाती है इस प्रकार यह उस [शाखा] की दूसरी अवस्था या स्थिति हुई । फिर उसी शाखा को छोड़ देने पर व अपनी पहली [सीधी] स्थिति में आ जाती है' खिच कर टेढ़ी हुई शाखा का अपनी पहली वास्तविक स्थिति में आ जाना [फिर ज्यों का त्यों हो जाना] स्थितिस्थापक नामक संस्कार के कारण होता है । और यह स्थितिस्थापक

नामक संस्कार कारण गुण पूर्वक होता है । क्योंकि किसी पदार्थ में यह स्थितिस्थापक संस्कार उसके अपने कारण अर्थात् अवयवों के स्थितिस्थापक संस्कार से आता है। इसीलिये चटाई आदि जोकि मुड़ जाती हैं और फिर सीधी भी हो जाती हैं। उस चटाई का स्थितिस्थापक संस्कार अपने कारण [खजूर आदि के पत्रों] से आया है, तथा उन [पत्तों] का अपने कारण [अवयवों] से, इस प्रकार के क्रम से चटाई के त्र्यणुक, द्व्यणुक तथा अणु में भी स्थितिस्थापक संस्कार विद्यमान है। इसीलिये स्थितिस्थापक नामक संस्कार नित्य भी होता है और अनित्य भी। परमाणुरूप पृथिवी आदि में रहने वाला स्थितिस्थापक संस्कार तो नित्य होता है और द्व्यणुक से लेकर आगे के सभी कार्य द्रव्यों [पदार्थों] में रहने वाला स्थितिस्थापक नामक संस्कार अनित्य ही है। और वह अनित्य स्थितिस्थापक संस्कार अपने आश्रय द्रव्य [जिस में वह रहता है, उसी उत्पत्ति विनाश शील अनित्य पदार्थ] के नाश से नष्ट हो जाता है। परमाणुओं में रहने वाला नित्य स्थितिस्थापक संस्कार तो अतीन्द्रिय [किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण न हो सकने वाला] होता ही है किन्तु चटाई आदि अनित्य वस्तुओं में रहने वाला अनित्य स्थितिस्थापक संस्कार भी सर्वथा अतीन्द्रिय ही होता है। कई एक लोग उसे केवल पृथिवी में मानते हैं। और कई एक पृथिवी आदि चारों में मानते हैं।

मूल = गुरुत्वं कारणगुणप्रक्रमजन्यम् । नैमित्तिकं द्रवत्वं जतुघृतद्रुतसुवर्णादीनामग्निसंयोगजन्यम् । स्नेहः कारणगुणप्रक्रमजन्यः । शब्दस्त्रिविधः—संयोगजः, विभागजः, शब्दजश्च, आद्यो—भेरीदण्डसंयोगजन्यः, द्वितीयो, वंशादिदलद्वयविभागजन्यः, तृतीयस्तु—संयोगेन विभागेन च आद्ये शब्दे जनिते तेन शब्देन निमित्तवायुसहकृतेन वीचीतरङ्गन्यायेन, कदम्बगोलकन्यायेन वा जन्यते । इति गुणनिरूपणम् ॥

अनुवाद = गुरुत्व [नामक गुण] का जन्म कारण गुण पूर्वक होता है। लाख, घी और पिघले हुए सुवर्ण आदि में [रहने वाला] 'नैमित्तिकद्रवत्व' [उनमें] अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है। और स्नेह नामक गुण [जो केवल जल में रहता है उस] की उत्पत्ति भी कारण गुण के पूर्वक ही होती है। शब्द के तीन प्रकार हैं — (१) संयोगज (२) विभागज, और (३) शब्दज। [अर्थात् –संयोग के द्वारा उत्पन्न, विभाग से उत्पन्न, और शब्द के द्वारा उत्पन्न होने वाला शब्द]। उन में से पहला [अर्थात् संयोगज शब्द] ढोल और दण्डे का परस्पर संयोग होने पर उत्पन्न होता है। दूसरा [अर्थात् विभागज शब्द] बांस आदि को दो टुकड़ों में विभक्त करने पर उत्पन्न होता है। और तीसरे [अर्थात् शब्दज शब्द] की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि—संयोग से अथवा विभाग से जब प्रथम शब्द उत्पन्न हुआ तो उसी [सर्व प्रथम] शब्द द्वारा उसके निमित्तकारण वायु की सहायता से 'वीचीतरङ्ग के न्याय' से अथवा 'कदम्बगोलक के न्याय' से उत्पन्न शब्द। गुणों का निरूपण यहां पर समाप्त हुआ।

व्याख्या = "अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत्
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्।"
'तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि, [न्याय मु० का० १५३-४]

"'गुरुत्व' [भार] नामक गुण अतीन्द्रिय [सर्वथा अप्रत्यक्ष] होता है और वह पृथिवी तथा जल [केवल इन दोनों] में रहता है, अनित्य [द्व्यणुक आदि से लेकर आगे के सब कार्य द्रव्यों] में वह गुरुत्व अनित्य होता है और नित्य [अर्थात् परमाणुओं] में नित्य है।" वही गुरुत्व 'पतन' [नीचे को गिरने] रूप क्रिया का असमवायिकारण है।, और कारण गुण पूर्वक ही होता है अर्थात् 'घट का गुरुत्व [भार] उसके अपने कारण अर्थात् दो कपालों के गुरुत्व से आया है।

"नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु,
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं संग्रहे तु तत्।" [न्याय मु० का० १५६]

[स्वाभाविक 'द्रवत्व' केवल जल में, और नैमित्तिक पृथिवी तथा तेज में रहता है जैसे कि] "नैमित्तिक-द्रवत्व' अग्निसंयोग से तपे हुए घी आदि में [प्रतीत होता है] द्रवत्व को स्यन्दन में हेतु [असमवायिकारण] माना जाता है और चूर्ण आदि को मिला कर एकत्रित कर देने में [अर्थात् चूर्ण आदि को पिण्ड रूप बना देने में] वही द्रवत्व निमित्त कारण होता है।"

कारिका में आया 'वह्नि' पद तेजमात्र का वाचक है इस प्रकार 'तेजसंयोग' से उत्पन्न का नाम 'नैमित्तिकद्रवत्व' हुआ। नैमित्तिक द्रवत्व तैजस-सुवर्ण आदि में और पार्थिव-घृत लाख आदि में रहता है। 'द्रवत्व' स्यन्दनरूपक्रिया में तो असमवायिकारण होता है और संग्रह में अर्थात् आटे जैसे चूर्ण आदि के परस्पर मिलाप विशेष [पिण्ड भाव करने] में वह द्रवत्व निमित्त कारण है, परन्तु चूर्ण आदि के मिलाप में निमित्तकारण होना 'स्नेह सहित द्रवत्व' को ही जानना चाहिये [अकेले द्रवत्व को नहीं]। इसी प्रकार लक्षण कर देने से द्रुतस्वर्ण आदि का संग्रह भी न हुआ [अर्थात् पिघले हुए सोने आदि में द्रवत्व के होने पर भी वहां चूर्ण आदि को पिण्ड रूप में कर देने की आपत्ति नहीं हो पाती] क्योंकि स्वर्ण आदि में स्नेह सहित द्रवत्व होता ही नहीं।

"स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ,
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता।" [न्याय मु० का० १५७]।

"स्नेह' [चिकनाहट] नामक गुण केवल जल में रहता है वह [जलीय] परमाणुओं में नित्य होता है और अवयवियों में [द्वयणुक आदिकों में] अनित्य ही है, तेल के अन्दर स्नेह की अधिकता के कारण वह जलने के प्रति सहायक होता है।"

यहां शंका हो सकती है कि [पार्थिव] तेल में स्नेह यदि जल का मान लें तो वह अग्नि का सहायक कैसे हो सकता है क्योंकि जल तो अग्नि का नाशक ही होगा? इस का उत्तर यह है कि पार्थिव तेल में प्रतीत होने वाला स्नेह भी जल का ही होता है, परन्तु तेल में बहुत उत्कर्ष [अति अधिक] स्नेह पाया जाता है इसीलिये वह दहन के प्रति विरोधी न होकर सहायक ही होता है

और जल में जो स्नेह रहता है वह अपकर्ष [बहुत ही कम] होने के कारण अग्नि का नाशक होता है। इसी प्रकार यह आया कि—अपकर्ष स्नेह वाला जल ही अग्नि का नाशक होता है, तेल नहीं। स्नेह भी कारण गुण पूर्वक ही है। अर्थात् पहले द्व्यणुक आदि में फिर क्रमशः उसके कार्य त्र्यणुक आदि में उत्पन्न होता है।

'शब्द' आकाश का विशेष गुण है, इसीलिये केवल श्रोत्रेन्द्रिय [कान के भीतर के आकाश] में ग्रहण होता है। और वह शब्द गुण 'ध्वन्यात्मक' और 'वर्णात्मक' इस भेद के कारण दो प्रकार का होता है। ढोल-शंख तथा घण्टे आदि से उत्पन्न शब्द को 'ध्वन्यात्मक' [ध्वनिमय] कहा जाता है। और कण्ठ से उत्पन्न क ख इत्यादि वर्ण के रूप वाला भाषा आदि में प्रयुक्त होता है इसलिये वह सब 'वर्णात्मक' शब्द कहलाता है। शब्द सर्वशः क्षणिक ही होता है। न्याय-वैशेषिक की भाषा में क्षणिक का अर्थ 'त्रिक्षणस्थायित्व' है। कोई भी क्षणिक पदार्थ प्रथक क्षण में उत्पन्न होता है दूसरा क्षण उस की स्थिति का क्षण है और तीसरा क्षण उसका विनाश का क्षण है। इस प्रकार तीन क्षण रहने से प्रत्येक शब्द क्षणिक कहलाता है। उपर्युक्त 'ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक' शब्द—संयोगज, विभागज और शब्दज, इस भेद से तीन प्रकार का होता है। संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न शब्द 'संयोगज शब्द' कहलाता है। इसी प्रकार विभागरूप असमवायिकारण से उत्पन्न शब्द 'विभागज शब्द' और शब्दरूप असमवायिकारण से उत्पन्न शब्द 'शब्दज शब्द' है। जैसे कि —ढोल और दण्ड का परस्पर [अभिघात] संयोग होने पर जो ढोल युक्त आकाश में उत्पन्न प्रथम शब्द है वही आदि का शब्द 'संयोगज-ध्वन्यात्मक शब्द' कहलाता है। वहां 'ढोल युक्त आकाश' तो उस शब्द का समवायिकारण होता है और 'ढोल आकाश संयोग' असमवायिकारण, और 'ढोल दण्ड संयोग' आदि निमित्तकारण है। बांस आदि को विभक्त करने अर्थात् फाड़ने से जो चट चट शब्द होता है वही प्रथम शब्द 'विभागजध्वन्यात्मकशब्द' कहा जाता है। वहां बांस के दल से युक्त आकाश तो समवायिकारण, और उस शब्द की उत्पत्ति में बांस के दल और आकाश

का विभाग असमवायिकारण, और दोनों दलों का विभाग निमित्त कारण है। इस प्रकार आदि शब्द संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न होने वाला होता है। और उस आदि शब्द से उत्पन्न जो ध्वन्यात्मक द्वितीय शब्द है वही द्वितीय शब्द 'शब्दजध्वन्यात्मकशब्द' कहलाता है। उस द्वितीय ध्वन्यात्मक शब्द का आकाश तो समवायिकारण है, और प्रथम ध्वन्यात्मकशब्द 'असमवायिकारण' और प्रेरित वायु निमित्तकारण है। अब प्रश्न यह है कि दूर अर्थात् घंटा-ढोल आदि देश में उत्पन्न शब्द हमें यहां पर अर्थात् कान में सुनाई कैसे पड़ जाता है। इसी बात को समझाने के लिये मूल में दो प्रकार के क्रम का वर्णन आया है एकतो 'वीचीतरङ्गन्याय' से और दूसरा 'कदम्बगोलकन्याय' से। उन में 'वीचीतरङ्गन्याय' अर्थात् 'वह न्याय जिसमें एक के उपरांत दूसरी इसी क्रम से लगातार बढ़ती चली जाने वाली तरंगों की तरह—ककार आदि वर्णमाला [ध्वनि] की उत्पत्ति होती है।' जैसे कि—तालाब आदि के पानी में कंकर फैंकने पर प्रथम एक तरंग [लहर सी] उत्पन्न होती है फिर लगातार चक्करदार [चारों तरफ़ फैलने वाली] एक के बाद दूसरी तरंग उत्पन्न होती हुई किनारे तक पहुंच जाती है। इसी प्रकार घन्टे पर दण्ड की चोट पड़े सर्वप्रथम जो शब्द घन्टा देश में उत्पन्न होता है वही शब्द चलकर हमारे कान तक नहीं पहुंचता प्रत्युत वह पहला [टंकार] शब्द अगले शब्द को उत्पन्न करता है और उसी अगले शब्द से पहले शब्द का नाश हो जाता है। अगला शब्द फिर अगले शब्द को उत्पन्न करता है इसी रीति से अर्थात् पहले से अगला फिर उसी से अगला शब्द उत्पन्न होते हुए हमारे कान तक पहुंचता है, इसी को "वीचीतरङ्गन्याय" कहते हैं। इसके बाद शब्द की गति या उत्पत्ति का दूसरा प्रकार जोकि "कदम्बगोलकन्याय" है। उसी का अभिप्राय यह है कि—जिस तरह कदम्बफूल की कली में से पंखड़ियां चारों तरफ़ को खिल उठती हैं उसी तरह ढोल आदि के प्रथम शब्द से निकला अगला अगला शब्द सभी ओर फैला हुआ हमारे कानों में सुनाई देता है। यहां तक [यथार्थ ज्ञान को छोड़कर जिसे आगे बताया जायेगा बाकी के] सभी 'गुणों' का वर्णन हो चुका। इसीलिये क्रमशः तीसरे "कर्म" पदार्थ को बताते हैं:—

मुल = उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि 'पञ्च' कर्माणि । उत्क्षेपणत्वादीनि जातयः । पृथिवी-जल-तेजो-वायु मनो-वृत्तीनि कर्माणि, सर्वाणि अनित्यानि । अतीन्द्रियवृत्तीनि अतीन्द्रियाणि, प्रत्यक्षवृत्तीनि प्रत्यक्षाणि । अथ कर्मप्रक्रिया संयोगेन नोदनाख्येनाद्यं कर्म जन्यते, द्वितीयादि वेगजन्यम् । क्रियातो विभागः, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततः उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिः, ततः कर्मविभागयोर्नाशः। इति कर्मनिरूपणम् ॥

अनुवाद = (१) उत्क्षेपण = ऊपर फैंकना (२) अवक्षेपण = नीचे फैंकना (३) आकुञ्चन = संकुचित करना या समेटना (४) प्रसारण = फैलाना या बढ़ाना (५) गमन = चलना फिरना, ये पांच कर्म हैं। उत्क्षेपणत्व आदि जातियां हैं । पृथिवी–जल–तेज–वायु तथा मन, में रहने वाले जो भी कर्म हैं वे सभी अनित्य होते हैं । अतीन्द्रिय [जिनका प्रत्यक्ष न होता हो ऐसे पदार्थों] में रहने वाले कर्म भी अतीन्द्रिय अर्थात् अप्रत्यक्ष ही होते हैं और जो पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं तो उनमें रहने वाले कर्म भी प्रत्यक्ष ही हुआ करते हैं। अब कर्म की प्रक्रिया [उत्पत्ति के क्रम] को कहते हैं—पहले पहल की क्रिया [कर्म] का जन्म 'नोदन' नामक संयोग के द्वारा होता है फिर उसके बाद की क्रियाएं 'वेग' ही से उत्पन्न होती रहती हैं। क्रिया से विभाग होता है, विभक्त होने पर [वस्तु का] पिछला संयोग नष्ट हो जाता है, उससे अगली जगह संयोग की उत्पत्ति होती है, उसके बाद कर्म [क्रिया] और विभाग दोनों नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म का [भी] निरूपण हो चुका ॥

आलोचना = यहां यदि कहा जाय कि 'भ्रमण' [चक्कर में घूमना] आदि दूसरे कर्मों को क्यों नहीं कहा गया तो इसका उत्तर यह है कि—

"भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च,
तिर्य्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ।" [न्याय मु० का० ७] ।

चक्कर में घूमना, शरीर से मल आदि का बाहर निकलना, बहाव, और ऊपर की तरफ़ जलना तथा तिरछा चलना [जैसे सांप का] ऐसे सभी [तरह के] कर्म गमन ही में प्राप्त हो जाते हैं [अतः 'गमन' से ये कोई भिन्न कर्म नहीं हैं]।

मूल = सामान्यं त्रिविधम्—व्यापकं, व्याप्यं, व्याप्यव्यापकञ्च। व्यापकं सत्ता, व्याप्यं घटत्वादि, द्रव्यत्वादि 'व्याप्य—व्यापकम्'।

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥"

नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वमिति सामान्यलक्षणम्। सामान्यानि नित्यान्येव, अतीन्द्रियवृत्तीनि अतीन्द्रियाणि, प्रत्यक्षवृत्तीनि प्रत्यक्षाणि।

अनुवाद = 'सामान्य' तीन प्रकार का है—एक तो 'व्यापक' दूसरा 'व्याप्य' और तीसरा 'व्याप्य—व्यापक' सामान्य। [द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीनों में रहने के कारण] 'सत्ता' [जाति] व्यापक सामान्य [सब से बड़ी जाति] है। [घट पट आदि में रहने वाली] घटत्व आदि जाति 'व्याप्य सामान्य' है। [पृथिवी आदि द्रव्यों में रहने वाली] द्रव्यत्व आदि [जाति] 'व्याप्य—व्यापक' सामान्य है। अब श्लोक का अर्थ यह है—

(१) व्यक्ति का एकत्व [अर्थात् एक व्यक्ति में रहना], (२) व्यक्तियों का तुल्य होना, (३) सङ्कर [एक दूसरे में मिलकर न रहने वाले धर्मों का कहीं पर एकत्र हो जाना], (४) अनवस्था होना' [अर्थात् जाति में जाति मान लेने पर 'अव्यवस्था बन जाना] (५) [जिस जाति के मानने से वह जाति जिस वस्तु में रहे उसके] स्वरूप की हानि, (६) [ऐसी जाति जिसके मानने से समवाय] सम्बन्ध का न बन सकना, [इसी तरह इन छः रूपों में] जाति बाधकों का संग्रह हुआ। [अतएव]—

उस सामान्य [जाति] का लक्षण अर्थात् स्वरूप यह है कि—"जो नित्य हो और अनेकों [एक से अधिक] में समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहता] हो।"

जाति नित्य होती हैं। [परमाणु आदि अप्रत्यक्ष अर्थात्] अतीन्द्रिय पदार्थों में रहने वाली जातियां भी [सर्वशः] अतीन्द्रिय [अप्रत्यक्ष] ही हुआ करती हैं। और [पृथिवी आदि] प्रत्यक्ष पदार्थों में रहने वाली [पृथिवीत्व आदि] जातियां प्रत्यक्ष मानी जाती हैं।

व्याख्या = मूल में "सामान्य' [जाति] का लक्षण यह किया है कि 'नित्य होते हुए जो अनेकों में समवेत हो।'' इसका अभिप्राय यह होगा कि जो (१) नित्य हो (२) अनेकों में रहे, और (३) समवाय सम्बन्ध से रहे, [केवल] वही पदार्थ सामान्य हो सकता है [कोई दूसरा नहीं]। इस प्रकार सामान्य को समझते समय यह आवश्यक हो जाता है कि इन तीनों बातों पर ध्यान रखा जाए क्योंकि इन में से किसी एक के न रहने से लक्षण दूषित हो जाता है। जैसे कि—लक्षण में रखी गई पहली शर्त 'नित्य होना' हटा कर यदि 'अनेक समवेत्वम् सामान्यम्' अर्थात् जो अनेकों में [रहे], और समवाय सम्बन्ध से रहे—इतना ही सामान्य का लक्षण रहने दिया जाय तो यह लक्षण 'संयोग' आदि में भी घट सकता है क्योंकि संयोग भी एक में नहीं रहता प्रत्युत अनेक [अर्थात् उन एक से अधिक] में रहता है जोकि परस्पर संयुक्त होते हैं। जैसे कि—कपड़े और मनुष्य का 'संयोग' उन दोनों अर्थात् कपड़े और मनुष्य में रहता है। इसीलिये अनेकों में समवेत होने के साथ साथ लक्षण में 'नित्य होने की' [नित्यत्वे सति] शर्त रख दी गई है जिस से यह लक्षण संयोग आदि में अतिव्याप्त नहीं हो सकता क्योंकि अनेक में रहने पर भी 'संयोग' नित्य वस्तु नहीं अपितु अनित्य ही है। यदि दूसरी बात अर्थात् 'अनेकों में' [रहना] हटा कर केवल 'नित्यत्वे सति समवेतत्वम् सामान्यम्' अर्थात् 'जो नित्य हो, और समवाय सम्बन्ध से रहता हो' इतना ही लक्षण रहने देते तो यह सामान्य का लक्षण 'आकाश के परिमाण' में भी चला जाता। क्योंकि आकाश के नित्य होने के कारण उसका परिमाण भी नित्य है जो आकाश में [नित्य अर्थात्] समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाता उस दोष को दूर करने के लिये 'नित्य होने' और 'समवाय सम्बन्ध से रहने' के साथ

साथ लक्षण में 'अनेकों में रहने' की भी शर्त डाल दी गई है। इसी अर्थात् 'अनेक' पद के डाल देने से 'नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्' यह सामान्य का लक्षण आकाश-परिमाण में नहीं जा सकता। क्योंकि आकाश परिमाण आकाश ही का गुण होने से केवल [अपने गुणी अर्थात्] 'एक' आकाश में ही रहता है, अनेकों में नहीं रहता। रही तीसरी बात अर्थात् **'समवाय सम्बन्ध से रहना'** उसे लक्षण से निकाल कर यदि 'नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वम्' अर्थात् 'जो नित्य हो, और अनेकों में रहता हो' —इसी प्रकार यदि सामान्य का लक्षण कर देते तो यह लक्षण अत्यन्ताभाव में भी चला जाता। क्योंकि न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त अनुसार 'अत्यन्ताभाव' नित्य है। इसीलिये पट में घट का अभाव जैसे नित्य है वैसे ही जिन जिन पदार्थों या स्थानों में उस घट का नित्य अभाव है उन सब अनेकों में वह रहता है। किन्तु अत्यन्ताभाव जहां भी कहीं होता है तो वहां वह समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, प्रत्युत स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार यदि 'समवाय सम्बन्ध से रहना' यह तीसरी शर्त हटाकर केवल 'साधारण रूप से रहना' कहा जाता तो 'सामान्य' का लक्षण 'अत्यन्ताभाव' में भी घट जाता। इसी दोष को दूर करने के लिये लक्षण में 'साधारणतया रहना [वृत्तित्वम्]' न रख कर **'समवाय सम्बन्ध से रहना** [समवेत्वम्] अंश डाल दिया गया है, जिस से सामान्य का लक्षण अत्यन्ताभाव में नहीं घट सकता। क्योंकि 'अत्यन्ताभाव' तो अपने अधिकरण [आधार] में स्वरूप सम्बन्ध से ही रहता है, न कि समवाय-सम्बन्ध से। अतएव निर्दोष लक्षण यह हुआ कि "जो नित्य होते हुए–अनेकों में–समवाय सम्बन्ध से रहे" उसे 'सामान्य' [अर्थात् 'जाति'] कहते हैं। और वह—

'सामान्य' तीन प्रकार का होता है (१) **'व्यापक'** सामान्य अर्थात् 'पर' सामान्य (२) **'व्याप्य'** सामान्य, अर्थात् 'अपर' सामान्य, और (३) **"व्याप्य-व्यापक'** सामान्य, अर्थात् 'अपर-पर" सामान्य। जो किसी दूसरे की अपेक्षा अधिक देश वृत्ति हो उसको [उस से] 'पर' कहा जाता है। जो दूसरे की अपेक्षा न्यून देश वृत्ति हो उसे [उस से] **'अपर'** कहते हैं।

और दो अलग अलग अपेक्षाओं के कारण अर्थात् जो किसी की अपेक्षा तो कम देश वृत्ति हो और किसी की अपेक्षा अधिक देश वृत्ति भी हो—उसे 'अपर-पर' कहा जायेगा। जैसे कि—

"द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते" [न्याय मु० का०]।

"द्रव्य आदि [द्रव्य, गुण और कर्म] तीनों में रहने वाली 'सत्ता' को 'पर' [सामान्य] अर्थात् 'सब से बड़ी' [जाति] कहा जाता है।" क्योंकि 'द्रव्य-गुण-कर्म' इन तीन पदार्थों के अतिरिक्त बाकी के-सामान्य-विशेष-समवाय और अभाव [इन चारों] में कोई जाति नहीं रहती [यह आगे बताया जायेगा]। इसलिये 'सत्ता' के मुकाबले की और कोई जाति द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहने वाली न होने के कारण अन्य सभी जातियों की अपेक्षा 'सत्ता' अधिक देश वृत्ति है इस प्रकार उस को सब से 'पर' सामान्य माना जाता है। परन्तु इतना और जान लेना चाहिये कि 'सत्ता' शब्द का अर्थ यहां 'अस्तित्व' नहीं लिया गया। जैसे कि कारिका से भी स्पष्ट है कि 'सत्ता' द्रव्य गुण और कर्म में ही रहती है, इन तीनों के अतिरिक्त सामान्य आदि में नहीं, इसीलिये 'सत्ता' शब्द का अर्थ यदि यहां पर 'अस्तित्व' होता तो वह सभी पदार्थों के लिये आता। क्योंकि 'अस्तित्व' तो सामान्य, विशेष और समवाय में भी रहता है इसी प्रकार न्याय सिद्धान्त के अनुसार 'अभाव' पदार्थ को भी 'नृश्रृङ्ग' की तरह सर्वथा 'असत्' नहीं कहा जा सकता प्रत्युत 'अभाव' को जबकि एक [स्वतंत्र] पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है और उस की प्रतीति होती है तो यह भी स्पष्ट है कि जिस रूप में 'अभाव' का अनुभव किया जायेगा उसी रूप में 'उसका होना' [अस्तित्व] अपने आप सिद्ध होगा। इन सब बातों पर दृष्टि रखते हुए 'सत्ता' शब्द का अर्थ यहां 'अस्तित्व' न लेकर ['सत्ता' शब्द को] पारिभाषिक या लाक्षणिक मानते हुए उसका अर्थ 'पर' सामान्य या जाति है, जोकि सब जातियों की अपेक्षा अधिक देश वृत्ति [अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती] है, और 'अस्तित्व' उपाधि ही है, ऐसा समझना चाहिये।

"परभिन्ना चा या जातिः सैवाऽपरतयोच्यते,
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ।" [न्याय मु० का० ६] ।
'व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद् व्याप्यत्वादपराऽपि च ।'

"'पर' जाति से जो अलग जाति है उसी को 'अपर' जाति कहते हैं, [परन्तु] 'द्रव्यत्व' आदि जाति 'पर और अपर' [अर्थात् व्यापक और व्याप्य दोनों तरह की जाति] कहलाती है।" व्यापक [पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा अधिक देश वृत्ति] होने के कारण वह 'पर' [जाति] है और व्याप्य [सत्ता की अपेक्षा अल्पदेश वृत्ति] होने से वह 'अपर' [जाति] भी है।"

व्यावहारिक ज्ञान के सर्वथा सापेक्ष होने के कारण 'पर' और 'अपर' ये दोनों प्रकार का व्यवहार भी अपेक्षाकृत है। इसलिये जो भी कोई जाति यदि [अपने से अलग] किसी दूसरी जाति से अधिक देश वृत्ति नहीं होगी तो वह सदैव 'अपर' जाति ही रहेगी। जैसे कि [द्रव्य आदि पदार्थों, और पृथिवी आदि द्रव्यों को छोड़ कर अन्य] जितनी भी ये घट, पट आदि स्थूल वस्तुओं को हम देखते हैं उन उन प्रत्येक में रहने वाली घटत्व, पटत्व आदि जाति केवल 'अपर' जाति हैं। क्योंकि 'घटत्व' जाति केवल प्रत्येक घट में रहती है अन्य पट इत्यादि में नहीं। इसी प्रकार 'पटत्व' जाति भी केवल प्रत्येक पट में रहेगी, घट इत्यादि में नहीं। इसीलिये ये घटत्व, पटत्व आदि सभी जातियां किसी भी दूसरी जाति की अपेक्षा अधिकदेशवृत्ति न होने के कारण से केवल 'अपर' सामान्य या जाति कहलाती हैं।

एक ही 'द्रव्यत्व' आदि जाति आपेक्षिक दो अलग अलग धर्मों की दृष्टि से 'पर' और 'अपर' [व्यापक और व्याप्य] दोनों तरह की बन सकती है। जैसेकि—उसी एक ही 'द्रव्यत्व' का पृथिवीत्व की अपेक्षा 'अधिकदेशवृत्ति होने' रूप धर्म से तो 'पर' होना—और 'सत्ता' की अपेक्षा 'अल्पदेशवृत्ति होने' रूप धर्म से 'अपर' होना, बन जाता है। अर्थात् 'द्रव्यत्व' जाति पृथिवी-जल आदि प्रत्येक द्रव्य [तथा उनके विभाग] में रहती है और 'पृथिवीत्व' जाति केवल प्रत्येक पार्थिव अंश में रहती है इसलिये द्रव्यत्व का क्षेत्र पृथिवीत्व से

बड़ा होने के कारण वह पृथिवीत्व की अपेक्षा 'पर' जाति है। और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' भी है। क्योंकि 'सत्ता' जाति प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक गुण और प्रत्येक कर्म में रहती है और 'द्रव्यत्व' केवल प्रत्येक द्रव्य में रहती है इसी प्रकार द्रव्यत्व का क्षेत्र 'सत्ता' से कम होने के कारण वह 'सत्ता' की अपेक्षा 'अपर' सामान्य या जाति है। अतएव दो भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से 'एक' ही का 'पर' और 'अपर' दोनों होना सिद्ध हो सकता है। इस से यह आया कि 'द्रव्यत्व' का पृथिवीत्व से 'पर' होना, और 'पृथिवीत्व' का द्रव्यत्व से 'अपर' होना, ये दोनों बातें [अर्थात् किसी का 'पर' सामान्य होना या फिर उसी का 'अपर' सामान्य होना] आपेक्षिक हैं।

'एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जाति।' तथा चोक्तम्—

'केवल एक व्यक्ति में 'जाति' रहती ही नहीं।' इसी बात को स्पष्ट करने के लिये पीछे दिखाए गए 'जाति को रोकने वाले [जाति बाधक]' छः रूपों का क्रमशः वर्णन किया जाता है —

(१) व्यक्ति का अभेद [एकत्व=एक होना] अर्थात् केवल एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म, जाति का बाधक है। जैसे कि—'आकाशत्व' [धर्म] केवल एक आकाश में ही रहने के कारण जाति नहीं होता है 'तत्रैकव्यक्तिकत्वादाकाशत्वं न जातिः।' क्योंकि यह नियम है कि 'जाति' अनेकों [एक से अधिक] में रहती है, परन्तु आकाश तो केवल एक ही है, न कि अनेक। इसीलिये आकाश में रहने वाला धर्म 'आकाशत्व' कोई भी जाति नहीं, अपितु उपाधि है।

(२) 'व्यक्तियों की एकता' [तुल्य होना=उनका एक होना] अर्थात् यदि किन्ही व्यक्तियों में अलग अलग दो धर्म प्रतीत हो रहे होने पर वे व्यक्ति यदि 'एक ही' अर्थात् 'तुल्य' होंगे तो उन में मालूम पड़ रहे वे दो धर्म अलग अलग जातियां नहीं मानी जायेंगी। जैसे कि 'घट' और 'कलश' के तुल्य व्यक्ति, अर्थात् एक ही व्यक्ति, होने के कारण [वहां भूल से समझे जा रहे दो धर्म] अर्थात् 'घटत्व' और 'कलशत्व' दो जातियां नहीं मानी जाती हैं "तुल्यव्यक्तिकत्वाद्घटत्वं कलशत्वं न जातिः।" क्योंकि 'घट' और 'कलश'

दोनों पर्यायवाची [एक ही अर्थ के सूचक] शब्द हैं अर्थात् 'घट' और 'कलश' कोई अलग अलग व्यक्ति नहीं हैं, प्रत्युत व्यक्ति एक ही है केवल उस को दो नामों से बोला जा रहा है। इसीलिये 'घट' और 'कलश' के अलग अलग व्यक्ति न होने के कारण उसी 'एक' व्यक्ति में ऊपरी दृष्टि से देखे जा रहे 'घटत्व' और 'कलशत्व' दोनों धर्म वस्तुतः दो अलग अलग सामान्य या जाति नहीं बन सकते। अपितु जाति 'एक' ही है जिस को 'घटत्व' और 'कलशत्व' प्रर्यायवाची इन दो नामों से बोला जाता है। इस से स्पष्ट हुआ कि–प्रर्यायवाची दो शब्दों से अलग अलग दो जातियां नहीं मानी जाती हैं।

(३) **'सङ्कर'** अर्थात् आपस में एक साथ न रहने वाले धर्मों का कहीं पर इकट्ठा हो जाना ही 'संकर' कहलाता है "परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः।" जैसे कि—भूतत्व और मूर्तत्व ये दो ऐसे धर्म हैं जहां उन में से एक रहता है वहां दूसरा नहीं रहता। क्योंकि 'भूतत्व' धर्म पांच भूतों में अर्थात् 'पृथिवी–जल–तेज–वायु और आकाश' में रहता है और 'मूर्तत्व' धर्म का अर्थ है अविभु परिमाण जोकि [विभु परिमाण वाले—आकाश, काल, दिशा और आत्मा इन चार द्रव्यों को छोड़ कर बाकी के] पृथिवी–जल–तेज–वायु और मन में रहता है। परन्तु पृथिवी, जल, तेज, और वायु में वे दोनों धर्म इकट्ठे होने की दशा में वहां 'जाति' के रूप में नहीं माने जा सकते। क्योंकि उन का अधिकरण समान नहीं, प्रत्युत वे दोनों धर्म 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण' हैं। अर्थात् जिस जगह उनमें से एक धर्म नहीं रहता उसी जगह या अधिकरण में दूसरा धर्म रहता है। जैसे कि–मन में भूतत्व धर्म नहीं रहता अपितु उसमें मूर्तत्व धर्म पाया जाता है इसलिये जिस अधिकरण में मूर्तत्व धर्म रहता है उसी अधिकरण में भूतत्व धर्म का अभाव हुआ। इसी प्रकार आकाश में मूर्तत्व धर्म नहीं रहता प्रत्युत उसमें भूतत्व धर्म पाया जाता है इसलिये भूतत्व धर्म के अधिकरण में मूर्तत्व धर्म का अभाव भी स्पष्ट है। इससे यह आया कि, दोनों का संकीर्ण होने के कारण—पृथिवी आदि चार में रहने वाले **'भूतत्व—मूर्तत्व'** को जाति या सामान्य नहीं माना जा सकता "सङ्कीर्णत्वाद्भूतत्वं मूर्तत्वं च न जाति।"

(४) **अनवस्था**=असीमपदार्थकल्पना या विश्रान्ति का अभाव। अर्थात् जाति में जाति की कल्पना करने [बढ़ाने] से जाति सिद्धान्त का कहीं पर ठहराव नहीं हो सकता, इसीलिये अनवस्था दोष के आ जाने से–'सामान्य' में रहने वाली कोई 'सामान्यत्व' नाम की जाति नहीं मानी जायेगी "अनवस्थाभयात् सामान्यत्वं न जातिः।" क्योंकि–सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि को तो 'सामान्य' लिया गया ही है, परन्तु उनमें यदि सत्तात्व, द्रव्यत्वत्व तथा पृथिवीत्वत्व आदि को 'सामान्य' का रूप दे दिया जाय, तो फिर यह भी हो सकता ही है कि सत्तात्व अथवा द्रव्यत्वत्व आदि में और 'त्व' लगा कर उनमें 'सत्तात्व–त्व' तथा 'द्रव्यत्व–त्व–त्व' आदि नाम की जातियों की कल्पना कर ली जाए। इस प्रकार एक में दूसरी, और उसमें तीसरी फिर चौथी जाति की लगातार कल्पना करते [बढ़ाते] चले जाने से यह परम्परा अनन्त काल तक चलती रहेगी जिसके कारण उस की कहीं भी समाप्ति नहीं होगी। इसीलिये 'सामान्य' पदार्थ जो कि [स्वयं] जाति स्वरूप है उस में 'अनवस्था-भयात्' कोई जाति नहीं मानी जा सकती। अर्थात् अनवस्था दोष के होने से जाति में जाति रहने का सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार यह आया कि—'द्रव्यत्वत्व' आदि नाम की कोई भी जाति नहीं होती, अपितु वे केवल अनवस्थित कल्पनाएं ही हैं।

(५) **'रूप हानि'** अर्थात् जिस पदार्थ में जाति के मानने से, उस पदार्थ का 'वास्तविक स्वरूप [जिस रूप में कि वह लिया जाता है] यदि नष्ट होता हो तो वहां भी जाति नहीं मानी जायेगी। जैसे कि–न्याय में घट पट आदि व्यावहारिक पदार्थों का परस्पर भेद प्रायः उनमें रहने वाली घटत्व पटत्व आदि जातियों के कारण होता है। और एक घट का अपने जैसे [समान जातीय] घट से भेद प्रत्येक घट के अपने अलग अलग अवयवों के कारण सिद्ध हो जाता है। परन्तु 'विशेष' [एक ऐसा पदार्थ है जिस] का भेद किसी [जाति आदि] के द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः" अर्थात् नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाले अन्तिम भेदक धर्म को 'विशेष' कहा जाता है। इस प्रकार नित्य द्रव्य परमाणु आदि 'विशेष' पदार्थ के द्वारा

एक दूसरे से अलग किये जाते हैं। और परमाणु वा आत्मा आदि [नित्य द्रव्यों] के अनन्त होने के कारण 'विशेष' भी अनन्त हैं। प्रत्येक नित्य द्रव्य अर्थात् परमाणु आदि में रहने वाला [एक एक] विशेष जहां उन परमाणु आदि को एक दूसरे से अलग करता है वहां वह प्रत्येक विशेष अपने से दूसरे विशेष से भी 'स्वतोव्यावृत्त' रहता है अर्थात् एक 'विशेष' को दूसरे 'विशेष' से अलग करने वाला कोई और 'विशेष' नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक विशेष के 'स्वतो व्यावृत्त' होने के कारण वह दूसरे विशेष से अलग भी अपने विशेष स्वरूप से ही होता है [न कि किसी और रूप से]। अब प्रत्येक स्वयमेव अलग अलग विशेष में यदि 'विशेषत्व' नामक [सामान्य धर्म अर्थात्] जाति को मान लें तो उस प्रत्येक विशेष का 'विशेषत्व' जाति द्वारा व्यावर्त्तन मानना पड़ेगा क्योंकि जिस में जाति रहती है उसको वह दूसरे पदार्थों से अलग करती है। इस प्रकार 'विशेष' का जबकि 'विशेषत्व' जाति के द्वारा व्यावर्त्तन हुआ तो स्पष्ट है कि वह नित्यों को एक दूसरे से अलग अपने विशेष स्वरूप से नहीं कर सकेगा, क्योंकि 'विशेष' का अलग करने का धर्म[स्वभाव] उस 'विशेषत्व' जाति में ही रहेगा। ऐसी दशा में 'विशेष' पदार्थ की जो कल्पना नित्य पदार्थों को एक दूसरे से अलग करने के लिये की गई है, व्यर्थ हो जायेगी। और इस रीति से तो 'विशेष' पदार्थ का वह स्वरूप ही [जिस रूप में वह लिया गया है] नष्ट हो जायेगा। इस से यह आया कि 'स्वरूपहानि-स्यात्' विशेष में रहने वाली 'विशेषत्व' जाती नहीं, केवल उपाधि है, ऐसा माना जायेगा "विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानिः स्यादतो विशेषत्वं न जातिः।"

(६) **असम्बन्ध**=सम्बन्ध का अभाव, अर्थात् 'जाति' का किसी में 'समवाय' सम्बन्ध से न रहना ही उस 'जाति' के मानने में बाधक है। जैसे कि—"समवायसम्बन्धाभावात् समवायो न जातिः" अर्थात् 'समवाय-सम्बन्ध' का अभाव होने के कारण [समवाय में] 'समवायत्व' जाति' नहीं है। इस प्रकार समवाय में 'सामान्य' या जाति के न मानने का कारण 'असम्बन्ध' है। क्योंकि यह नियम है कि 'जाति' अपने आश्रय [व्यक्ति] में 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है। इस प्रकार 'समवाय' में यदि 'समवायत्व' जाति मान ली जाय,

तो वह भी 'समवाय' [व्यक्ति] में 'समवाय-सम्बन्ध' से ही रहेगी, ऐसी परिस्थिति में उस 'समवायत्व' जाति का अपने व्यक्ति 'समवाय' में, रहने का सम्बन्ध भी कोई और 'समवाय' मानना पड़ जायेगा। परन्तु 'समवाय' में दूसरा 'समवाय' रहे—यह बात सम्भव ही नहीं, अर्थात् 'समवाय' में 'समवायत्व' नामक जाति को सिद्ध करने के लिये कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस से यह आया कि—सम्बन्ध का न बन पाना [असम्बन्ध रहना] ही उस 'समवायत्व' नामक जाति की सिद्धि में बाधक है। अतएव 'समवायत्व' जाति नहीं, अपितु उपाधि ही है। इसी प्रकार से स्पष्ट हो गया कि—

(१) एक व्यक्ति में जाति के मानने में 'व्यक्ति का अभेद' **[अर्थात् उस व्यक्ति का 'एक' होना]। (२) अधिक नामों वाले एक ही व्यक्ति में अधिक जातियों के मानने में** 'तुल्यत्व'**। (३) परस्पर विपरीत धर्मों [जातियों]** का एक **स्थान में इकट्ठा रहना मानने में** 'संकर'**। (४) 'सामान्य' अर्थात्** 'जाति' में **जाति के मानने में** 'अनवस्था'**। (५) 'विशेष' में जाति के मानने में [उसके]** 'रूप की हानि'**। और (६) 'समवाय' में जाति के मानने में** 'असम्बन्ध'**। ये छः प्रकार के जाति-बाधक हैं।** अब 'विशेष' पदार्थ को बताते हैं—

मूल = नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, ते च बहवो नित्या अतीन्द्रियाश्च, प्रलये परमाणूनां भेदाय ते स्वीक्रियन्ते, तेषां वैधर्म्यव्याप्यत्वात्।

'अनुवाद = जो नित्य द्रव्यों में रहता है और अन्तिम है—उसे 'विशेष' कहते हैं। और वे बहुत [अर्थात् अनन्त] हैं, नित्य [अर्थात् अविनाशी] हैं और अतीन्द्रिय [इन्द्रियों से पर अर्थात् अगोचर] हैं। प्रलय [संसार के विनाश के समय] में परमाणुओं [का एक दूसरे] में भेद रखने के लिये वे मानने पड़ते हैं, क्योंकि उनके 'विपरीत धर्म से व्याप्त' [अर्थात् स्वतो व्यावृत्त] होने से वे 'विशेष' ही प्रलय के समय में परमाणुओं के भेदक बन सकते हैं]।"

व्याख्या = 'विशेष' वैशेषिक का एक अधिक विशेषता अथवा महत्व युक्त सिद्धान्त है। जिसके बारे में ऐसा मालूम देता है कि 'वैशेषिक' का नाम भी कदाचित् इस 'विशेष' पदार्थ ही के आधार पर पड़ा हो। विशेष अनन्त और नित्य हैं जोकि नित्य द्रव्यों में अर्थात् पृथिवी आदि चार के प्रत्येक परमाणु में ऐसे ही प्रत्येक अणु स्वरूप मन में और आकाश आदि प्रत्येक विभु द्रव्य में पृथक् पृथक् 'एक' विशेष रहता है और वह अन्तिम है, अर्थात् उस से आगे कोई विशेष नहीं होता। इसी बात को 'मुक्तावलीकार' विश्वनाथ ने सिद्धान्तमुक्तावली में निम्न प्रकार विषद किया है—

'विशेषं निरूपयति अन्त्य इति'—

सि० मु० = "अन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्यो, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तिरिति फलितोऽर्थः। घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात् परस्परं भेदः। परमाणूनां पपस्परं भेदको विशेष एव। स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः।"

अर्थ = "अन्त का अर्थ है अवसान = समाप्ति, [इस प्रकार] जो सब से अन्त में रहे [वही अन्तिम] 'विशेष' हैं [इस प्रकार विशेष 'अन्तिम' रहेगा अर्थात्] जिस की अपेक्षा [या जिसके आगे फिर दूसरा] कोई और विशेष न हो और जो केवल एक में रहता हो—यही अभिप्राय है। घट आदि [स्थूल कार्य] से लेकर [सूक्ष्म कार्य] द्व्यणुक पर्यन्त प्रत्येक [समान जातीय अर्थात् एक सी] वस्तु का परस्पर भेद अपने अपने अवयवों के भेद से होता है। [किन्तु] प्रत्येक परमाणु [जिनका कोई अवयव होता ही नहीं उन] को एक दूसरे से अलग करने वाला [तत्त्व] 'विशेष' है। और वह 'विशेष' स्वयमेव व्यावृत्त [अपने ही आप दूसरों से अलग] है, इसीलिये उस में [औरों से अलग रह सकने के लिये] किसी भी अन्य 'विशेष' की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं [पड़ती] है, यही भाव निकला।"

भाव = 'न्याय-वैशेषिक' की प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक [स्थूल वा सूक्ष्म] 'समान-जातीय' पदार्थों का एक दूसरे से भेद साधारणतः उनके अपने अलग

अलग अवयवों से होता है। जैसे कि—दो घटों में घटत्व जाति विद्यमान परन्तु फिर भी वे दो अलग अलग व्यक्ति इसीलिये हैं कि उन दोनों अवयव भिन्न भिन्न हैं अर्थात् एक घट व्यक्ति जिन अवयवों [कपालों] बना है दूसरा [उस जैसा] घट उन्हीं अवयवों [कपालों] से नहीं बना, प्रत्युत दूसरे ही अवयवों [कपालों] से बना है। इसी प्रकार घट के अवयव अर्थात् दोनों कपालों का भी एक दूसरे से भेद है, क्योंकि एक कपाल के अवयव सर्वथा दूसरे कपाल के अवयवों से अलग हैं। इसी प्रकार अनित्य व्यक्ति भेद अवयवों से करते करते हम द्व्यणुक तक पहुंच पाते हैं क्योंकि द्व्यणुक सब से अन्त का कार्य है, घट के दो द्व्यणुक भी आपस में इसीलिये भिन्न हैं कि उन दोनों के अन्तिम अवयव अर्थात् अणु भिन्न भिन्न हैं इस प्रकार दोनों द्व्यणुकों का भी एक दूसरे से भेद उन दोनों के अवयव अर्थात् अलग अलग अणुओं के कारण से कहा जा सकता है। यहां तक अवयवों से दिखाया गया अनित्य व्यक्ति भेद केवल एक ही जाति की और एक ही तरह की वस्तुओं में समझना चाहिये। जैसे कि—घट और पट ये दोनों पदार्थ न तो एक ही जाति के हैं और न ही एक तरह के, इसीलिये इन दोनों का आपस में भेद—अवयव भेद के कारण नहीं माना जाता, प्रत्युत घट और पट का एक दूसरे से भेद उन में रहने वाली अलग अलग जाति के कारण होता है। इसीलिये यहां पर अवयवों से भेद दिखाने के लिये—घटों, कपालों अथवा एक ही पदार्थ के दो द्व्यणुकों का उदाहरण दिया गया है। द्व्यणुक एक प्रकार का कार्य-द्रव्य होने से उसके तो अवयव होते ही हैं। परन्तु 'परमाणु' जोकि कार्य-द्रव्य ही नहीं इसलिये उसके अवयव भी नहीं होते, इस से यह आया कि, यहां अन्तिम अवयव द्वारा भेद को समाप्त होना पड़ता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि—समान जातीय एक परमाणु का समान जातीय दूसरे परमाणु से, अर्थात् एक पार्थिव परमाणु का दूसरे पार्थिव परमाणु से भेद कैसे होगा जबकि किसी पार्थिव परमाणु के अवयव होते ही नहीं? यहां ध्यान देना चाहिये कि इस प्रश्न का उत्तर अवयव भेद से नहीं दिया जा

सकता है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु निरवयव है इसलिये उन अवयव रहित परमाणुओं का आपस में भेद रखने के लिये 'विशेष' पदार्थ को लिया गया है। समान जातीय [एक से] परमाणुओं में [जहां अवयवों से भेद नहीं हो सकता वहां] भेद के करने वाला तत्त्व 'विशेष' ही है। अर्थात् प्रत्येक परमाणु में एक 'विशेष' समवाय सम्बन्ध से रहता है जो कि उस अणु को समान जातीय दूसरे अणु से अलग करता है। इस प्रकार प्रत्येक 'नित्य-द्रव्य' में पृथक् पृथक् 'विशेष' के रहने से 'विशेष' नित्य और अनन्त हैं।

फिर प्रश्न यह भी है कि 'विशेष' जबकि अनन्त हैं तो उन 'विशेषों' में एक विशेष को दूसरे विशेष से अलग करने वाला कौन है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'विशेष' का स्वरूप ही 'स्वतो-व्यावृत' है। अर्थात् एक 'विशेष' से दूसरा 'विशेष' स्वयमेव अलग है, इस प्रकार उस प्रत्येक 'अपने आप अलग' विशेष के लिये किसी दूसरे 'विशेष' आदि भेदक को लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'विशेष' को 'विशेष' से अलग करने के लिये यदि कोई और विशेष लिया जाय तो यह भी स्पष्ट है कि उस भेदक विशेष को अलग करने के लिये एक और नया 'विशेष' मानना पड़ेगा, इस प्रकार से अनवस्था का दोष आ जायेगा। जिस के कारण एक 'विशेष' के दूसरे 'विशेष' से स्वयमेव अलग होने का सिद्धान्त न ठहर सकेगा। इसीलिये नित्य द्रव्यों में रहने वाले केवल उस अन्तिम भेदक पदार्थ का नाम 'विशेष' है कि जिसका कोई पदार्थान्तर या विशेष भेदक नहीं हो सकता। यहां यदि ये कहा जाय कि जैसे एक 'विशेष' का दूसरे 'विशेष' से भेद अपने आप हो जाता है वैसे ही एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भी भेद अपने आप क्यों न स्वीकार कर लिया जाए ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'विशेष' भेदक है इसीलिये उसका स्वभाव ही एक दूसरे से अलग करने का है, इस कारण एक 'विशेष' दूसरे 'विशेष' से अपने आप अलग हो जाता है। परन्तु परमाणु भेदक नहीं, इसीलिये परमाणु का स्वभाव भी अलग करना नहीं, इस से यह आया कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से अपने आप अलग नहीं हो सकता, प्रत्युत 'विशेष' से अलग होता है। इतना यहां और भी जान लेना चाहिये

कि 'विशेष' सामान्य से सर्वथा विपरीत ही होता है। क्योंकि सामा
अनेकों में रहता है, और उन में समान होने के ज्ञान का कारण है, पर
'विशेष' केवल 'एक' ही में रहता है, और अनेक पदार्थों में समान हो
के ज्ञान का कारण भी नहीं होता है। इस से यह आया कि–'विशेष' कदा
सामान्य नहीं है, अपितु सर्वशः 'विशेष' ही है। इस के बाद 'समवा
को बताया जाता है —

मूल = स्वसम्बन्धिभिन्नो, नित्यः सम्बन्धः समवायः, तेन स्वरूपसम्बन्धस्य संयोगस्य च निरासः। 'इह घटे घटत्वम्' इति प्रतीतिस्तत्र प्रमाणम्। नैयायिकमते समवाय प्रत्यक्षः, स च एको नित्यश्च।

अनुवाद = [स्थूल या बाह्यदृष्टि से] अपने [समवाय] जैसे मालूम देने वा [विशेषणता आदि] सम्बन्धों से हट कर,–'नित्य सम्बन्ध' का दूसरा ना 'समवाय' है। इस प्रकार लक्षण के हो जाने से [तेन] 'स्वरूप सम्बन्ध' और संयोग-सम्बन्ध' का भी [समवाय सम्बन्ध से] अलग होना स्पष्ट हो गया। लोक व्यवहार में घट के साथ 'घटत्व' के नित्य सम्बन्ध का प्रतीत हो रहना ही 'समवाय' के प्रसिद्ध होने में प्रमाण है। नैयायिकों के सिद्धा अनुसार 'समवाय' प्रत्यक्ष है, और वह एक है, तथा नित्य है।

व्याख्या = दो द्रव्यों के बीच में होने वाला ऐसा सम्बन्ध जो कभी र और कभी न रहे 'संयोग' कहलाता है। जैसे कि – पक्षी और वृक्ष का संयो इस उदाहरण से यह आया कि, संयोग एक अनित्य सम्बन्ध है। पर 'समवा [संयोग की तरह] अनित्य सम्बन्ध नहीं, अपितु 'नित्य-सम्बन्ध' ही है जो ऐसी दो वस्तुओं में पाया जाता है जिन में से एक वस्तु दूसरी से अल न देखी जाती हो, जैसे कि—

"घटादीनां कपालादौ–द्रव्येषु गुणकर्मणोः,
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः।" [न्याय मु० का० ११

घट आदि कार्यों [अवयवियों] का कपाल आदि कारणों [अवयवों] में रहने का, एवं गुण और कर्म का जो द्रव्य में रहने का, तथा जाति का उन सब में रहने का सम्बन्ध [नित्य होने के कारण] 'समवाय' कहलाता है।"

'समवाय' सम्बन्ध का वर्णन तर्क भाषा में केशवमिश्र ने वैशेषिक सूत्र तथा प्रशस्तपाद भाष्य के आधार पर निम्न रूप में किया है—

"तत्र अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। अन्ययोस्तु संयोग एव।, कौ पुनरयुतसिद्धौ ? 'ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।"

"अयुतसिद्ध वस्तुओं का [परस्पर] सम्बन्ध 'समवाय' होता है। औरों का तो 'संयोग' सम्बन्ध ही होता है [समवाय नहीं]।'

[प्रश्न] किन दो को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं ?

[उत्तर] जिन दो में से एक 'अपने नाश का समय आने तक [अविनश्यत्] दूसरे के ही आश्रित रहता हो वे दोनों [परस्पर] 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं।"

"इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिन दो वस्तुओं में से कोई एक वस्तु 'विनष्ट होते हुए' होने तक [की दशा में अर्थात् अपने नाश का समय आने तक] दूसरी वस्तु के आश्रित [आधीन] ही रहे अर्थात् जिन दो वस्तुओं में से किसी एक को दूसरी से अलग न किया जा सके वे दोनों आपस में अयुतसिद्ध कहलाती हैं और उनका आपस में सम्बन्ध 'समवाय' होता है।" यहां इतना और जान लेना चाहिये कि अयुतसिद्ध के इस लक्षण में रखे गए 'अविनश्यत्' पद का आशय यह है कि न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में–'कारण के नाश' से 'कार्य का नाश' माना जाता है। गुण का समवायिकारण द्रव्य ही होता है। इसीलिये द्रव्य के नाश से गुण का नाश होगा। क्योंकि 'द्रव्य का नाश' कारण है और 'गुण का नाश' कार्य है। कारण और कार्य में पौर्वापर्य [पहले और बाद] का होना आवश्यक है। इस प्रकार पहले तो द्रव्य का नाश होगा उसके बाद उसमें रहने वाले रूप आदि गुण या क्रिया का नाश होगा। इस से यह आया कि 'द्रव्य के नाश' और [उसमें रहने वाले रूप आदि] 'गुण के नाश' में कम से कम एक क्षण का अन्तर अवश्य आ जायेगा।

इसीलिये यह कहा जायेगा कि 'द्रव्य का नाश'–'गुण के नाश' से एक क्षण पूर्व में होता है। अर्थात् न्याय वैशेषिक की प्रक्रिया के अनुसार इसका यह अर्थ लेना आवश्यक हो जाता है कि अपने विनाश के समय गुण एक क्षण तक के लिये द्रव्य के बिना [अकेला] भी रह सकता है। इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जब तक गुण रहता है तब तक अर्थात् 'अपने नष्ट होने तक' वह द्रव्य के आश्रित [आधीन] ही रहता है' अपितु ['अविनश्यत्' पद का अर्थ 'नाश होते हुए होने तक' लेकर] यही कहा जायेगा कि–गुण अपने नाश का समय आने तक, अकेला नहीं रहता–द्रव्य के आश्रित ही रहता है। जिन पांच स्थलों पर समवाय सम्बन्ध पाया जाता है उनको न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में इस प्रकार गिनाया गया है।

"अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रिया क्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः। समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्।"

"अवयव और अवयवी [जैसे 'तन्तु' अवयव और 'पट' अवयवी] का, जाति और व्यक्ति का, गुण [रूप आदि] और गुणी [द्रव्य] का, क्रिया [कर्म] और क्रियावान् [कर्म युक्त द्रव्य] का, एवं नित्य द्रव्य [परमाणु आदि] और विशेष का, [परस्पर] जो सम्बन्ध है उसी को 'समवाय' कहते हैं [इसी प्रकार] नित्य सम्बन्ध होना ही 'समवायत्व' [अर्थात् समवाय का स्वरूप] है।" जैसेकि–

(१) 'गुण और गुणी' अर्थात् 'गन्ध और पृथिवी' उन दोनों में से 'एक' अर्थात् 'गन्ध' गुण के जब तक नाश का समय नहीं आ लेता तब तक वह पृथिवी नामक द्रव्य अर्थात् गुणी के ही आश्रित [आधीन हुआ] रहता है। उन दोनों को [व्यवहार काल में] एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, इसीलिये 'गुण और गुणी' [वे दोनों] परस्पर 'अयुतसिद्ध' कहलाते हैं। और उनका आपस में सम्बन्ध 'समवाय' ही होता है। इसी प्रकार—

(२) 'अवयव और अवयवी' अर्थात् 'तन्तु और पट' उन दोनों में से एक अर्थात् पट को तन्तुओं से अलग नहीं देखा जा सकता। इसीलिये अवयव [तन्तु] और अवयवी [पट] परस्पर अयुतसिद्ध हैं। और उन दोनों का भी 'समवाय' सम्बन्ध ही होता है।

(३) 'जाति और व्यक्ति' जैसे कि 'घटत्व' जाति को 'घट' व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव जाति और व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं और उनका आपस में समवाय सम्बन्ध होता है।

(४) 'क्रिया और क्रियावान्' जैसे–क्रिया वाले मनुष्य आदि में जो चलना आदि क्रिया रहती है। जीते जागते मनुष्य आदि प्राणी को उस चलने आदि क्रिया से शून्य नहीं देखा जासकता। अतएव 'क्रिया और क्रियावान्' अयुतसिद्ध हैं और उनका समवाय सम्बन्ध है। इसी प्रकार—

(५) 'नित्यद्रव्य और विशेष' अर्थात् परमाणु आदि नित्य द्रव्य और उनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म जिस का नाम विशेष है वे दोनों भी अयुतसिद्ध हैं क्योंकि 'विशेष' को कदापि नित्य द्रव्य अर्थात् परमाणु आदि से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिये 'नित्य द्रव्य और विशेष' का भी आपस में 'समवाय' सम्बन्ध माना गया है।"

यहां तक दिये गए पांच उदाहरणों से यह आया कि–दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध कि जिन में से एक वस्तु दूसरी के आश्रित रहती हो अर्थात् अलग न पाई जाती हो उन दोनों का आपस में सम्बन्ध नित्य होगा, इसी नित्य सम्बन्ध को ही 'समवाय' शब्द से कहते हैं। नैयायिक घट के प्रत्यक्ष के साथ साथ घटत्व का भी प्रत्यक्ष मानते हैं इसीलिये उनके सिद्धान्त अनुसार 'समवाय' प्रत्यक्ष है। और 'समवाय' की सिद्धि में निम्न अनुमान भी है—

सि० मु० = "तत्र प्रमाणं तु, गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्य-सम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवद्, इत्यनुमानम्। अनेन संयोगादिबाधात् समवायसिद्धिः।"

अर्थ = "उस 'समवाय' का उपपादन करने के लिये [तत्र] अनुमान प्रमाण भी है [जैसे कि] गुण कर्म आदि [विशेषणों] से विशिष्ट [युक्त होने का] ज्ञान 'विशेषण [गुण तथा कर्म] और 'विशेष्य' [द्रव्य] के परस्पर सम्बन्ध को भी विषय [ग्रहण] करता है, क्योंकि वह ज्ञान एक विशिष्ट [विशेषण और विशेष्य से मिला हुआ] ज्ञान है—'दण्ड वाला पुरुष' ऐसे विशिष्ट [परस्पर संयुक्त] ज्ञान की तरह। इसी अनुमान के द्वारा अन्य सम्बन्धों अर्थात् संयोग

आदि का बाध हो जाने के कारण 'समवाय' सम्बन्ध की सिद्धि हो जाती है।"

भाव=इस प्रकार इसी अनुमान का आशय यह है कि जो भी विशिष्ट ज्ञान होगा, उसमें 'विशेषण' और 'विशेष्य' तथा उनके 'सम्बन्ध' का ग्रहण अवश्य होगा, क्योंकि जब तक विशेषण और विशेष्य के साथ साथ उनके सम्बन्ध का ग्रहण न होले तब तक किसी भी ज्ञान को विशिष्ट [ज्ञान] कहा ही नहीं जा सकता। जैसे कि 'दण्ड वाला पुरुष' यह एक विशिष्ट ज्ञान है, और इस ज्ञान में विशेषण 'दण्ड' और विशेष्य 'पुरुष' के परस्पर 'सम्बन्ध' अर्थात् 'संयोग' का ग्रहण होने पर ही 'दण्ड वाला पुरुष' ऐसा विषिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है [बिना संयोग सम्बन्ध को ग्रहण किये उत्पन्न नहीं होता]। इसलिये स्पष्ट है कि "पुरुष के दण्ड वाला होने" के ज्ञान में 'दण्ड' और 'पुरुष' के ज्ञान [होने] के साथ साथ उन दोनों के 'सम्बन्ध' अर्थात् 'संयोग' की भी प्रतीति होती है। इस से यह आया कि—गुण से विशिष्ट [युक्त] द्रव्य का ज्ञान होने के लिये भी उन दोनों में रहने वाले किसी न किसी सम्बन्ध का प्रतीत होना आवश्यक है। द्रव्य और गुण के आपस में सम्बन्ध को 'संयोग' तो कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि 'संयोग' एक अनित्य सम्बन्ध है जो कि दो द्रव्यों का ही हो सकता है [गुण और द्रव्य का नहीं]। इसीलिये गुण-विशिष्ट द्रव्य के ज्ञान में 'संयोग आदि' का बाध [निराकरण] कहा गया है। '**आदि**' शब्द से 'स्वरूप' सम्बन्ध तथा 'तादात्म्य' सम्बन्ध लिया जाता है। इस के अनुसार तादात्म्य और स्वरूप ये दोनों सम्बन्ध भी द्रव्य और गुण में रहने वाले सम्बन्ध नहीं हो सकते। क्योंकि द्रव्य और गुण का 'एक्य' [तादात्म्य] नहीं, अतएव यहां 'तादात्म्य' सम्बन्ध नहीं बन सकता। रहा 'स्वरूप-सम्बन्ध' उसको इस प्रकार समझना चाहिये कि—जिन वस्तुओं में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं उन्हीं का मीमांसक 'स्वरूप सम्बन्ध' स्वीकार करते हैं। इसीलिये मीमांसक 'समवाय' सम्बन्ध को न मान कर प्रत्युत यह कहते हैं कि गुणक्रिया आदि विशिष्ट बुद्धि के अनुमान द्वारा नैयायिक हमारे पहले से माने हुए स्वरूप सम्बन्ध को समवाय नाम से सिद्ध कर रहा है, जिस से यह आया कि—नैयायिक के अनुमान में 'सिद्ध साधन'

[पहले से सिद्ध वस्तु को फिर सिद्ध करना] इस प्रकार का दोष आता है। परन्तु नैयायिक अयुतसिद्ध पदार्थों में मीमांसक के स्वरूप सम्बन्ध का निराकरण करने के लिये यह कहता है कि—यदि स्वरूप सम्बन्ध ही को समवाय के बदले में द्रव्य और गुण का सम्बन्ध मान लें तो जिन वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध पाया जाता है उन सब वस्तुओं के स्वरूप को ही सम्बन्ध रूप में लेना पड़ेगा, और वस्तुओं के अनन्त होने से, सम्बन्ध भी अनन्त कहने होंगे, जिस से कल्पना का गौरव [आधिक्य] होगा। इसीलिये अनन्त सम्बन्ध मानने के मुकाबले में समवाय सम्बन्ध को मान लेने से 'लाघव' है क्योंकि समवाय सब जगह 'एक' है। इसी प्रकार गुण विशिष्ट द्रव्य के ज्ञान में संयोग और स्वरूप सम्बन्ध आदि का 'बाध' [निराकरण] हो जाने पर भी तो, द्रव्य गुण में [कोई] सम्बन्ध है ही, [अर्थात् गुण को कभी द्रव्य से अलग न देखा जाने के कारण यह आया कि उन दोनों का आपस में नित्य सम्बन्ध होता है] उसी नित्य सम्बन्ध का ही दूसरा नाम 'समवाय' है। और वह समवाय सम्बन्ध पूर्वोक्त पांच स्थलों पर रहता है।

मूल=ननु अन्यान्यपि अन्धकारसुवर्णादीनि द्रव्याणि सन्ति, आलस्यादयो गुणा अपि सन्ति, कथं, नवैवेत्यादि ? मैवम्, अन्धकारो न द्रव्यं, किन्तु तेजोऽभावः। सुवर्णं, तेज एव। आलस्यं, कृत्यभाव एव। एवमन्यदपि बोध्यम्।

अनुवाद=प्रश्न होता है [ननु] कि अन्य भी [अर्थात् पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से अतिरिक्त भी] अन्धकार तथा सुवर्ण आदि 'द्रव्य' [जब कि] विद्यमान हैं, [और इसी प्रकार] आलस्य आदि गुण के भी [बचे] रहने पर, यह कैसे कहा जा सकता है कि द्रव्य 'नौ' होते हैं और गुण 'चौबीस ही हैं ? [उत्तर देते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं क्योंकि] मेरे सिद्धान्त के अनुसार, अन्धकार [कोई अलग] द्रव्य नहीं प्रत्युत तेज का अभाव [ही अन्धकार] है। सुवर्ण तो तेज है ही। आलस्य [चेष्टा आदि के] न करने को कहा जाता है। इसी तरह से अन्य [ऐसी कल्पनाओं का निराकरण] भी जान लेना चाहिये।

व्याख्या=न्याय-वैशेषिक में लिये गए पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के अतिरिक्त 'अन्धकार' को भी कई मीमांसक एक अलग [अर्थात् दसवां] द्रव्य मानते हैं। इसीलिये अन्धकार के बारे में उन की ओर से न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली में उठाई गई शंका को, और नैयायिक की ओर से किया गया उस शंका का निराकरण यहां दिखाते हैं—

सि० मु० = "ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम् ? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते, तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम् । तद्धि गन्धशून्यत्वात् न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम् । तत्प्रत्यक्षे चाऽऽलोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेद् ?

न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात् रूपवत्ता प्रतीतिस्तु भ्रमरूपा । [एवं] कर्मवत्ता प्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव । तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पना गौरवं च स्यात् ।

अर्थ="शंका होती है कि [ननु], दसवें द्रव्य अन्धकार को क्यों नहीं गिनाया गया, जबकि उस [अन्धकार] का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण भी होता है, और रूप वाला होने से, तथा [गमनागमन] क्रिया वाला होने से—उसका द्रव्य होना भी स्पष्ट हो जाता है। और वह गन्ध से रहित होने के कारण पृथिवी भी नहीं हो सकता तथा न ही वह जल आदिक हो सकता है क्योंकि वह [अन्धकार] नील रूप वाला होता है [और जल का रूप तो अभास्वर शुक्ल है] और प्रकाश की अपेक्षा [सहायता] के बिना नेत्रों से वह देखा भी जाता है [इसीलिये दशम द्रव्य तम भी हुआ] ?

भाव=[इसी का उत्तर देते हैं कि] यह शंका ठीक नहीं [न], क्योंकि [व्यावहारिक तेज को मान लेने पर, उसका अभाव मानना भी आवश्यक हो जाता है अतः उसी] आवश्यक तेजोऽभाव से ही जब काम निकल आता है तो [अन्धकार को एक] नया द्रव्य मानना अन्याय होगा। [अन्धकार के नील] रूप वाला होने की प्रतीति तो केवल भ्रान्ति है। [रही गमन आदि] क्रिया

वाला होने की प्रतीति, वह भी प्रकाश के अपसरण [हट जाने] की उपाधि [अपेक्षा] से होने के कारण भ्रान्तिमात्र है। और अन्धकार को यदि एक अलग द्रव्य मान लिया जाए तो उसके [समवायिकारण] अनन्त अवयव आदि भी मानने पड़ जायेंगे, जिस से कल्पना का 'गौरव' होगा [इसीलिये अन्धकार को अतिरिक्त द्रव्य मानना उचित नहीं है]।"

उपर्युक्त शंका द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसक 'अन्धकार' को पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के अन्तर्गत नहीं लेते प्रत्युत उन से अलग [एक नया] द्रव्य मानते हैं उसके लिये वे यह युक्ति देते हैं कि—'जिस में गुण और क्रिया हो वह द्रव्य होता है' इस प्रकार 'नीलं तमश्चलति' अर्थात् 'यह नीलरूप वाला अन्धकार चलता है' इस प्रतीति से यह आया कि–अन्धकार में नीलरूप [गुण] का होना तथा उसमें चलना [कर्म भी] प्रसिद्ध है, इसीलिये गुण तथा क्रिया वाला होने के कारण वह 'द्रव्य' ही है, और पृथिवी आदि से अलग भी है। क्योंकि [तमो न पृथिवी गन्धशून्यत्वात्] अन्धकार में गन्ध नहीं पाया जाता इसीलिये वह पृथिवी नहीं हो सकता, और इसी प्रकार [तमः न जलादिकं नीलरूपवत्वात्] वह 'अन्धकार' नील रूप वाला होने के कारण [बाकी के] जल आदि आठ द्रव्यों में से भी कोई नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जल–तेज वायु–आकाश–काल–दिशा–आत्मा और मन [इन आठों द्रव्यों] में से किसी भी एक द्रव्य में नीलरूप नहीं होता, जैसे कि–जल का रूप तो अभास्वर शुक्ल होता है और तेज का रूप भास्वर शुक्ल है, नील नहीं। वायु आदि शेष छः द्रव्यों में कोई भी रूप नहीं होता। इसीलिये 'अन्धकार' पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से किसी के अन्दर नहीं लिया जा सकता है। और वह अन्धकार दूसरे द्रव्यों से भिन्न इसीलिये भी है कि दूसरे रूप वाले द्रव्यों [घट आदि] का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रकाश के विद्यमान होने पर ही होता है, किन्तु अन्धकार का प्रत्यक्ष करने के लिये प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि प्रकाश की सहायता के बिना उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। अतएव इन सब बातों पर दृष्टि रखते हुए 'अन्धकार' को पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से अलग द्रव्य मानना चाहिये?

इसी शंका का उत्तर मूल [तथा भाष्य] में यह दिया गया है कि 'अन्धकार' कोई भी द्रव्य नहीं होता अपितु केवल तेज के अभाव [प्रकाश के न होने] को ही अन्धकार कहा जाता है। क्योंकि पृथिवी आदि चार द्रव्य परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य होते हैं। इस प्रकार उन में से 'तेज' के कार्य रूप में अर्थात् अनित्य भी होने के कारण उसी व्यावहारिक तेज [प्रकाश] का अभाव मानना भी आवश्यक हो जाता है। उसी अवश्य माननीय 'तेजो अभाव' को 'अन्धकार' मान लेने से जबकि काम चल जाता हो, तो [माने हुए] नौ द्रव्यों के अतिरिक्त अन्धकार की एक नये अर्थात् दशम द्रव्य के रूप में कल्पना व्यर्थ रहेगी। यहां यदि यह कहा जाय कि अन्धकार के अभाव रूप होने पर, उस में [नील रूप] गुण और [आनें जाने की] क्रिया प्रतीत क्यों होते हैं ? तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ये दोनों प्रकार की प्रतीतियां वास्तविक नहीं, अपितु केवल 'भ्रम' [धोखा] है। जैसे कि-स्वच्छ आकाश की प्रायः [नीलं नभः] 'आकाश नीला है' यह जो प्रतीति होती है वह कोरा धोखा [निरा भ्रम] ही होता है। क्योंकि आकाश के निराकार होने के कारण वस्तुतः उसका कोई रूप नहीं होता, फिर भी यदि यह समझ लिया जाए कि 'आकाश नीला है' तो यह भ्रम हो जाने के अतिरिक्त कुछ तत्त्व नहीं है। ठीक वैसे ही [नीलं तमः] 'अन्धकार नीला है' यह प्रतीति भी [आकाश के नीला होने की अयथार्थ प्रतीति की तरह] कोरा भ्रम ही है।

रही अन्धकार के चलने की प्रतीति वह भी वैसा एक 'भ्रम' [धोखा] है जैसा कि चले तो रेल परन्तु [उस में बैठे हुए व्यक्ति को] मालूम यह पड़े कि [रेल के अभाव वाले स्थल अर्थात् सामने खड़े] वृक्ष आदि भी चल रहे हैं। ठीक इसी प्रकार चलता तो प्रकाश [तेज] है परन्तु फिर भी [भ्रान्ति से] दिखाई ऐसा देता है कि अन्धकार चल रहा है। अर्थात् प्रकाश जब एक ओर से दूसरी ओर सरकता है, तो उसके सरकने के कारण अन्धकार भी सरकता सा लगता है। अथवा यूं समझना चाहिये कि प्रकाश या [उसके] आवरक द्रव्य के चलने पर प्रकाश का जो भाग ढ़क जाता है, जहां जहां प्रकाश नहीं पहुंच पाता, वही तेज के अभाव वाला स्थल चलता हुआ मालूम पड़ता है।

एक बात और यह भी है कि—अन्धकार को एक अतिरिक्त द्रव्य मान लेने की दशा में उस के अनेक अवयव और उन में अन्धकार का प्रागभाव तथा ध्वंस आदि कल्पना का 'गौरव' [आधिक्य] भी होगा। इसीलिये बहुत सी नई कल्पनाएं बढ़ाने की अपेक्षा 'लघुता' [छुटाई] इसी में होगी कि प्रकाश [व्यावहारिक तेज] के अभाव को ही अन्धकार मान लिया जाय। अर्थात् अन्धकार का काम तेजोऽभाव से निकल आवेगा इसी प्रकार अन्धकार के अलग द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता बाकी नहीं बच रहेगी।'

मीमांसक सुवर्ण को भी पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से एक अलग ही द्रव्य मानते हैं [आधुनिक वैज्ञानिक भी सुवर्ण को एक अतिरिक्त तत्त्व कहते हैं] परन्तु न्याय वैशेषिक में सुवर्ण को तेज ही के अन्दर लिया गया है। इसके अनुसार—'सुवर्ण' अग्नि [तेज] का विशेष एक भेद है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में सुवर्ण के तैजस द्रव्य होने का अनुमान इस प्रकार किया गया है—

सि० मु० = "सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानल-संयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवम्, तन्नैवम्-यथा पृथिवी।"

अर्थ = "सुवर्ण तैजस है, क्योंकि वह प्रतिबन्धक के अभाव में अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी नष्ट न होने वाले जन्य द्रवत्व वाला होता है। जो ऐसा नहीं है, वह तैजस भी नहीं है—जैसे पृथिवी।"

भाव = इस अनुमान से यह आया कि-जो भी वस्तु यदि वह तैजस न होगी तो उसी वस्तु का द्रवत्व [अर्थात् उसी द्रवत्व के नाश को रोकने वाले किसी प्रतिबन्धक के न रहने पर] अत्यन्त अग्नि के संयोग होने से नष्ट हो जायेगा। जैसे कि---घी, लाख आदि जोकि पार्थिव पदार्थ हैं [तैजस नहीं] उनके द्रवत्व अर्थात् तरल होने को [या उनको] नष्ट होने से रोकने वाला कोई प्रतिबन्धक [जल आदि] जबकि उनके नीचे लगातार आग भड़काई जा रही हो यदि वहां विद्यमान होकर उनको नष्ट होने से रोकेगा नहीं तो स्पष्ट है कि उन घृत लाख आदि की तरलता भी जाती रहेगी [साथ ही वे भी सूक्ष्म होकर उड़ जायेंगे]। इसी प्रकार यह आया कि—जल को तेज आग पर रखे रहने से वह वाष्प आदि के रूप में उड़ जाता है। परन्तु सुवर्ण के बारे में यह नियम लागू

नहीं होता क्योंकि शुद्ध सुवर्ण को लगातार आग देने पर वह नष्ट नहीं होता अथवा शुद्ध सुवर्ण की तरलता अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी नष्ट नहीं हो पाती। जिससे यह अनुमान होता है कि सुवर्ण पृथिवी तथा जल रूप नहीं अपितु तेजो रूप या तैजस वस्तु है। यह जो आयुर्वेद में सुवर्ण को आग देकर भस्म बना लिया जाता है वह औषधादि प्रतिबन्धक के योग से होता है। इसी प्रकार शुद्ध सुवर्ण की तरलता का औषध आदि प्रतिबन्धक के प्रयोग के विना बहुत अधिक ताप देने पर भी नाश न होने से सुवर्ण तैजस द्रव्य ही है।

मूल = अभावो द्विविधः,—संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च। आद्यस्त्रिविधः–प्रागभावः, ध्वंसः, अत्यन्ताभावश्च। प्रागभावो विनाशी अजन्यः। ध्वंसो जन्यः अविनाशी च। अत्यन्ताभावान्योन्याभावौ त्वजन्यौ अविनाशिनौ च। योग्यानुपलब्ध्या अभावः प्रत्यक्षः, अन्यत्र तु अतीन्द्रियः।

अनुवाद = अभाव दो प्रकार का होता है—एक तो 'संसर्गाभाव' और दूसरा 'अन्योन्याभाव'। इन में से पहला अर्थात् 'संसर्गाभाव' तीन प्रकार का ह ता है—प्रागभाव, ध्वंस और अत्यन्ताभाव। 'विनष्ट हो जाने वाले' और 'जन्म से रहित' अभाव को तो 'प्रागभाव' कहते हैं। 'उत्पन्न होने वाले' और 'सदा रहने वाले' अभाव को 'ध्वंस' शब्द से कहते हैं। 'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' [वे दोनों] न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न ही उन का कभी विनाश होता है। दर्शनीय के अदर्शन से अभाव प्रत्यक्ष होता है और उस से भिन्न अभाव सर्वशः अप्रत्यक्ष होता है।

व्याख्या = 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में 'अभाव' पदार्थ के विभाग का वर्णन निम्न प्रकार आया है—

"अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः,
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ [कारिका १२]
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते।"

"संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से 'अभाव' दो प्रकार का है। 'संसर्गाभाव' तीन प्रकार का होता है 'प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।"

सि० मु०="अभावस्त्विति। अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्। संसर्गेति। संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः। अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात् संसर्गाभावं विभजते-प्रागभाव इति। संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम्। अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्। विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्। जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्। नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम्।

यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः। तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्।"

अर्थ="'अभावस्तु' इत्यादि की व्याख्या करते हैं। द्रव्य आदि छः पदार्थों का जिसमें 'अन्योन्याभाव' [जैसे—'द्रव्यं गुणो न' इस प्रकार भेद] रहे अर्थात् [अन्योन्याभाव=भेद को कहते हैं, इसीलिये पूर्वोक्त] द्रव्य आदि छः [भाव] पदार्थों से जो भिन्न हो, उसे 'अभाव कहते हैं। 'संसर्ग' का अर्थ है 'सम्बन्ध' [जिसका 'अभाव' पद के साथ जुड़ा होना यह बताता है कि] एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का किसी सम्बन्ध से रहने का अभाव='संसर्गाभाव' कहलाता है। रहा 'अन्योन्याभाव' वह एक तरह का होता है इसीलिये उसका विभाग न होने के कारण—'प्रागभाव' इत्यादि अंश से 'संसर्गाभाव' का विभाग दिखाया जाता है। अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव का नाम संसर्गाभाव है। और अन्योन्याभाव उसे कहते हैं कि जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो। विनाश शाली अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है। जो अभाव उत्पन्न हो उसे 'ध्वंस' और सदैव संसर्गाभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं।

परन्तु जहां कहीं भूतल आदि में [से] घट आदि को हटा लिया और फिर वापिस [उसी जगह] ले आए, तो घट काल का भूतल [घट अभाव के] 'सम्बन्ध को विषय न करने वाला या सम्बन्ध को न जोड़ने वाला होने के कारण'

[सम्बन्ध अवटकतया] अत्यन्ताभाव के [सर्वत्र] नित्य होने पर भी, घट के विद्यमान काल में वहां घट के अत्यन्ताभाव का ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसे स्थलों में उत्पन्न और विनष्ट होने वाला यह चोथे प्रकार का अभाव है, कई एक लोग ऐसा कहते हैं।''

भाव=''जब हम दो पदार्थों को देखकर कि वे दो 'एक' नहीं जैसे 'घटः पटो न' तो यह प्रतीति उन दोनों के आपस में भिन्न भिन्न होने [भेद] को विषय करती है। भेद को ही अन्योन्याभाव कहते हैं। इस तरह अन्योन्याभाव[स्थल] में दो पदार्थों के परस्पर तादात्म्य अर्थात् उनके ऐक्य या अभेद का निषेध होता है। इसीलिये भाष्य में कहा गया है कि द्रव्य आदि छः पदार्थों का जिस में अन्योन्याभाव [भेद] रहे अर्थात् 'द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष तथा समवाय' इन छः भाव पदार्थों से जो अलग हो वही [सप्तम] पदार्थ 'अभाव' कहलाता है। अथवा 'तादात्म्य' का अर्थ है 'तत्स्वरूप'। इस दृष्टि से कोई भाव पदार्थ ही तत्स्वरूप अर्थात् भाव स्वरूप हो सकता है, न कि अभाव पदार्थ। इसी प्रकार स्पष्ट है कि भाव पदार्थों का जिस में 'अन्योन्याभाव'=भेद' रहता है [जो भाव पदार्थों से सर्वशः भिन्न होता है] वही पदार्थ अभाव है। अर्थात् द्रव्य आदि छः क्योंकि भाव पदार्थ हैं इसीलिये अभाव उन से बिलकुल एक अलग पदार्थ अर्थात् अभावस्वरूप है। 'अभाव' निषेध मुख प्रमाण से गम्य होता है। और वह संक्षेप में दो प्रकार का है—एक तो 'संसर्गाभाव' और दूसरा 'अन्योन्याभाव'। [उन में से] अन्योन्याभाव केवल एक तरह का होता है इसीलिये उस का कोई विभाग भी नहीं हो पाता, किन्तु संसर्गाभाव तीन तरह का होता है (१) प्रागभाव (२) ध्वंसाभाव, और (३) अत्यन्ताभाव। अब अन्योन्याभाव का और संसर्गाभाव के तीनों विभागों का अलग अलग लक्षण करते हैं—

(१) मूल में 'प्रागभाव' को 'विनाश होने वाला' और 'जन्म से रहित' अभाव कहा गया है। उत्पन्न होने से पहले किसी वस्तु के [जैसे-उत्पन्न होने से पहले कारण में कार्य के] अभाव को 'प्रागभाव' कहते हैं। इसी प्रकार उत्पत्ति से पहले तन्तुओं में पट का जो अभाव होता है

वह 'पट–प्रागभाव' कहलाता है। पट का 'प्रागभाव' कब से प्रारम्भ हुआ इसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं पड़ सकता। इसीलिये केवल यही कहा जायेगा कि [तन्तुओं में] उत्पन्न होने से पूर्व पट का जो अभाव होता है वह अभाव [पट प्रागभाव] अनादि काल से चला आता है। परन्तु [अनादि होते हुए भी] पट के उत्पन्न हो जाने पर उस पट का 'प्रागभाव' नष्ट हो जाता है। इसलिये प्रागभाव विनाशी अभाव है। अर्थात् 'प्रागभाव' [का जन्म न होने से तो वह] 'अनादि' और [विनाश हो जाने से वह] 'सान्त' अभाव है।

(२) 'उत्पन्न होने वाले' और 'सदा रहने वाले' अभाव का नाम 'ध्वंस' है। वने बनाए घट को यदि तोड़ डालें तो उस घट का अपने कारण [कपाल माला] में अभाव हो जाना 'ध्वंस' कहलाता है। ध्वंस को ही विनाश कहते हैं। घट के टूटते ही उस घट का ध्वंस [विनाश] उत्पन्न होता है। परन्तु एक बार उत्पन्न [प्रारम्भ] होने के बाद [वह ध्वंस] सदा के लिये बना रहता है। इसीलिये ध्वंस को 'सादि और अनन्त' अभाव कहते हैं। अर्थात् घट आदि के 'ध्वंसाभाव' की उत्पत्ति होने से तो वह 'सादि' और फिर सदा बना रहने से 'अनन्त' [इस प्रकार दोनों तरह का] कहा जा सकता है।

रहा अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव उन का लक्षण समझने के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दों का समझना भी आवश्यक है। जैसे कि—

जिस का अभाव होता है उस को अभाव का 'प्रतियोगी' कहते हैं **['यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगि']** प्रतियोगी का यहां अर्थ विरोधी है। इस प्रकार घटाभाव का विरोधी घट होता है। अर्थात् घटाभाव चूंकि घट की विद्यमानता का निषेध है इसीलिये वह घट के अस्तित्व का विरोधी है। 'घटाभाव' को 'घट प्रतियोगिक–अभाव' [घट है प्रतियोगी जिसका–ऐसा अभाव] कहा जा सकता है।

जहां अभाव पाया जाता है अर्थात् जो अभाव का आधार या अधिकरण होता है, उस को अभाव का **'अनुयोगी'** कहते हैं। जैसे कि 'भूतल में घटाभाव' इस प्रतीति में भूतल घटाभाव का अनुयोगी है। प्रतियोगी और अनुयोगी का आपस में जो सम्बन्ध होता है वह उस अभाव की 'प्रतियोगिता' का नियामक

या अवच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'भूतल में घटाभाव' यहां भूतल तो [घटाभाव का] अनुयोगी है और घट प्रतियोगी है। भूतल और घट का आपस में 'संयोग' सम्बन्ध होता है, इसीलिये यहां घट का प्रतियोगी होना संयोग सम्बन्ध से विशिष्ट [अवच्छिन्न] है। इसी प्रकार यह आया कि—प्रतियोगी अर्थात् घट के भूतल में रहने का नियामक या अवच्छेदक सम्बन्ध संयोग होने से—भूतल में जो घटाभाव रहता है उस का नियामक सम्बन्ध संयोग होगा। न्याय के शब्दों में 'भूतल में घटाभाव' को 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्न—घट प्रतियोगिक, भूतलानुयोगिक' अभाव भी कह सकते हैं।

मूल में अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये उत्पत्ति और विनाश रहित अभाव कहे गए हैं। इन में अत्यन्ताभाव तो 'नित्य संसर्गाभाव' होता है। अर्थात् जो अभाव न तो कभी उत्पन्न हो और न ही जिसका कभी विनाश हो, इस प्रकार जो अनादि और अनन्त हो। जैसेकि—वायु में रूप वस्तुतः होता ही नहीं [इस से यह आया कि—वायु में रूप का सदा अभाव रहने से उसकी उत्पत्ति और विनाश का प्रश्न भी सामने नहीं आता] इसीलिये वायु में सर्वदा रूप के न होने [नित्य अभाव] को **'अत्यन्ताभाव'** कहते हैं।

'अन्योन्याभाव' जैसे 'घट पट नहीं' अर्थात् 'घट का पट न होना' नित्य है क्योंकि घट कभी पट नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याभाव भी नित्य अभाव हुआ। परन्तु अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में अन्तर यह है कि—अत्यन्ताभाव तो संसर्गविच्छिन्न प्रतियोगिताक [अर्थात् वृत्तिनियामक सम्बन्ध—संयोग वा समवाय आदि से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी—ऐसा] अभाव होता है। जैसे कि—'भूतल में घटाभाव' यहां पर अभाव का प्रतियोगी घट है, जिसका भूतल में संयोग से रहने का निषेध किया जा रहा है, इस प्रकार यहां घट की प्रतियोगिता 'संयोग' सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई। और 'वायु में रूप का अत्यन्ताभाव' यहां वायु में 'समवाय' सम्बन्ध से रूप के होने का निषेध है, इसलिये इस स्थल में प्रतियोगी जो कि 'रूप' गुण है उसका प्रतियोगी होना [प्रतियोगिता] समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है।

अन्योन्याभाव—तादात्म्यप्रतियोगिताक अभाव कहा जाता है

[अर्थात् 'तादात्म्य जो' एक वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं उस से है विरोधिता जिसकी–ऐसा अभाव कहते हैं]। जैसे कि 'घट पट नहीं होता' इस स्थल पर [ध्यान रहे कि] घट और पट के संयोग सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा रहा। क्योंकि घट और पट का आपस में संयोग होने पर भी यह कहा जा सकता है कि–घट, पट नहीं है। इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि–दो वस्तुओं के आपस में संयोग रूप संसर्ग का निषेध करना अन्योन्याभाव का कार्य नहीं, प्रत्युत अन्योन्याभाव स्थल में तो केवल दो वस्तुओं के 'तादात्म्य' अर्थात् अभेद या ऐक्य [एक होने], का ही निषेध होता है। इस से यह आया कि–घट में पट के तादात्म्य सम्बन्ध से न रहने को ही अन्योन्याभाव कहते हैं। अथवा यूं कहना चाहिये कि 'घटपटयोस्तादत्म्यं न' अर्थात् घट और पट की [आपस में कदापि] एकता नहीं। क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं रह सकती अर्थात् एक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु की 'तदात्मा' या तत्स्वरूप हो यह सम्भव ही नहीं। इसीलिये एक वस्तु में दूसरी वस्तु के तादात्म्य या तादात्म्य सम्बन्ध से न रहने [अर्थात् भेद] का नाम 'अन्योन्याभाव' है। इसी प्रकार अन्योन्याभाव के लक्षण 'घटः पटो न' में उन दोनों वस्तुओं [घट और पट] के त्रैकालिक तादात्म्य का निषेध पाया जाने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि–अन्योन्याभाव त्रैकालिक अभाव होता है। और अत्यन्ताभाव का तो वस्तुतः लक्षण ही 'त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः' है अर्थात् किसी वस्तु के त्रैकालिक अभाव का दूसरा नाम अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार 'अन्योन्याभाव' [प्रत्येक का एक दूसरे से सर्वशः अलग अलग होना–ऐसा जो भेद] और 'अत्यन्ताभाव' [किसी का पूर्णतया अभाव] ये दोनों उत्पत्ति और विनाश से रहित अर्थात् नित्य या त्रैकालिक अभाव होते हैं। और इन दोनों के आपस में भिन्न भिन्न होने [भेद] का कारण ऊपर बताया गया 'प्रतियोगितावच्छेदक–सम्बन्ध' होता है।

प्राचीन नैयायिक वायु में रूप के अभाव को तो नित्य अत्यन्ताभाव मानते ही हैं। परन्तु भूतल में घट के अभाव को नित्य अत्यन्ताभाव नहीं मानते प्रत्युत वे लोग 'भूतल में घटाभाव' को उत्पन्न तथा नष्ट होने वाला

चौथे प्रकार का [अर्थात् एक अलग] अभाव कहते हैं। क्योंकि प्राचीनों के सिद्धान्त अनुसार भूतल में से घट के हट जाने पर यह अभाव उत्पन्न हो जाता है, और यदि घट को फिर उसी जगह ले आएं तो यह अभाव नष्ट हो जाता है। और इसके विपरीत नवीन लोग भूतल में घट के इस अभाव को भी नित्य अत्यन्ताभाव ही कहते हैं। इससे यह आया कि—नवीनों के सिद्धान्त अनुसार 'भूतल में घटाभाव' नित्य, एक और सर्वत्रव्यापक है। इसी प्रकार नवीन लोगों के मत में अत्यन्ताभाव के सर्वव्यापक होने के कारण यह जो घट के विद्यमान काल में वहां पर घट के अत्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती उसका कारण [केवल] घटकालीन भूतल के स्वरूप 'सम्बन्ध' का न जुड़ना या बनना है। अर्थात् घट के विद्यमान समय का भूतल चूंकि घटाभाव का सम्बन्ध-घटक [प्रतीत] नहीं हो पाता इसीलिये उस भूतल में घटाभाव बुद्धि नहीं होती। अतएव स्पष्ट है कि—नव न्याय की इस प्रक्रिया के अनुसार किसी भूतल आदि में घट के विद्यमान होने की दशा में भी वहां 'घटाभाव' बराबर बना रहेगा क्योंकि नवीन लोग 'घटाभाव' को 'सर्वदा सर्वत्र व्यापक' स्वीकार करते हैं।

सि० मु०="अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम्। श्यामघटे रक्तो नास्तीति, रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावं तयोर्विरोधात्। नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाऽप्यत्यन्ताभावो वर्त्तत इति प्राहुः।"

अर्थ=इसी सम्बन्ध में [अत्र] प्राचीन लोगों का तो सिद्धान्त यह है कि-ध्वंस तथा प्रागभाव के अधिकरण [जहां ध्वंस और प्रागभाव रहता हो उसी स्थान] में अत्यन्ताभाव नहीं पाया जाता। जैसे कि—श्याम घट में रक्त रूप नहीं होता तथा रक्त घट में श्याम रूप नहीं होता [इसीलिये] इस ज्ञान से [केवल रक्त रूप के] प्रागभाव का और [श्याम रूप के] ध्वंस का ग्रहण होता है न कि उन [रक्त तथा श्याम रूप] के अत्यन्ताभाव का, क्योंकि उन दोनों [ध्वंस तथा प्रागभाव] के साथ [अत्यन्ताभाव के न रह सकने अर्थात्] विरोध

होने के कारण। परन्तु नवीन लोग यह कहते हैं कि [अत्यन्ताभाव को भी] उन के साथ साथ वहां [तत्र] मान लेने पर किसी विरोध के न होने से ध्वंस आदि के समय में भी अत्यन्ताभाव [वहां विद्यमान] रहता है।"

भाव= इस का आशय यह है कि–कच्चे घड़े को जब तक कुम्हार आवा में पका न ले तब तक उसका रूप श्याम ही रहता है, इस प्रकार [पकने से पहले] श्याम घट में लाल रूप का प्रागभाव होगा। और उसके बाद घड़े में लाल रूप के आ जाने पर अर्थात् घट के पककर लाल होते ही उस में श्याम रूप का ध्वंस [नाश] हो जाता है। इस प्रकार श्याम घट में रक्त रूप के, तथा रक्त घट में श्याम रूप के अभाव को अत्यन्ताभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि श्याम घट में आगे रक्त रूप के उत्पन्न होने की सम्भावना पाई जाती है और रक्त घट में श्याम रूप का विनाश भी देखा ही जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि श्याम घट में रक्त रूप का अभाव तो 'प्रागभाव' होता है तथा रक्त घट में श्याम रूप का अभाव [केवल] 'ध्वंसाभाव' है—अत्यन्ताभाव नहीं, ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है। किन्तु नवीन नैयायिक यह कहते हैं कि ऐसे स्थल में यदि दोनों अभाव एक साथ रह जायें अर्थात् जहां प्रागभाव रहता है वहां अत्यन्ताभाव भी यदि उस के साथ रह जाए और इसी प्रकार ध्वंस तथा अत्यन्ताभाव को भी एक जगह साथ साथ मान लें तो कोई आपत्ति नहीं आती, इसीलिये नवीन लोगों के सिद्धान्त अनुसार [जैसे–भूतल में घट के वापस ले आने पर वहां अत्यन्ताभाव बराबर बना रहता है ठीक उसी तरह] प्रागभाव तथा ध्वंस के समय में भी अत्यन्ताभाव वहां बना ही रहेगा [क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है]।

सि० मु०="नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेद् ? न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात्। एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात्। एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमत्यन्ताभावस्येति प्रत्युक्तम्, अप्रत्यक्षत्वापत्तेः ॥१२॥

अर्थ=“[मीमांसक प्रभाकर की ओर से] प्रश्न यह उठता है [ननु] कि अभाव को अधिकरणात्मक [आधार का कैवल्य] ही क्यों न मान लें जब कि इसी में कल्पना का लाघव भी हो सकता है ? [उत्तर देते हैं कि] ऐसा मान लेना ठीक नहीं रहेगा, अपितु अनन्त आधारों के रूप में कल्पना करने के मुकाबले में [अभाव को एक] अतिरिक्त पदार्थ मानने में कल्पना का लाघव रहेगा। क्योंकि इस रीति से [अर्थात् अभाव को अलग पदार्थ मान लेने से उसका] आधार-आधेय भाव [जिस में अभाव रहता है उसी जगह का, और अभाव का पृथक् पृथक् होना ऐसा ज्ञान] भी बन जायेगा। और इसी तरह से उन उन शब्द, गन्ध तथा रस आदि [प्रत्येक] के अभावों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। नहीं तो [अन्यथा] उन उन [शब्द आदि के अभाव वाले] स्थलों का उन उन [श्रोत्र आदि] इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सकने से [श्रोत्र आदि द्वारा शब्द आदि के अभाव] की प्रत्यक्षता ही न होगी। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव का ज्ञान विशेष अथवा काल विशेष आदि के रूप में होना [ऐसा] मानने वालों के सिद्धान्त का भी खण्डन कर दिया, क्योंकि [वैसा मान लेने पर तो अभाव का] प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा ॥१२॥

भाव=“भूतल में ‘घटाभाव’ को मीमांसक भूतल स्वरूप अर्थात् भूतल मात्र या भूतल का ‘कैवल्य’ मानते हैं, भूतल से अलग वस्तु नहीं। इस प्रकार प्रभाकर के सिद्धान्त अनुसार जिस भूतल आदि में ‘घटाभाव’ की प्रतीति होती है वही भूतल आदि आधार ही अभाव का स्वरूप होता है उस आधार के ‘केवल स्वरूप’ से अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं गिना जाता। इसीलिये ऐसा मानने वाले मीमांसक के पूर्वपक्ष से यहां यह अर्थ लिया जायेगा कि [जिन आधारों में अभाव रहता है वे] आधार तो स्वयमेव विद्यमान होते हैं, क्यों न उन स्वयं विद्यमान आधारों को अभाव का रूप दे दें जबकि ऐसी बात में कल्पना का लाघव भी हो सकता है अर्थात् उन आधारों से अभाव को अलग मानने की नई कल्पना नहीं बढ़ानी पड़ेगी ? पर [यह ध्यान रहे कि] नैयायिक ‘भूतल में घटाभाव’ को भूतल का ‘स्वरूपमात्र’ नहीं मानते अपितु [उस] भूतल के ‘केवल स्वरूप’ से घटाभाव को एक अलग ही पदार्थ स्वीकार

करते हैं। ऐसा स्वीकार करने में वे तीन लाभ बताते हैं—

पहला यह कि—'अभाव' को अनन्त आधारों के रूप में लेने की अपेक्षा उसको एक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार कर लेने में कल्पना का लाघव रहता है। क्योंकि अभाव को अलग न ले कर यदि आधार को ही अभाव के रूप में ले लिया जाय तो 'भूतल में घटाभाव' भूतल स्वरूप और 'जल में घटाभाव' जल स्वरूप स्वीकार करना पड़ेगा। इस दृष्टि से अभाव के अनन्त स्वरूप बन जायेंगे इस प्रकार अभाव को उन अनन्त आधारों के रूप में मान लेने में तो कल्पना का गौरव [आधिक्य] ही होगा, इसीलिये लाघव [न्यूनता] इस में है कि अनन्त आधारों के प्रत्येक स्वरूप को अभाव के रूप में लेने की अपेक्षा हमारे [नैयायिकों के] सिद्धान्त में माने हुए, एक नित्य घटाभाव को स्वीकार कर लिया जाय।

(२) 'अभाव' को आधार से अलग स्वीकार करने पर आधार–आधेय भाव भी बन जाता है। जैसे कि–'भूतल में घटाभाव' की प्रतीति में भूतल तो आधार [आश्रय या सहारा] होता है और घटाभाव आधेय [उसके सहारे पर टिका हुआ] है, ऐसा बोध होता है। किन्तु घटाभाव को यदि भूतल स्वरूप मान लें तो उन–आधार और आधेय के [एक दूसरे से] अलग अलग वस्तु होने का ज्ञान भी न बन सकेगा।

(३) 'अभाव' को अलग न ले कर यदि आधारस्वरूप मान लें तो 'शब्द और शब्द के अभाव' का एक ही इन्द्रिय [श्रोत्र] से ग्राह्य होने का क्रम टूट जायेगा। क्योंकि प्रतियोगी और उसका अभाव एक ही इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं। अर्थात् यह नियम है कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है उसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होता है। इस से यह आया कि 'रूप' तथा 'रूपाभाव' का ग्रहण केवल चक्षु इन्द्रिय से होगा। जैसेकि–घट में लाल आदि रूप को, और वायु में रूप के न होने [अभाव] को, नेत्र से देखा जाता है। अब यदि अभाव को आधार स्वरूप मान लें तो 'वायु में रूपाभाव' को वायुस्वरूप कहना पड़ेगा क्योंकि उस रूपाभाव का आधार या अधिकरण यहां वायु है। पर प्रश्न यह है कि–रूपाभाव यदि

वायु स्वरूप है तो उस का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये क्योंकि वायु का ग्रहण त्वचा ही से होता है, चक्षु से नहीं [पर यह भी तो स्पष्ट है कि वायु में रूपाभाव का ग्रहण चक्षु से हो जाता है] जिस से यह आया कि अभाव को आधारस्वरूप मान लेने की दशा में तो, जिस इन्द्रिय से अभाव का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय से उसके प्रतियोगी का ज्ञान न हो सकने की बात भी आ पड़ेगी। अर्थात् रूप और उसके अभाव [दोनों] का चक्षु से ग्राह्य होना न कहा जा सकेगा, जोकि सर्वशः अनुभव के विरुद्ध है। इस दृष्टि से न्याय में अभाव आधार स्वरूप नहीं अपितु उस से एक अलग ही पदार्थ है।

उपर्युक्त तीनों युक्तियों द्वारा अभाव को आधार स्वरूप स्वीकार करते वाले मीमांसक के मत का खण्डन कर चुकने के बाद में, अभाव पदार्थ को 'ज्ञान विशेष अथवा काल विशेष' मानने वालों के मत का खण्डन किया जाता है। मीमांसकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अत्यन्ताभाव आदि को ज्ञान स्वरूप कहते हैं उन के [ऐसा कहने से] अभिप्राय यह है कि–खाली पड़े भूतल को देखते ही घट का स्मरण हो आने पर यह ज्ञात हो जाता है कि उस घट का यहां अभाव है, इसीलिये 'भूतल में घटाभाव' एक तरह का 'विशेष ज्ञान' ही होता है। परन्तु यहां पर भी वही ['प्रत्यक्षता' के न बन सकने का] प्रश्न सामने आ पड़ता है अर्थात् यदि अभाव ज्ञान स्वरूप है तो ज्ञान का हमें केवल मानस प्रत्यक्ष होता है अर्थात् ज्ञान का प्रत्यक्ष अन्तः इन्द्रिय 'मन' से माना गया है, बाह्य इन्द्रिय चक्षु से नहीं–परन्तु यह स्पष्ट है कि 'भूतल में घटाभाव' का प्रत्यक्ष सब को चक्षु से ही होता है। इसी दृष्टि से 'भूतल में घटाभाव' को ज्ञान विशेष भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि घटाभाव को ज्ञान विशेष मानने पर तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही न बन सकेगा [यह भी एक अनुभव के विरुद्ध सी बात है]। अतएव अभाव को ज्ञान विशेष मानने वालों के सिद्धान्त का निराकरण हो गया। इसी प्रकार 'काल विशेष' के बारे में भी जान लेना चाहिये। अर्थात् अभाव के काल विशेष मान लेने पर भी वही 'प्रत्यक्षता' के न हो सकने का दोष आयेगा। क्योंकि अत्यन्ताभाव को काल विशेष स्वीकार करने वाले 'भूतल में घटाभाव' के केवल उसी 'विशेष' समय को

जबकि भूतल में घट विद्यमान नहीं होता, घटाभाव कहते हैं। इसीलिये उनकी दृष्टि से घटाभाव–कोई अलग पदार्थ नहीं होता, अपितु भूतल का एक काल विशेष माना जाता है। परन्तु काल का भी [ज्ञान की तरह] बाह्य इन्द्रिय चक्षु आदि से प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये अभाव को काल विशेष मान लेने की दशा में 'भूतल में घटाभाव' का चाक्षुष प्रत्यक्ष सिद्ध न हो सकने का दोष आने के कारण नैयायिक अभाव को एक अलग पदार्थ मानते हैं।

मूल में योग्य की अनुपलब्धि से अभाव का प्रत्यक्ष होना कहा गया है। यहां **'अनुपलब्धि'** इस अंश को लेते हुए यही कहा जायेगा कि जिस जगह घट की 'उपलब्धि' होगी उसी जगह 'घटाभाव' का ज्ञान नहीं हो सकेगा अर्थात् 'घटाभाव' का प्रत्यक्षज्ञान केवल उसी जगह होगा जहां घट की अनुपलब्धि हो। क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष के लिये प्रतियोगी अर्थात् घट की उपलब्धि का न होना [अभाव] अपेक्षित है। इस प्रकार यह आया कि–भूतल में घट की उपलब्धि का अभाव न होने पर उस भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। परन्तु इसके साथ **'योग्य'** पद भी जुड़ा हुआ है जिसका अर्थ यह है कि–केवल उसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है जो वस्तु 'प्रत्यक्ष के योग्य' हो। इसी प्रकार यहां यह भी स्पष्ट हो गया कि जो वस्तु 'प्रत्यक्ष के योग्य' नहीं होती तो उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी 'योग्य' शब्द की दृष्टि से न्याय–वैशेषिक में यह माना गया है कि जिस जिस वस्तु का प्रत्यक्ष जिस-जिस इन्द्रिय के द्वारा होता है उस उस के अभाव का प्रत्यक्ष भी उस उस इन्द्रिय के द्वारा होता है। अर्थात् जिस इन्द्रिय से प्रतियोगी का प्रत्यक्ष होता है उसके अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होता है। जैसे कि—प्रतियोगी अर्थात् 'रूप' को नेत्र से देखा जाता है तो वायु में 'रूप के अभाव' को भी नेत्र ही से देखा जायेगा। मिठास का प्रत्यक्ष रसना से होता है तो कुनैन में मीठेपन का अभाव भी रसना से ही ग्रहण होगा। इसी प्रकार पाषाण में सुगन्ध का अभाव, अग्नि में शीतस्पर्श का अभाव, श्रोत्र में शब्द का अभाव तथा आत्मा में सुख दुःख का अभाव क्रमशः घ्राण त्वचा, श्रोत्र तथा मन इन्द्रिय से ग्रहण किये जायेंगे।

न्याय वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार यहां पर इतना और जान लेना चाहिये कि ऊपर दिये गए ये सभी उदाहरण 'संसर्गाभाव' प्रत्यक्ष के हैं जिन के द्वारा संसर्गाभाव का प्रत्यक्ष [उसके] प्रतियोगी के प्रत्यक्षयोग्य होने के आधार पर कहा गया है। अर्थात् प्रतियोगी के प्रत्यक्ष योग्य होने पर ही उसके अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है, 'नहीं तो नहीं'। इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि 'संसर्गाभाव' के प्रत्यक्ष में [उसके] प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित होती है। जैसे कि—'वायु में रूपाभाव' की प्रतीति में 'रूपाभाव' का प्रतियोगी 'रूप' है जिस की नेत्र से प्रत्यक्ष होने की योग्यता देखी जाती है। अर्थात् वायु में रूप के अभाव का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जबकि उस 'रूपाभाव' के प्रतियोगी अर्थात् 'रूप' का प्रत्यक्ष भी चक्षु द्वारा होता हो। परन्तु [यह ध्यान रहे कि] 'अन्योन्याभाव' को प्रत्यक्ष करने के लिये अधिकरण [जिस में अभाव रहता हो केवल उसी] की योग्यता अपेक्षित होती है [प्रतियोगी की योग्यता नहीं] जैसे कि—"स्तम्भः पिशाचो न" अर्थात् 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं' इसका आशय यह है कि स्तम्भ में पिशाच का अन्योन्याभाव है। इस प्रकार स्तम्भ यहां अधिकरण या अनुयोगी हुआ, क्योंकि उस में अन्योन्याभाव रहता है और पिशाच प्रतियोगी होगा जिसका कि अन्योन्याभाव होता है। ध्यान देना चाहिये कि—यद्यपि यहां पर प्रतियोगी अर्थात् पिशाच 'प्रत्यक्ष के योग्य' नहीं होता तो भी उस अन्योन्याभाव का अनुयोगी अर्थात् स्तम्भ तो प्रत्यक्ष के योग्य है ही। जिस से यह आया कि अधिकरण अर्थात् स्तम्भ के प्रत्यक्ष योग्य होने के कारण उस में पिशाच का अन्योन्याभाव [यह स्तम्भ पिशाच नहीं] नेत्र द्वारा ग्रहण हो जाता है।

अतएव अभाव प्रत्यक्ष के बारे में—'संसर्गाभाव' को प्रत्यक्ष करने के लिये तो 'प्रतियोगी' के प्रत्यक्ष होने की योग्यता आवश्यक होती है। परन्तु 'अन्योन्याभाव' के प्रत्यक्ष के लिये प्रतियोगी की कोई आवश्यकता नहीं रहती अपितु उस में केवल अनुयोगी अर्थात् अधिकरण के प्रत्यक्ष होने की योग्यता देखी जाती है। और प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये।

मूल = अथ प्रमा कथ्यते, सा चतुर्विधा–प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् । तत्करणानि प्रमाणानि चत्वारि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् । तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं निर्विकल्पकम्-सविकल्पकञ्च । प्रत्यक्षकरणानि षडिन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि । एतानि सन्निकर्ष सहितानि प्रत्यक्षं जनयन्ति ।

अनुवाद = अब 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थज्ञान को कहना प्रारम्भ करते हैं। वह [प्रमा] प्रत्यक्ष–अनुमिति–उपमिति और शाब्द, इस भेद से चार प्रकार की होती है। उन प्रमाओं के 'करण' [जिन से ये प्रमाएं होती हैं] चार प्रमाण माने गए हैं (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान, और (४) शब्द। उन प्रमाओं के बीच में [तत्र] प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो 'निर्विकल्पक–प्रत्यक्ष' [अव्यावहार्य-ज्ञान]। और दूसरा 'सविकल्पक–प्रत्यक्ष' [व्यावहार्य-ज्ञान]। प्रत्यक्ष ज्ञान के करण [सर्व उत्कृष्ट साधन] छः इन्द्रियां हैं, नासिका–रसना–चक्षु–त्वचा–श्रोत्र और मन। ये छः प्रकार की इन्द्रियां सन्निकर्ष के होने पर ही [अपने अपने] प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती हैं।

व्याख्या = पीछे यह कहा गया था कि–'अनुभव' दो प्रकार का होता है एक तो 'यथार्थ' और दूसरा 'अयथार्थ'। उन में से केवल 'यथार्थ–अनुभव' को ही 'प्रमा' कहा जाता है। और वह प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभूति—चार प्रकार की बताई गई है। प्रमा के कारण अर्थात् साधन को प्रमाण कहते हैं। परमाओं की संख्या 'चार' होने के कारण उनके करण अर्थात् मुख्य साधन जिन का नाम प्रमाण है वे प्रमाण भी 'चार' ही बताये हैं।

यहां पर इतना और जान लेना चाहिये कि—'न्याय' में तो 'चार' और 'वैशेषिक' में केवल 'दो' प्रमाण माने जाते हैं। 'तर्कामृतम्' न्याय–वैशेषिक शास्त्र का एक सम्मिलित ग्रन्थ होने की दृष्टि से 'न्याय' को आदर्श मान कर

इस ग्रन्थ में 'प्रत्यक्ष–अनुमान–उपमान और शब्द' ये चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं जिन से क्रमशः 'प्रत्यक्ष–अनुमिति–उपमिति और शाब्दी'–ये चार ही प्रकार की अनुभूति होती है। प्रमाणों की संख्या के बारे में बहुत तरह के मत दार्शनिकों में पाये जाते हैं। भारतीय दर्शन शास्त्रों में से जो शास्त्र वस्तुतः जितने प्रमाण मानता है वह निम्न प्रकार है—

चार्वाक	प्रत्यक्ष	[एक प्रमाण]
बौद्ध तथा वैशेषिक	प्रत्यक्ष और अनुमान	[दो प्रमाण]
सांख्य और योग	प्रत्यक्ष–अनुमान और शब्द	[तीन प्रमाण]
न्याय	प्रत्यक्ष–अनुमान–उपमान और शब्द	[चार प्रमाण]
'प्रभाकर–मीमांसा'	उपर्युक्त चारों और अर्थापत्ति भी	[पांच प्रमाण]
'भट्टकुमारिल–मीमांसा'	उपर्युक्त पांच और अनुपलब्धि	[छः प्रमाण]
पौराणिक	उपर्युक्त छै और 'संभव' तथा 'ऐतिह्य'	[आठ प्रमाण]

'न्याय' से कही गई चारों प्रमा रूप अनुभूतियों में से प्रत्यक्ष अनुभूति अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहते हैं जिस में अन्य कोई ज्ञान करण न हो "ज्ञानाऽकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"। इसी दृष्टि से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों में अर्थात् 'अनुमिति–उपमिति तथा शाब्दी' अनुभूति में और वैसे ही 'स्मृति' में भी कोई ज्ञान करण अवश्य होता है जैसे कि–अनुमिति में व्याप्तिज्ञान करण होता है, उपमिति में सादृश्यज्ञान करण है और शाब्दबोध में पदज्ञान करण होता है। अथवा स्मृति में अनुभवज्ञान को करण [असाधारण कारण] माना गया है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में कोई दूसरा ज्ञान करण नहीं होता है। इसीलिये यह प्रत्यक्ष का निर्दोष लक्षण हुआ, और यही लक्षण ईश्वर के प्रत्यक्ष में भी घट जाता है।

इस के बाद प्रत्यक्ष ज्ञान के दो विभाग किये गए हैं एक 'निर्विकल्पक' और दूसरा सविकल्पक'। इन में से 'निर्विकल्पक' का लक्षण है "निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्"। "जिस ज्ञान में 'प्रकार' अथवा 'विशेषण' [जिस से किसी का ज्ञान होता है वही] न हो उसी 'अन जाने'='अयुक्त ज्ञान' को अर्थात् जिस ज्ञान में—विशेष्य, विशेषण तथा सम्बन्ध की [कौन विशेष्य है,

कौन विशेषण है और विशेष्य–विशेषण का आपस में कौनसा सम्बन्ध है ऐसी] प्रतीति न हो, वही चित्तवृत्ति के उठने या सरकने से पहले का ज्ञान अर्थात् विशेष्य–विशेषण भाव सम्बन्ध को ग्रहण न करता हुआ 'वैशिष्ट्यानवगाहि' ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। अथवा ज्ञान होने पर भी जो धारणीय न हो अपितु 'अगम्य' [बुद्धि की पहुंच से बाहर] और अनिर्वचनीय हो ऐसा ज्ञान निर्विकल्पक माना जाता है।''

सच तो यह है कि 'निर्विकल्पक' ज्ञान की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं हो सकती, तो भी उसके बारे में ऐसा समझ लेना [फ़रज़ कर लेना] चाहिये कि जैसे—दूध पीते बालक को बोलना सीखने से पहले सामने पड़े घट का ['यह घट है' इस विशिष्ट अर्थात् सविकल्पक ज्ञान से पहले होने वाला] 'यह कुछ है' इत्यादि प्रकार का केवल संवेदन के रूप में भान, जिसका कि उस बालक को स्पष्ट आभास नहीं हो पाता उसी अस्पृष्ट ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है जैसे कि—''बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'' इस प्रकार के उदाहरण से यह आया कि–जहां वस्तु का कैवल्य या केवल स्वरूप भास रहा हो, उस की किसी विशेषणता के साथ जुटी हुई [संकलित] प्रतीति न हो तो उसी अवस्था का वह उदास सा अमिश्रित ज्ञान निर्विशेषण या निष्प्रकारक होने के कारण निर्विकल्पक कहलाता है जिस का कि अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष नहीं हो पाता इसीलिये—

''ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।'' [न्याय मुक्तवली]।

अर्थात् ज्ञान जिसे कि 'निर्विकल्पक' कहते हैं वह अतीन्द्रिय माना जाता है।''

क्योंकि 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु का ज्ञान किसी न किसी 'विशेषणता' या 'प्रकारता' को लेकर ही होता है। जाति तथा अखण्डोपाधि का ज्ञान बिना किसी प्रकारता या विशेषणता के भी हो जाता है। यहां यदि यह कहा जाए कि–जाति और अखण्डोपाधि का ज्ञान बिना किसी प्रकारता या विशेषणता के कैसे होगा? इस का उत्तर यह है कि घट का ज्ञान तो घटत्व की विशेषणता के साथ होता ही है पर यदि घटत्व का ज्ञान भी किसी अन्य विशेषणता के साथ स्वीकार कर लें तो

अनवस्था नामक दोष आ पड़ेगा। इसी दृष्टि से जाति का ज्ञान प्रकारता या विशेषणता के बिना माना गया है। इसी प्रकार आकाशत्व आदि अखण्डोपाधि [जिसका पूरी तरह से वर्णन नहीं हो पाता अपितु जिस को केवल फ़रज़ कर लिया जाता है इसलिये उस] का ज्ञान भी बिना प्रकारता या विशेषणता के माना जाता है। पर ध्यान रहे कि—जाति और अखण्डोपाधि को छोड़कर दूसरी किसी वस्तु का ज्ञान [जैसा कि ऊपर कहा गया है] बिना विशेषणता या प्रकारता के नहीं होता प्रत्युत किसी न किसी विशेषणता या प्रकारता के आधार पर होता है, और तभी उस का मानस प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि 'दण्डी पुरुषः' इस में पुरुष 'विशेष्य' है—दण्ड उसका 'विशेषण' है और पुरुष तथा दण्ड का [एक दूसरे के साथ] सम्बन्ध यहां 'संयोग' है। 'यह पुरुष दण्ड वाला है' इसी तरह के सम्मिलित ज्ञान होने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उससे प्रथम हमें पुरुष, दण्ड तथा उनके संयोग का पृथक् पृथक् ज्ञान हो। क्योंकि दण्ड का ज्ञान हुए बिना 'दण्ड वाला पुरुष' यह विशिष्ट ज्ञान सम्भव ही नहीं। इसीलिये विशिष्ट [वस्तु के] ज्ञान से पहले विशेषण का ज्ञान अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार 'अयं घटः' इस ज्ञान में भी ध्यान देने पर तीन अंश संघटित हुए मालूम पड़ते हैं (१) घटत्व विशेषण से मिला हुआ (२) घट पदार्थ का ज्ञान और साथ में (३) उन दोनों अर्थात् घट और घटत्व के आपस में 'समवाय' सम्बन्ध—का भी ज्ञान होता है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि घटत्व के विशेषण हुए बिना 'यह घट है' यह विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि इसी ज्ञान में केवल 'एक' घट पदार्थ ही का ज्ञान होना पर्याप्त नहीं अपितु विशेषण जोकि यहां घटत्व है उसी से मिले हुए, अर्थात् विशेषण को लिये हुए, पदार्थ का [विशिष्ट का] ज्ञान होता है। इसीलिये ऐसा माना जाता है कि घटत्व के विशेषण होने पर ही 'अयं घटः' यह विशिष्ट ज्ञान होगा [अन्यथा नहीं], और तभी वह प्रत्यक्ष कहा जायेगा।

इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है कि, ज्ञान केवल उसी का प्रत्यक्ष कहा जायेगा जिस ज्ञान का यह आकार हो कि 'घटमहं जानामि' अर्थात् 'घट को मैं जानता हूं' यहां ध्यान देना चाहिये कि

इस अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष में आत्मा में–'ज्ञान' विशेषण या प्रकार होकर भासता है। और ज्ञान में 'घट' तथा घट में 'घटत्व' विशेषण हो कर भासता है। इसी का अभिप्राय यह हुआ कि 'मैं घट को जानता हूं' यह जो मानस प्रत्यक्ष अर्थात् अनुव्यवसाय रूप ज्ञान है, इसी ज्ञान में—'मैं' अर्थात् 'आत्मा' तो विशेष्य है और 'ज्ञान' उस का विशेषण है। ज्ञान का रूप यह है कि 'यह घट है' यह ज्ञान एक चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है। इसी ज्ञान में 'घट' विशेषण है, जिस [घट] का अर्थ है 'घटत्वविशिष्ट-घट' अर्थात् ज्ञान में तो 'घट' विशेषण होकर प्रतीत होता है और घट में 'घटत्व' विशेषण होकर प्रतीत होता है। इसी रीति से 'अयं घटः' तो एक विशिष्ट [विशेष्यविशेषण-भावयुक्त] ज्ञान है और 'मैं घट को जानता हूं' यह ज्ञान 'अयं घटः' जो कि विशिष्ट ज्ञान है उसी [विशिष्ट ज्ञान] की विशिष्टता या विशेषणता से युक्त होकर मानस प्रत्यक्ष का विषय बना है। क्योंकि 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान किसी धर्म को विशेषण बना कर ही होता है, और तब उसका मानस प्रत्यक्ष होता है, इस से यह आया कि-मानस प्रत्यक्ष [जिसे अनुव्यवसाय भी कहा जाता है] तभी हो सकता है जबकि ज्ञान में कोई विशेषणता हो अर्थात् हमारा वह ज्ञान निर्विशेषण न हो।

इस प्रकार से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि–एक दूसरे के साथ रह रही उन दो चीज़ों का जिन में विशेष्यविशेषणभाव नहीं होता, ज्ञान तो हो सकता है, पर वह ज्ञान ऐसा नहीं होता कि जिस का अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष कहा जा सके। क्योंकि मानस प्रत्यक्ष [जिसे ऊपर बताया गया है] तभी सम्भव है जबकि ज्ञान विशेष्यविशेषणभावशून्य न हो प्रत्युत विशेष्य विशेषणभाव पूर्वक हो। इसीलिये यदि तो 'घट' और 'घटत्व' पृथक् पृथक् दिखाई पड़ रहे हों, उन में कोई सम्बन्ध न हो तो उस दशा में वे–वे जोड़ दिखाई पड़ने से और उन में विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्ध न होने के कारण हमें उस दशा के निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। अर्थात् घट और घटत्व जब अलग अलग रूप में भासते हैं तब उन दोनों का ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान में 'विशेष्य विशेषण भाव' के न होने से– वह ज्ञान

निष्प्रकारक होता है और निष्प्रकारक होने के कारण उसका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, इसीलिये निष्प्रकारक ज्ञान जिस का दूसरा नाम निर्विकल्पक ज्ञान है उसे अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष के अयोग्य माना गया है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का दूसरा भेद जिसे 'सविकल्पक' कहते हैं वह ज्ञान 'निर्विकल्पक' के समान असम्बद्ध [किसी मिलावट के बिना] नहीं होता अपितु संकलित [योजित] ज्ञान होता है। क्योंकि निर्विकल्पक अवस्था में तो [प्रत्येक] वस्तु का 'केवल–स्वरूप' ही भासता है अर्थात् 'यह कुछ है' इस प्रकार से उसका सिर्फ़ संवेदन सा होता है इसीलिये उस दशा में वस्तु के कैवल्य के अतिरिक्त नहीं भासता। परन्तु 'सविकल्पक' ज्ञान उसे कहते हैं जिस में वस्तु के स्वरूप की प्रतीति के साथ में उसके नाम जाति आदि का भी भान होता है "नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम् ।" जैसा कि 'घटः' इस सविकल्पक ज्ञान में वस्तु अर्थात् 'घट' की प्रतीति के साथ उसके नाम तथा जाति अर्थात् घटत्व [घट होने] का भी भान होता है, इसीलिये व्यवहार में आने वाला [प्रयुक्त] जो भी ज्ञान होगा वह सब सविकल्पक ज्ञान [के अन्तर्गत] कहा जायेगा। और घटः पटः इत्यादि प्रकार के सविकल्पकज्ञान से पहले होने वाला 'यह कुछ है' इस तरह का निर्विकल्पक ज्ञान जिस का सविकल्पक ज्ञान से पहले होना आवश्यक रूप से स्वीकार करना पड़ता है उस में 'वस्तु के केवल स्वरूप' अर्थात् 'उस के कुछ होने' की जो इतनी भर प्रतीति है उस के साथ किसी नाम जात्यादि का भान न होने के कारण ऐसा अनुष्ठान के अयोग्य ज्ञान निर्विकल्पक कहा जायेगा।

इस के बाद मूल में–'घ्राण' अर्थात् 'नासिका' आदि छः प्रकार की इन्द्रियों को प्रत्यक्ष में असाधारण कारण' [करण] बताया गया है, परन्तु साथ में यह कहा है कि वे–छः इन्द्रियां 'सन्निकर्ष' [इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध] से प्रत्यक्ष को उत्पन्न करती हैं। क्योंकि जब तक किसी वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष [मिलाप] न हो तब तक प्रत्यक्ष के बारे में कुछ सोचा ही नहीं जा सकता, इस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रिय और अर्थ के साथ साथ उन दोनों के बीच में 'सन्निकर्ष' शब्द का डाल देना आवश्यक हो जाता है

अर्थात् किसी वस्तु का प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जबकि उसी [प्रत्यक्ष होने वाली] वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष [संयोग आदि सम्बन्ध] भी हो, इसीलिये न्याय–वैशेषिक में विषय और इन्द्रिय के 'सन्निकर्ष' [जिसे 'व्यापार' भी कहते हैं उसी] से प्रत्यक्ष होता है, यही निष्कर्ष निकाला गया है। जैसा कि 'तर्क संग्रह' में भी आया है कि—'चक्षु आदि इन्द्रियों और घट पट आदि विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं'। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" अब 'करण' को बताते हैं—

'तर्क भाषा' में केशवमिश्र' ने—साधकतम को करण कहा है—"साधकतमं करणम्।" 'अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः'। 'इसका आशय यह हुआ कि–अतिशयित अर्थात् 'सर्वोत्कृष्ट, कारण' साधकतम होने से–'करण' कहलाता है।' और 'तर्क संग्रह' में 'असाधारण कारण' को 'करण' कहा गया है "असाधारणं कारणं करणम्" इस का अभिप्राय भी वही है। इसीलिये न्याय–वैशेषिक की दृष्टि से प्रत्यक्ष के प्रति 'करण' अर्थात् असाधारण कारण या सर्व उत्कृष्ट कारण "घ्राण" [नाक] 'रसना' [जीभ] 'चक्षु' [आंख] 'त्वक्' [त्वचा] 'श्रोत्र' [कान] और 'मन"—ये छः इन्द्रियां हैं। इन में से पहली पांच'बाह्य इन्द्रियां' हैं और अन्तिम अर्थात् मन 'अन्तरिन्द्रिय' है। इसी प्रकार इन्द्रियां छः होने के कारण उन से होने वाला जैसे कि—'घ्राणज' [घ्राण से] 'रासन' [रसना से] 'चाक्षुष' [नेत्र द्वारा] 'स्पार्शन' [त्वचा से] 'श्रौत्र' [श्रोत्र से] और 'मानस' [मन के द्वारा] ये छः प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु [इतना ध्यान रहे कि] यहां 'जन्य प्रत्यक्ष' का ही ये छः प्रकार का विभाग कहा गया है इसीलिये इस विभाग में ईश्वर को नहीं लिया गया। क्योंकि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्" इसी [न्याय सूत्र १।१।४] के तथा मूल के अनुसार ईश्वर का प्रत्यक्ष यहां विवेचनीय नहीं, प्रत्युत जीवात्मा को होने वाला जो 'जन्य प्रत्यक्ष' है केवल उसी जन्यप्रत्यक्ष का यहां विवेचन किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार 'जन्य प्रत्यक्ष' का विभाग हो जाने के बाद प्रत्येक इन्द्रिय से जिस जिस विषय का ग्रहण होता है उसे स्पष्ट करते हैं—

"घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः,
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः" [न्याय मु० का० ५३]

"घ्राण [नासिका] इन्द्रिय का 'विषय' [ग्राह्य] गन्ध गुण तथा गन्धत्व आदि जाति को कहा गया है [स्मृतः], इसी प्रकार से 'रसना' [जिह्वा] इन्द्रिय का विषय 'रस' तथा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द भी 'प्रसिद्ध' है [श्रुतेः]।

सि० मु०='गोचर इति। ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वादि परिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च-उद्भूतो बोध्यः'॥ ५३॥

अर्थ="[सूत्र में से आए] 'गोचर' शब्द का अर्थ है 'ग्राह्य' [ग्रहण करने के योग्य अर्थात् विषय]। 'गन्धत्वादि' अंश को बताते हैं। 'आदि' पद से—'सुरभित्व' तथा 'असुरभित्व' [दोनों धर्मों] का ग्रहण होता है [इस दृष्टि से घ्राण इन्द्रिय जहां सुरभि आदि गन्ध का ग्रहण करती है वहां सुरभि आदि में रहने वाली जाति का भी ग्रहण करती है, यही अर्थ हुआ]। क्योंकि गन्ध के प्रत्यक्ष होने के कारण उस [गन्ध] में रहने वाली जाति [गन्धत्व] भी प्रत्यक्ष होती है। परन्तु गन्ध के आश्रय [द्रव्य अर्थात् जिन में गन्ध रहता है उन फूल आदि पार्थिव पदार्थों] के ग्रहण करने में घ्राण इन्द्रिय समर्थ नहीं होती है' ऐसा समझना चाहिये। इसी दृष्टि से 'रस' इत्यादि अंश को स्पष्ट करते हैं। 'रसत्व' के सहित रस का ग्रहण 'रसना इन्द्रिय' करती है, ऐसा तात्पर्य है। ऐसे ही शब्द [गुण] का भी 'शब्दत्व' सहित [प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय करती है, यही अभिप्राय निकला]। [प्रत्यक्ष के बारे में] गन्ध और रस उद्भूत अर्थात् प्रकट [का ही प्रत्यक्ष होता है ऐसा] जानना चाहिये॥ ५३॥"

भाव="घ्राण इन्द्रिय' से उसके 'विषय' अर्थात् 'गन्ध' गुण का ही प्रत्यक्ष होता है। वह 'गन्ध' दो प्रकार का होता है—'सुगन्ध' और 'दुर्गन्ध'। गन्ध केवल पृथिवी [पार्थिव पदार्थों] में रहता है। जैसे कि—

"घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः—'सुरभिरसुरभिश्च'। पृथिवी मात्र वृत्तिः।" [तर्क संग्रह]।' इस प्रकार 'न्याय मुक्तावली और तर्क संग्रह' इन दोनों ग्रन्थों के द्वारा यह स्पष्ट है कि–'घ्राणेन्द्रिय' से केवल पुष्प इत्यादि के गन्ध का ही ग्रहण हो सकता है, न कि उस गन्ध वाले द्रव्य का भी। क्योंकि गन्ध का आश्रय [जिस में गन्ध रहता है] जो पुष्प आदि द्रव्य है उस के प्रत्यक्ष करने में तो घ्राणेन्द्रिय समर्थ ही नहीं। अर्थात् जैसे रूप और रूप वाले द्रव्य [दोनों ही] को आंखों से देखा जाता है वैसे ही गन्ध और गन्ध वाले द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष नासिका कर ले यह बात नहीं बन पड़ती। क्योंकि फूल के केवल गन्ध का ग्रहण घ्राण इन्द्रिय से होता है परन्तु फूल का प्रत्यक्ष तो चक्षुरिन्द्रिय करती है। यदि फूल आंखों से दिखाई न पड़े [जैसे कि अन्धे को] तो नासिका से केवल गन्ध का प्रत्यक्ष होगा, उसी 'गन्ध समेत द्रव्य' अर्थात् फूल का नहीं। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि गन्ध के साथ में गन्धत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार रूप के साथ साथ रूपत्व जाति का, और रस के साथ में रसत्व जाति तथा शब्द के साथ शब्दत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। प्रकरण में जिन गन्ध और रस का प्रत्यक्ष क्रमशः घ्राण और रसना इन्द्रिय से कहा गया है वे यदि अनुद्भूत होंगे [अर्थात् प्रकट यदि न होंगे] तो उनका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा। जैसे कि–ग्रीष्म ऋतु की गरमी में उद्भूत रूप के न होने के कारण उस का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु की गरमी के तैजस होने की दृष्टि से वह रूप से युक्त होगी, यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है तथापि उस का रूप दिखाई न पड़ने के कारण उस में अनुद्भूत रूप स्वीकार किया जाता है इसीलिये उसी अनुद्भूत रूप तथा उस रूप वाली गरमी का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के लिये वस्तु का उद्भूत [प्रकट] रूप में होना आवश्यक है। इस से यह आया कि–'गन्ध' और 'रस' भी केवल उन्हीं का 'घ्राण' और 'रसना' से प्रत्यक्ष होता है जोकि उद्भूत [प्रकट] हों [अप्रकट का नहीं]।५३।

"उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४,
क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥"

अर्थ="उद्भूत रूप [प्रकट हुआ रूप] नेत्र का ही गोचर [विषय] होता है, और उसी [उद्भूत रूप] वाले द्रव्य का, एवं पृथकत्व-संख्या-विभाग-संयोग-परत्व-अपरत्व-स्नेह-द्रवत्व-परिमाण, [प्रत्यक्ष के] योग्य द्रव्य की—क्रिया और जाति, तथा वैसे ही [उसी प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य के] समवाय [इन सब] को 'चक्षु' प्रकाश और उद्भूतरूप के सम्बन्ध [अर्थात् सहयोग] से ग्रहण करता है ॥५४=५५॥"

भाव=यहां यह बताया गया है कि—जिस प्रकार उद्भूत रूप का और [तद्वन्ति का अर्थ है उसी रूप वाले अर्थात्] उद्भूत रूप वाले द्रव्य का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है ठीक उसी प्रकार पृथक्त्व तथा संख्या आदि उपरोक्त गुण भी यदि योग्य [प्रत्यक्ष योग्य] व्यक्ति में पाये जायें तो उन का भी प्रत्यक्ष होता है। 'तादृशः' का अर्थ है 'प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाला' इसी दृष्टि से उस प्रत्यक्ष योग्य व्यक्ति में रहने वाले 'समवाय' का भी प्रत्यक्ष होता है, यही तात्पर्य है। कोई वस्तु चक्षु से प्रत्यक्ष तभी होती है जबकि उसी वस्तु का आलोक अर्थात् प्रकाश से संयोग भी हो और उस में उद्भूत रूप भी हो। क्योंकि इन के होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सकता है [नहीं तो नहीं] इसीलिये इन दोनों का अर्थात् प्रकाश संयोग और उद्भूतरूप का होना, चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये ज़रूरी हो जाता है। द्रव्य के [घट आदि के] चक्षु से प्रत्यक्ष होने में तो वे प्रकाश संयोग और उद्भूतरूप समवाय सम्बन्ध से कारण होते हैं, क्योंकि द्रव्य और प्रकाश का संयोग उन दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहता है और [द्रव्य का] उद्भूत रूप भी उसी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार [घट आदि] द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति वे समवाय सम्बन्ध से कारण हुए। परन्तु घट आदि 'द्रव्य' में समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहने वाले] जो 'रूप' आदि हैं उनके

प्रत्यक्ष में तो प्रकाश संयोग और उद्भूत रूप ये दोनों 'स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध' से कारण होते हैं। 'स्व' पद से यहां प्रकाश संयोग और उद्भूत रूप को लिया गया है। इसी प्रकार 'स्व' अर्थात् 'प्रकाश का संयोग और उद्भूत रूप' उसका 'आश्रय' जो घटादि 'द्रव्य' है उसी में 'रूप' का समवाय होता है। और फिर द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'रूप' में भी समवेत जो 'रूपत्व' है उसी 'रूपत्व' के प्रत्यक्ष में वे प्रकाश संयोग और उद्भूत रूप 'स्वाश्रयसमवेतसमवाय सम्बन्ध' से कारण हैं। जैसे उपर्युक्त प्रकार से 'स्व' पद से तो 'प्रकाशसंयोग और उद्भूतरूप' आयेगा, उसका आश्रय हुआ घटादि द्रव्य, उस में समवेत जो रूप, और उस रूप में रूपत्व का समवाय है ॥ ५४–५५ ॥"

"उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।'
'रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं'–'रूपमत्रापि कारणं' ॥[न्याय मु० का ५६]।

'द्रव्याध्यक्षे'—

सि०मु० = "उद्भूतेति । उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः । सोऽपि उद्भूतस्पर्शोऽपि स्पर्शत्वादिसहितः । रूपान्यदिति । रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च यच्चक्षुषो योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम् । तथा च पृथक्त्वसंख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रिया जातयो योग्यवृत्त-यश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः । अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्य प्रत्यक्षेऽपि रूपं कारणम् । तथा च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम् ।"

अर्थ = "उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य को भी त्वक् इन्द्रिय ग्रहण करती है। 'रूप को छोड़कर अन्य जो भी कोई नेत्र से प्रत्यक्ष के योग्य होता है [उसी को त्वक् इन्द्रिय भी ग्रहण कर सकती है]' और 'यहां द्रव्य के त्वाच प्रत्यक्ष [अध्यक्ष]' में भी 'रूप' ही कारण है ॥"

"उद्भूत' इत्यादि अंश को बताते हैं। उद्भूत स्पर्श वाला द्रव्य त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य है। वह उद्भूत स्पर्श भी स्पर्शत्व आदि सहित [त्वक् इन्द्रिय ग्राह्य है]। 'रूपान्यत्' इसी अंश को बताते हैं। रूप से भिन्न और रूपत्व आदि से भिन्न जो भी नेत्र से प्रत्यक्ष होने योग्य है वह सब 'त्वक्' इन्द्रिय से भी ग्रहण अर्थात

प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार पृथक्त्व और संख्या आदि जितने नेत्र से ग्राह्य गुण [पूर्व] कहे गए हैं, तथा प्रत्यक्ष के योग्य [वस्तुओं] में रहने वाली क्रिया और जाति ये सब त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य हैं, यही इस का निष्कर्ष निकला। यहां पर भी अर्थात् त्वक् इन्द्रिय से जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष में भी 'रूप' ही कारण होता है। इसी रीति से बहिरिन्द्रिय से होने वाले [जन्य] द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' [उद्भूत रूप] कारण है।"

भाव=इस का अभिप्राय यह हुआ कि–त्वक् इन्द्रिय से उद्भूत स्पर्श वाले द्रव्य का तो प्रत्यक्ष होता ही है। पर जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष पीछे चक्षु द्वारा बताया गया है उन में से यदि 'रूप' [उन में पाये जाने वाले रंग] और उन रूपों में रहने वाली 'रूपत्व' जाति को छोड़ दें तो प्रत्येक उद्भूतरूप [प्रकट हुए रूप] वाली उस वस्तु जिसका कि प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय से होता है उसी वस्तु का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से भी होता है। इस दृष्टि से मेज़ के लाल आदि रूप को छोड़ कर उसी मेज़ [अर्थात् उद्भूत रूप वाली वस्तु] का चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ साथ 'त्वाच प्रत्यक्ष' भी हो सकता है। क्योंकि जिस मेज़ को हम देखते हैं उसी मेज़ को छू भी तो सकते ही हैं। इसलिये यह आया कि–जिस उद्भूत रूप वाले द्रव्य का हमें चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है वही द्रव्य यदि उद्भूत स्पर्श वाला भी हो तो उसका त्वक् इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है इसी प्रकार पृथक्त्व संख्या आदि पूर्व कहे गए जितने गुण चक्षु से ग्रहण होते हैं और प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य में रहने वाली क्रिया और जाति भी त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। उदाहरणार्थ जिन चार घड़ों को हम आंखों से देख लेते हैं उन की चार 'संख्या' को त्वक् इन्द्रिय से भी गिन लेते हैं इसी प्रकार भूतल और घट के 'संयोग' का, एक घट से दूसरे घट के अलग होने अर्थात् 'पृथक्त्व' का, अथवा शरीर आदि पर चल रही चींटी आदि की 'क्रिया' का अनुभव कर लेते हैं। इसके बाद त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में रूप को कारण बताया गया है जिस का अर्थ यह हुआ कि जिस द्रव्य का चाहे तो स्पर्श होता भी हो पर उस में यदि रूप न हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। जैसे कि–वायु के केवल स्पर्श का तो प्रत्यक्ष होता है और

उस स्पर्शयुक्त द्रव्य अर्थात् वायु में रूप का अभाव होने के कारण त्वचा से वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु वायु का अनुमान किया जाता है। पर रूप वाले जिस घट आदि द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उसी घट का त्वाच प्रत्यक्ष भी कर लिया जाता है। इसीलिये यह आया कि—केवल स्पर्श [गुण] का हम त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष कर सकते हैं किन्तु स्पर्श वाले किसी भी द्रव्य को हम तभी तक प्रत्यक्ष नहीं कर सकते जब तक कि उस द्रव्य में रूप [उद्भूत रूप] न हो। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य जिस का कि बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उस में रूप [उद्भूत रूप] का होना ज़रूरी है।' इसीलिये बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष [मात्र] में 'रूप' कारण कहा गया है।

सि॰ मु॰ = "नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं न वा स्पर्शः कारणं प्रमाणाभावात्, किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं, स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात्। बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत्, न किञ्चित्। आत्माऽवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेत्, न। वायोस्त्वगिन्द्रियेणाग्रहणप्रसंगात्। इष्टापत्तिरिति चेत्। उद्भूतस्पर्शः एव लाघवात् कारणमस्तु, प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत्—वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचित् द्वित्वादिकमपि, क्वचित् संख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः॥ ५६॥"

अर्थ = "नवीन नैयायिकों का तो मत यह है कि—बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्येक वस्तु की प्रत्यक्षता में न रूप कारण है और न ही स्पर्श, क्योंकि [प्रत्यक्ष मात्र के बारे में वैसा] कोई प्रमाण नहीं है, अपितु चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'रूप' और स्पार्शन प्रत्यक्ष में 'स्पर्श' कारण है क्योंकि वैसा अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। यदि यह प्रश्न हो, कि बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न 'प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष में' [प्रत्यक्ष मात्र में] क्या कारण है तो [हम नवीन उत्तर देंगे कि] कुछ भी नहीं [वह इसीलिये कि बाह्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले सभी तरह के

प्रत्यक्ष के लिये किसी 'एक' को कारण नहीं ठहराया जा सकता]। या फिर आत्मा में न रहने वाले शब्द भिन्न विशेष गुण वाला होना [बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र के प्रति] कारण है [क्योंकि लक्षण के इसी प्रकार से हो जाने पर आत्मा में न रहने वाले शब्द अतिरिक्त विशेष गुण जो रूपादि हैं उन वाला होना पृथिवी, जल, तेज और वायु को कहा जायेगा, जिस से यह आया कि नव न्याय के अनुसार 'वायु' का प्रत्यक्ष भी बहिरिन्द्रिय अर्थात त्वक् इन्द्रिय से जन्य है ही]। यदि यह कहा जाए कि 'रूप' ही को कारण स्वीकार कर लेने में लाघव होता है तो ऐसा कहना, ठीक नहीं। क्योंकि [बाह्य इन्द्रियों से होने वाले प्रत्येक द्रव्य के प्रत्यक्ष में केवल रूप को कारण स्वीकार करने की दशा में तो] वायु का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा। पर [यदि प्राचीन नैयायिक यह कहें कि हमारे मत में चूंकि वायु का प्रत्यक्ष माना नहीं गया केवल अनुमान किया जाता है इसीलिये] हमें यह बात अर्थात त्वगिन्द्रिय से वायु का प्रत्यक्ष न होना, अभीष्ट है। तो [नवीन नैयायिक यह पूछते हैं कि] लाघव होने की दृष्टि से [जैसे प्राचीनों ने रूप को कारण बताया है वैसे अकेले] उद्भूत स्पर्श को ही [बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष मात्र के लिये] कारण मान लें तो क्या हानि होगी, [इस पर प्राचीन यदि यह कहें कि] प्रभा का प्रत्यक्ष न होगा [क्योंकि प्रभा या प्रकाश स्पर्श रहित है] फिर [नवीन कहते हैं कि] तुम्हें यह बात भी अभीष्ट होनी चाहिये [अर्थात प्राचीनों को यदि रूप के न होने से वायु का प्रत्यक्ष न होना अभीष्ट है तो स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष न होना उन्हें स्वीकार होना ही चाहिये]। क्योंकि जिस प्रकार [नेत्र से] 'प्रकाश को देखता हूँ' यह प्रतीत होता है—उसी प्रकार 'वायु का स्पर्श करता हूँ' यह भी तो [त्वचा से] मालूम देता ही है, इसीलिये [बिना रुकावट के प्रभा तथा वायु का चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष बन सकने के कारण] वायु का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। [इसी पर दृष्टि रखते हुए] बहिरिन्द्रिय जन्य द्रव्यप्रत्यक्षमात्र के प्रति न केवल रूप की और न ही केवल स्पर्श की कारणता है [प्रत्युत त्वचा से वायु का और चक्षु से प्रभा का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि ऐसा होने में एक प्रमाण भी है—वह यह कि] वायु और प्रभा में पाई जाने वाली

कहीं एकत्व और कहीं द्वित्व संख्या का भी [जैसे कि "यह एक प्रभा है, ये दो प्रभायें हैं" तथा सड़क पर चलते व्यक्ति को यह पीछे की हवा है अर्थात् 'यह एक वायु है' या फिर दक्षिण से और अभी उत्तर से इसी प्रकार दो वायु मालूम देने लगते हैं। और किसी द्रव्य की संख्या तभी गिनी जा सकती है जबकि उसी द्रव्य का भी प्रत्यक्ष हो, इसीलिये दोनों द्रव्यों की संख्या का प्रत्यक्ष होने के कारण जैसे प्रभा या प्रकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है ठीक वैसे ही वायु का भी त्वाच प्रत्यक्ष] होता है, और कहीं [सजातीय में मिलजाना इस] दोष से [किसी एक प्रभा और वायु के क्रमशः संख्यादि अथवा] संख्या परिमाण आदि का ग्रहण नहीं भी होता है, इसी का यही सारांश हुआ ॥ २६ ॥"

भाव='नव और प्राचीन नैयायिकों के आपस में भेद को समझते समय इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिये कि—प्राचीन लोग रूप से रहित द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं मानते। पर किसी द्रव्य में यदि रूप और स्पर्श ये दोनों धर्म पाये जायें [जैसे घट इत्यादि द्रव्यों में] तो जहां रूप और स्पर्श वाले घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वहां उसी का स्पार्शन प्रत्यक्ष भी [साथ में] हो जाता है। और यदि किसी द्रव्य में रूप न हो तो उस [रूप से शून्य] द्रव्य के सिर्फ़ स्पर्श का तो प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु स्पर्श युक्त द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे कि—रूप से शून्य वायु के सिर्फ़ स्पर्श गुण का तो प्रत्यक्ष होता ही है पर स्पर्श वाले वायु द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु वृक्ष की शाखा आदि के कम्पन से वायु की विद्यमानता का अनुमान कर लिया जाता है, ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है। किन्तु—

'नवीनों' के सिद्धान्त अनुसार त्वचा के द्वारा न ही अकेले सिर्फ़ वायु के स्पर्श का, अपितु स्पर्श समेत वायु द्रव्य का [त्वाच] प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि एक अन्धे को भी तो ऐसा स्पर्शन [छूआव] होता ही है कि—यह सामने की हवा है या यह पीछे की। अथवा इस समय पूर्व और पश्चिम 'ये दो हवायें चल पड़ी हैं' इसी प्रकार की प्रतीति भी प्रायः होती रहती है, जिस के कारण यह स्पष्ट है कि, वायु की संख्या को गिनते समय हमें वायु द्रव्य का स्पर्श होता है। इसीलिये नव नैयायिक बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होने वाले प्रत्येक

द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये [अर्थात् प्रत्यक्ष मात्र में] केवल रूप को कारण नहीं मानते। अपितु चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति तो 'रूप' को और स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति 'स्पर्श' को कारण मानते हैं। पर जिस द्रव्य में रूप भी हो और स्पर्श भी [अर्थात् जहां दोनों धर्म हों] ऐसे घट इत्यादि द्रव्यों का प्रत्यक्ष सामान्यतः [नवीन और प्राचीन] दोनों को स्वीकार है।

यहां तक न्याय सिद्धान्त के अनुसार 'चक्षु–नासिका–रसना–श्रोत्र और त्वक्' इन पांच प्रकार की बाह्य इन्द्रियों से प्रत्येक बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष में 'रूप' इत्यादि की कारणता का स्पष्टीकरण कर चुकने के बाद, परन्तु आत्मा में रूप आदि का अभाव होने से अथवा आत्मा के विशेष गुण सुख आदि जिन का कि बाह्य पांचों इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता उन्हीं [अर्थात् आत्मा और उस के विशेष गुणों] का प्रत्यक्ष होना अन्तिम [अन्तरिन्द्रिय] जिस को कि 'मन' इन्द्रिय कहते हैं, उसी के द्वारा 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में से बताते हैं—

"मनोग्राह्यं सुखंदुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः" ॥ कारिका ५७॥

अर्थ = **"सुख–दुःख–इच्छा–द्वेष–ज्ञान तथा प्रयत्न, इनका ग्रहण [अन्तरिन्द्रिय] मन के द्वारा किया जाता है॥ ५७॥'**

सि० मु० = 'मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषयमित्यर्थः। मतिर्ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। एवमात्मापि मनोग्राह्यः किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः॥५७॥'

अर्थ = 'मनोग्राह्य' इसी अंश का—[ये] मन से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष का विषय हैं' ऐसा अर्थ है। 'मति से ज्ञान, कृति से प्रयत्न' [अभिप्रेत हैं]। इसी प्रकार 'सुखत्व' आदि जातियां भी 'मन' के द्वारा ग्रहण की जाती हैं। और इसी प्रकार 'आत्मा' भी मन ही से ग्राह्य है परन्तु 'मनोमात्रस्य गोचरः' अर्थात् 'आत्मा का प्रत्यक्ष सिर्फ़ मन इन्द्रिय के द्वारा होता हैं' इस बात को पीछे [कारिका ५० में] कह चुकने के कारण [फिर से] यहां नहीं कहा गया॥ ५७॥

भाव = इस का आशय यह है कि—जिस प्रकार आत्मा के सुख–दुःख–इच्छा–द्वेष–ज्ञान और प्रयत्न' ये छः विशेष गुण सिर्फ़ अन्तरिन्द्रिय 'मन' से ग्रहण

किये जाते हैं उसी प्रकार सुख आदि गुणों में रहने वाली 'सुखत्व-दुःखत्व-इच्छात्व-द्वेषत्व-ज्ञानत्व और प्रयत्नत्व' ये छः प्रकार की जातियां भी मन ही से ग्राह्य हैं। ठीक वैसे ही उन सुखादि गुणों के 'आश्रय' अर्थात् 'आत्मा' का भी प्रत्यक्ष सिर्फ़ उसी अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा होता है [अन्य पांचों बाह्य इन्द्रियों में से किसी के द्वारा नहीं]। इस बात को नीचे दी गई न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में की [का० सं० ५०] से और भी स्पष्ट करते हैं—

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।"

अर्थ="ये 'आत्मा' प्रवृत्ति आदि के द्वारा अनुमान करने योग्य है रथगाड़ी के चलने से जैसे 'सारथि' ['उसको चलानेवाले का' अनुमान कर लिया जाता है]।"

सि० मु०="प्रवृत्तीति। अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात्। चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माऽप्यनुमीयत इति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह। रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मानुमीयते इति भावः।"

अर्थ="'प्रवृत्ति आदि' इस कारिकांश की व्याख्या करते हैं—ये आत्मा प्रत्येक दूसरे की देह में प्रवृत्ति आदि [के देखने] से अनुमान किया जाता है। 'प्रवृत्ति' का अर्थ यहां पर 'चेष्टा' है। ज्ञान-इच्छा तथा प्रयत्न आदि का शरीर में न होना तो ['शरीरस्य न चैतन्यम्' इत्यादि कारिकाओं में प्रायः अर्थात्] अधिक बार कहा जा चुका ही है। चेष्टा प्रयत्न साध्य हुआ करती है, इसीलिये चेष्टा से प्रयत्न वाले आत्मा का भी अनुमान कर लिया जाता है, ऐसा अभिप्राय है। उस में दृष्टान्त कहा जाता है। 'रथ' इत्यादि अंश से [अर्थात्] 'रथ' का कर्म यद्यपि चेष्टा नहीं है, तो भी उसी कर्म से जैसे कि 'रथवाही' का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार चेष्टा रूप कर्म से अपने से भिन्न अर्थात् दूसरे आत्मा का अनुमान हो जाता है, यही इसका तात्पर्य है।"

भाव='न्याय सिद्धान्त के अनुसार अपने आत्मा का मन इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। किन्तु अपने से भिन्न की आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु प्रत्येक दूसरे शरीर में होने वाली प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा आदि से उस उस शरीर में रहने वाले आत्मा का अनुमान कर लिया जाता है। इस के बाद यह बताया गया है कि-"शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः। [का० ४८] शरीर का चेतन होना नहीं [माना जा सकता] क्योंकि मरे हुए 'शरीर' में उसका व्यभिचार [अर्थात् चेतनता का न पाया जाना] देखते हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न आदि शरीर में नहीं हो सकते। इस प्रकार जब हम किसी दूसरे शरीर में चेष्टा देखते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि चेष्टा या प्रवृत्ति उस देह में अपने आप नहीं होती प्रत्युत 'प्रयत्न' से होती है। और वह प्रयत्न चूंकि केवल 'आत्मा' में हो सकता है किसी देह आदि में नहीं। इसीलिये दूसरे शरीर में 'चेष्टावत्त्व' रूप हेतु से [प्रयत्न वाले] आत्मा का अनुमान कर लेते हैं। दृष्टान्त इस में यह है कि- 'रथ' का चलना देख कर जिस प्रकार रथ को चलाने वाले [सारथि] का अनुमान हो जाता है इसी दिये गए दृष्टान्त में [ध्यान रहे कि] रथ की क्रिया को चेष्टा नहीं कहा जा सकता क्योंकि चेष्टा नाम 'हिताहितपरिहारार्या क्रिया' का है [अर्थात् हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति के अनुकूल क्रिया या व्यापार को चेष्टा कहते हैं]। वैसी क्रिया [चेष्टा] सिर्फ चेतन के और किसी जड़ रथ आदि में तो हो नहीं सकती, तब भी [यहां रथ में चेष्टा से इतना समझना चाहिये कि] जिस प्रकार रथ के चलने से [उस के] सारथि का अनुमान हो जाता है वैसे ही प्रत्येक दूसरे शरीर की चेष्ट [को देखने] से उसी उसी शरीरस्थ आत्मा का अनुमान होता है। अतः न्याय की दृष्टि से अपने आत्मा का 'प्रत्यक्ष' परन्तु अपने से भिन्न आत्मा का 'अनुमान' होता है।

"अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥" [न्याय मु० का० ५०]

अर्थ="अहंकार [अहम्] का आश्रय 'आत्मा' है और केवल [अन्तरिन्द्रिय] 'मन' से उस का प्रत्यक्ष होता है ॥"

सि० मु०—'अहङ्कारस्येति । अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा, न शरीरादिरिति ।
मन इति । मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः, रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥'

अर्थ = 'अहङ्कारस्य' इत्यादि अंश की टीका करते हैं। 'अहंकार' का अर्थ है 'अहं' इसलिये ऐसी जो प्रतीति होती है [कि 'मैं'] उस का आश्रय अर्थात् विषय आत्मा ही है, शरीर [या इन्द्रिय] आदि नहीं।

'मन' इत्यादि अंश की टीका की जाती है। मन से भिन्न [अर्थात् बाह्य चक्षु आदि] इन्द्रियों के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष का [आत्मा] विषय नहीं प्रत्युत [केवल] मानस प्रत्यक्ष का विषय है' यही अर्थ है। 'आत्मा में' रूप आदि का अभाव होने के कारण [किसी बाह्य इन्द्रिय से उस का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता इसीलिये अन्तरिन्द्रिय 'मन' के अतिरिक्त] दूसरी अर्थात् बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष के अयोग्य होना कहा है ॥ ५० ॥'

भाव = "'अहं' [मैं] इसी प्रतीति का नाम 'अहंकार' है। उस का विषय [अर्थात्] आश्रय केवल आत्मा है, शरीर आदि नहीं। क्योंकि मृत दशा में शरीर तथा इन्द्रियों में 'ज्ञानवत्त्व' नहीं पाया जाता। पर ध्यान रहे कि [जीवित अवस्था में] यह जो ज्ञानवत्त्व [ज्ञान वाला होते] की शरीर और इन्द्रिय में प्रतीति होती है वह भी वस्तुतः उन में साक्षात् रूप से नहीं हो सकती। अपितु परम्परा से अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों से अवच्छिन्न आत्मा में प्रत्येक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि–इन्द्रियों और शरीर में ज्ञान की जो प्रतीति होगी, वह आत्मा के कारण से होगी, क्योंकि इन्द्रिय तथा शरीर जड़ हैं और [जड़ होने से] ज्ञान से भी हीन हैं। इसीलिये जिस भी किसी ज्ञान के साथ 'मैं' की प्रतीति होती है, उदाहरणार्थ प्रत्येक ज्ञान के साथ 'मैं' [जानता हूं] ऐसी जो प्रतीति होती रहती है वह आत्मा के कारण है। इसी प्रकार 'अहं' की प्रतीति अर्थात् अहंकार का आश्रय केवल आत्मा हुआ। इस के बाद यह बताया है कि—आत्मा का

प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय 'मन' से ही किया जा सकता है चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से नहीं। क्योंकि मन को छोड़ कर बाकी की प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय से होने वाले किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के प्रति 'रूप' आदि कारण होते हैं और आत्मा में रूपादि का अभाव होता है इसीलिये चक्षु आदि किसी बाह्य इन्द्रिय से उस का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता जिस के कारण वैशेषिक न्याय में आत्मा का प्रत्यक्ष 'मन' इन्द्रिय से माना गया है ॥ ५० ॥'

यहां तक छः प्रकार की इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष का निरूपण किया इसके बाद इन्द्रिय और विषय के आपस में 'सन्निकर्ष' अर्थात् 'सम्बन्ध' का क्रमशः मूल ग्रन्थ के द्वारा स्पष्टीकरण किया जाता है—

मूल=सन्निकर्षश्च, लौकिकोऽलौकिकश्च। अलौकिकस्त्रिविधः ज्ञानलक्षणा, सामान्यलक्षणा, योगजश्च। लौकिकः षड्विधः संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणता चेति। संयोगेन—द्रव्यग्रहः, संयुक्तसमवायेन—शब्दान्यगुणकर्मद्रव्यवृत्तिजातीनां प्रत्यक्षम्, संयुक्तसमवेतसमवायेन—शब्दमात्रवृत्तिजातीतरगुणवृत्तिकर्मवृत्तिजातीनांप्रत्यक्षम्, समवायेन—शब्दस्य, समवेतसमवायेन शब्दवृत्तिजातीनां, विशेषणतया अभावस्य, समवायस्य च प्रत्यक्षम्।

अनुवाद=[विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध अर्थात] सन्निकर्ष दो प्रकार का है 'लौकिक' और 'अलौकिक'। अलौकिक सन्निकर्ष तीन तरह का होता है। प्रथम 'ज्ञानलक्षणा' द्वितीय 'सामान्यलक्षणा' और तृतीय 'योगज'। और लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का है (१) संयोग (२) संयुक्तसमवाय (३) संयुक्तसमवेतसमवाय (४) समवाय (५) समवेतसमवाय और (६) विशेषणता। द्रव्य का ग्रहण संयोग नामक सम्बन्ध से होता है

शब्द को छोड़ कर बाकी के प्रत्येक गुण तथा कर्म, और द्रव्य में रहने वाली जातियों का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवायसम्बन्ध' से होता है। प्रत्येक शब्द में रहने वाली 'शब्दत्व' जाति से अन्य जो [प्रत्येक] गुण तथा कर्म में रहने वाली [गुणत्व और कर्मत्व] जातियां हैं उनका प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवायसम्बन्ध' से होता है। 'शब्द' का प्रत्यक्ष 'समवाय' सम्बन्ध से होता है, और उस शब्द में रहने वाले शब्दत्व आदि का ग्रहण 'समवेतसमवायसम्बन्ध' से होता है। अभाव का और समवाय का प्रत्यक्ष 'विशेषणता' नामक सम्बन्ध से होता है।

व्याख्या = इस से पहले लौकिक प्रत्यक्ष को स्पष्ट किया था। न्याय-वैशेषिक शास्त्र में लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अलौकिक प्रत्यक्ष भी माना जाता है। इसीलिये प्रत्यक्ष 'लौकिक और अलौकिक' के रूप से दो प्रकार का होने के कारण उसके लिये सन्निकर्ष को भी दो ही प्रकार का माना गया है, एक तो 'लौकिक' सन्निकर्ष और दूसरा 'अलौकिक' सन्निकर्ष। अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के लिये तो सन्निकर्ष लौकिक होता है परन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष के लिये 'सन्निकर्ष [इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध]' भी अलौकिक ही होता है। यह अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है (१) ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष (२) सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष और (३) योगज सन्निकर्ष। इस तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष का उदाहरण सहित वर्णन ग्रन्थ के अगले सूत्र में आयेगा पर उस से पहले भी इन के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है—

ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षः—किसी वस्तु का जैसेकि—'यह पुस्तक है' जब हम ऐसा सविकल्पक प्रत्यक्ष करते हैं तो उस के साथ कुछ और भी मालूम पड़ने लगता है, जैसे कि 'यह किताब वही है जिसे मैं ने पहले देखा या पढ़ा था'। इस प्रकार 'यह वही पदार्थ है जिसको मैं ने पहले भी देखा था' इस ज्ञान में दो अंश सम्मिलित हुए भासते हैं एक तो 'भूतकालिक' प्रत्यक्ष और दूसरा 'वर्तमानकालिक' प्रत्यक्ष। इस प्रकार के ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण **"तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा"** इसी रूप में किया गया है। जिसका अर्थ है कि–जिस प्रतीति में **"तत्ता": और "इदन्ता"**, इन दोनों अंशों का 'प्रवेश' [अवगाहन] हो उसे 'प्रत्यभिज्ञा' कहेंगे। इसी

लक्षण में आए 'तत्ता' अंश से अभिप्राय है "तत् देशकाल' अर्थात् उसदेश और उस समय का ग्रहण कि जिस में वस्तु के [अनुभूत] 'पूर्वदेश' और 'पूर्वकाल' सम्बन्धित हों। और 'इदन्ता' अंश का अभिप्राय है "एतत् देशकाल" अर्थात् [तत्ता का] वर्तमान प्रत्यक्ष। इसी प्रकार जिस ज्ञान में-पूर्वदेश पूर्वसमय की और वर्तमान देश वर्तमान समय की अर्थात् ये दोनों तरह की सम्बन्धित प्रतीति पाई जाय उसे 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। उदाहरणार्थ "यह देवदत्त वही है [सोऽयं देवदत्तः], जिस को पहले भी मथुरा में देखा था"। इसी वाक्य में आए 'सः' [तथा उपर्युक्त लक्षण में आए 'तत्ता'] शब्द से तो 'पूर्व देशकाल सम्बन्धी' अर्थात् जिस देश [मथुरा] में जिस समय देवदत्त को पहले देखा था उसके उसी पूर्वले देश और काल के सम्बन्ध का ग्रहण होता है। और 'अयं' [इदन्ता] पद से 'एतत् देशकाल सम्बन्धी' अर्थात् सामने विद्यमान देवदत्त के इसी वर्तमान देश और समय के सम्बन्ध का ग्रहण किया जाता है। जिस से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सः' शब्द देवदत्त की पहले देखी गई देशकालादि से विशिष्ट अवस्था को और 'अयं' शब्द देवदत्त की वर्तमान देशकालादि से विशिष्ट उपस्थिति को प्रकाशित करता है। यहां ध्यान देना चाहिये कि-'तत्ता' रूप पूर्व देशकाल को बताने वाला जो 'सः' अंश है उस से भूतकाल की घटना का प्रत्यक्ष हो रहा है इसी लिये ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति भी केवल वस्तु के पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्बोधन से होगी। परन्तु 'अयं' पद से ज्ञापित एतत् देशकाल रूप जो 'इदन्ता' अंश है उस से सामने की उपस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष होता है इसीलिये वस्तु के यहीं विद्यमान होने के कारण ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से होती है। इस रीति से प्रत्यभिज्ञा में दो प्रकार के [अर्थात् पहले के और अब के] प्रत्यक्ष का समन्वित प्रवेश या अवगाहन होने के कारण यह उभयात्मक ज्ञान हुआ। पर यहां यदि कोई यह प्रश्न उठावे कि प्रत्यभिज्ञा को प्रत्याक्षात्मक के बदले स्मरणात्मक क्यों न मान लें? तो उत्तर इसका यह होगा कि ऐसे ज्ञान को यदि केवल स्मरणात्मक मान लिया जाए और प्रत्यक्ष रूप इसे न माना जाए तो न्याय-वैशेषिक शास्त्र का उद्देश्य जोकि 'दृश्यमान वस्तुओं की स्थिरता को सिद्ध करना है' वह भी

पूरा न हो सकेगा। क्योंकि सामने आया 'यह वही पदार्थ है जिसे पहले देखा था' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा ही से किसी वस्तु के स्थायित्व का निश्चय होता है। और किसी वस्तु की स्थिरता के सिद्ध होने पर ही न्याय वैशेषिक सिद्धान्त का आधारभूत 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' सिद्धान्त स्थिर हो सकता है। इसीलिये इस प्रकार के ज्ञान को भी 'प्रत्यक्ष' रूप दिखाने के लिये न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में 'ज्ञानलक्षणा' अलौकिक सन्निकर्ष को लेना पड़ा। जिसका उदाहरण आगे के सूत्र में दिया जाने से स्पष्टतया वहीं समझाया जा सकेगा।

सामान्यलक्षणा सन्निकर्षः—किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के लिये यह आवश्यक है कि उसी पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष [मिलाप] हो। इसी प्रकार जब हम कहेंगे कि 'जहां जहां धुआं होता है वहां वहां अग्नि होती है' तो इसके लिये आवश्यक हो जायेगा कि हमें संसार के सारे धूम और सारी वह्नियों का प्रत्यक्ष हो। क्योंकि जब तक समस्त धूम और समस्त अग्नियों का प्रत्यक्ष न हो पाये तब तक इस प्रकार का व्याप्तिज्ञान [अर्थात् 'साधन धूम' की 'साध्य वह्नि' के साथ सर्वत्र व्याप्ति होने का अनुभव] जोकि 'अनुमान' में ज़रूरी है, नहीं बन सकेगा। पर वास्तव में ऐसा अभीष्ट होने से कि-साधारण मानव को भी सारे स्थानों तथा सारे कालों के सब धूमों और सब वह्नियों का एक साथ ज्ञान हो जाए [जिससे कि व्याप्तिज्ञान नियत हो सके] केवल इसी दृष्टि से न्याय-वैशेषिक में सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष को ग्रहण करना पड़ा। जिसका आशय है कि जब हम किसी वस्तु को जान जायें तो उस तरह की सब वस्तुओं का स्वतः ज्ञान भी हो सकता है। प्रत्येक वस्तु को अलग अलग प्रत्यक्ष करने की कठिनता नहीं उठानी पड़ती। क्योंकि उन में पाये जाने वाले सामान्य धर्म से किसी एक का ज्ञान हो जाने के साथ ही सब की सब उसी तरह की दूसरी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता इसी प्रकार का ज्ञान 'सामान्य' रूप से सिद्ध हो जाने के कारण प्रत्येक वस्तु के साथ लौकिक सन्निकर्ष के होने की इस में ज़रूरत नहीं रहती प्रत्युत सामान्य धर्म ही अलौकिक सन्निकर्ष बन जाता है और उसी सामान्य सन्निकर्ष के द्वारा उन सब की उपस्थिति हो जाती है। जैसे कि-किसी धूम का धूमत्व

विशेषण के साथ जब हमें प्रत्यक्ष हो जाए तो धूमत्व के सामान्य होने के कारण] उसी से संसार भर के धूमों का ज्ञान कर लिया जाता है। इसी प्रकार वह्नित्व सामान्य से सब वह्नियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस से यह आया कि 'सामान्यलक्षणा' द्वारा सब धूमों और सब वह्नियों का ज्ञान हो जाने पर [उपर्युक्त] व्याप्ति का ज्ञान भी बन सकता है।

जिस से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष और उसका सन्निकर्ष लौकिक नहीं। क्योंकि यदि संसार के सारे धूमों का ज्ञान हो जाना लौकिक प्रत्यक्ष होता तो उसमें कारण जोकि इन्द्रिय से पदार्थ का सन्निकर्ष होना है उसी के अनुसार अलग अलग प्रत्येक धूम के साथ चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष [मिलाप] होता। परन्तु ऐसा न होने पर भी तो संसार के सारे धूमों की उपलब्धि हो जाती है। इस से यह स्पष्ट हुआ कि वही 'धूमत्व' ही अलौकिक सन्निकर्ष का रूप धारण कर लेता है फिर उसी धूमत्व नामक सामान्य सन्निकर्ष के द्वारा समस्त धूमों का प्रत्यक्ष कर लिया जाता है। इसी प्रकार धूमत्व सामान्य से संसार भर के धूमों का ज्ञान कर लेना ही अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे कि आगे स्पष्ट हो जायेगा।

योगज सन्निकर्षः—योगी लोग 'भूत-भविष्य तथा वर्तमान' समय की प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार कर लेते हैं। इस से यही अर्थ लिया जायेगा कि उन्हें भूत, भविष्यत् तथा व्यवहित [छुपी हुई] वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाने से योगियों के प्रत्यक्ष में लौकिक इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष स्वरूपतः कारण होता ही नहीं। प्रत्युत उन लोगों के अन्दर योगाभ्यास से कोई ऐसी शक्ति आ जाती है जिस योगज सामर्थ्य के कारण उन का अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हो जाता है। इस तरह होने वाला यह सन्निकर्ष योगज कहलाता है और वह योगज सन्निकर्ष दो तरह का होता है एक तो 'युक्त' और दूसरा 'युञ्जान'।

"योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः"

अर्थ=[क्योंकि] युक्त और युञ्जान रूप से योगियों के दो भेद होते हैं इसीलिये योगज धर्म [सन्निकर्ष] भी [उस उस नाम से] दो प्रकार का है।

भाव=योग में परिपूर्ण हो चुके योगी को 'युक्त' और योगाभ्यासी [अर्थात् योग में लगे हुए] योगी को 'युञ्जान' कहते हैं। इन में से युक्त योगी वह है जिसे बिना चिन्ता [भावना या संकल्प] किये भी आकाश से लेकर परमाणु तक के सब [विप्रकृष्ट, सूक्ष्म तथा व्यवहित] पदार्थों का ज्ञान सदा रहता है, परन्तु दूसरे अर्थात् 'युञ्जान योगी' को इसी प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष चिन्ता [अर्थ के बारे में ध्यान] के करने पर ही होता है जैसे कि—.

"युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः"।

इसी प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष के लिये प्रथम 'ज्ञानलक्षणा' द्वितीय 'सामान्यलक्षणा' और तृतीय 'योगज' नामक अलौकिक सन्निकर्ष का स्वरूप साधारण रूप से समझ लेने के बाद लौकिक प्रत्यक्ष में कारण जिन छः प्रकार के लौकिक सन्निकर्षों का वर्णन मूल में आया है उसी को क्रमशः स्पष्ट किया जाता है। उन में सब से पहले लौकिक सन्निकर्ष का नाम है—

संयोग सन्निकर्षः—जिस का आशय यह है कि, जब हम इन्द्रिय से किसी घट इत्यादि 'द्रव्य' का ग्रहण करते हैं तो वे 'घट आदि तथा इन्द्रिय' द्रव्य होने के कारण उन दोनों द्रव्यों का आपस में सम्बन्ध 'संयोग' ही होता है इसी दृष्टि से यह सिद्धान्त माना गया है कि [इन्द्रियों से] साक्षात् द्रव्य का ग्रहण [प्रत्यक्ष] संयोग सम्बन्ध [संयोग नामक सन्निकर्ष] से होता है।

यहां पर इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक था कि—द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'गुण और कर्म तथा उसी द्रव्य [घट आदि] में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति [घटत्व आदि]' का भी जब इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है तो उनके साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध अर्थात् सन्निकर्ष को क्या कहा जायेगा? इसी को स्पष्ट करने के लिये दूसरा—

(२) संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष:—अर्थात् इन्द्रिय से संयुक्त जो द्रव्य होता है उसी द्रव्य में जाति तथा गुण वा कर्म समवाय सम्बन्ध से ही रहते हैं। इसी दृष्टि से इन्द्रिय से—संयुक्त द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'गुण—कर्म और जाति' का इन्द्रिय से 'संयुक्तसमवायसम्बन्ध' हुआ। इसी प्रकार

यह आया कि इन्द्रिय 'संयुक्त' द्रव्य में जाति–गुण तथा कर्म के रहने का [वृत्ति नियामक] सम्बन्ध 'समवाय' होने के कारण उन [गुण–कर्म और जाति] का प्रत्यक्ष भी 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष से होता है। इस के बाद यह प्रश्न भी सामने आया कि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण और कर्म में भी जो गुणत्व और कर्मत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती हैं [अर्थात् द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वालों में जो समवाय सम्बन्ध से रहता हो] उन का जब इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है तो उन [गुणत्व तथा कर्मत्व] के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष किस नाम से होगा ? इसी के समाधान के लिये मूल में आया—

(३) **संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष** :—जिस का अर्थ है कि, इन्द्रिय से संयुक्त घट इत्यादि द्रव्य में समवेत [अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहने वाले] जो रूप आदि गुण हैं उन में रूपत्व आदि जाति भी समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसीलिये इन्द्रिय से ['संयुक्त' में 'समवेत' में 'समवाय' सम्बन्ध के होने से अर्थात्] संयुक्त द्रव्य, उस में समवेत रूप आदि, तथा उन [रूप आदि] में रूपत्व आदि जाति के रहने का सम्बन्ध समवाय होने के कारण यह आया कि [इन्द्रिय] संयुक्त [द्रव्य में जो] समवेत [गुण वा कर्म हैं उन में] समवाय सम्बन्ध [गुणत्व और कर्मत्व का] होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और गुणत्व आदि [अर्थात् रूपत्वादि जाति] का सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' हुआ। जिस से स्पष्ट है कि–इन्द्रिय से [संयुक्त द्रव्य में समवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहने वाले 'गुण' और 'कर्म' में जो समवाय सम्बन्ध से रहे उसी] 'गुणत्व' और 'कर्मत्व' जाति का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष' से होता है। ध्यान देना चाहिये कि–मूल में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष को स्पष्ट करते हुए वहां से 'शब्द' नामक गुण को अलग कर दिया गया है इसीलिये इस प्रश्न का होना ज़रूरी था; कि 'शब्द' का प्रत्यक्ष किस सन्निकर्ष से होगा ? जिस का उत्तर यह दिया कि—

[४] **समवाय सन्निकर्ष** :—से शब्द का ग्रहण होगा। क्योंकि कर्ण शष्कुली से अवच्छिन्न [जलेबी की तरह बना कान का जो बाह्य गोलक सा दिखाई पड़ता है उसी के अन्दर आए हुए] शून्य भाग अर्थात् आकाश को

श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं। इसी दृष्टि से श्रोत्र इन्द्रिय जबकि आकाशस्वरूप ही हुई तो स्पष्ट है कि शब्द के आकाश का गुण होने और गुण-गुणी का आपस में समवाय सम्बन्ध होने से, आकाशस्वरूप श्रोत्र इन्द्रिय में शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसीलिये शब्द और श्रोत्र का सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'समवाय' होने के कारण—श्रोत्र से 'शब्द' का ग्रहण 'समवाय सन्निकर्ष' से ही होता है।

इसके बाद संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष को बताते समय शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली 'शब्दत्व' जाति को निकाल डाला जिस से यह प्रश्न सामने आया कि 'शब्दत्व' का इन्द्रिय से सम्बन्ध क्या है ? इसी के लिये—

(५) **समवेतसमवाय सन्निकर्ष** :—अर्थात् श्रोत्र [इन्द्रिय] में 'समवेत' [समवाय सम्बन्ध से रहने वाले] शब्द, तथा उस [शब्द] में 'शब्दत्व' जाति का 'समवाय' होने की दृष्टि से—'शब्दत्व' [जाति] का श्रोत्र इन्द्रिय के साथ 'समवेत समवाय' सम्बन्ध [सन्निकर्ष] बनता है। इसीलिये श्रोत्र इन्द्रिय से 'शब्दत्व' जाति का प्रत्यक्ष 'समवेतसमवाय सन्निकर्ष से होता है।

इसके बाद मूल में **'अभाव और समवाय'** के प्रत्यक्ष का वर्णन हुआ है जिस से—'अभाव' और 'समवाय' के इन्द्रिय से सम्बन्ध या सन्निकर्ष का प्रश्न सामने आने पर ? उस सम्बन्ध का स्वरूप निर्णय किया—

(६) **विशेषणता सन्निकर्ष** :—क्योंकि अभाव तथा समवाय जहां भी रहते हैं तो वहां संयोग तथा समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते प्रत्युत वे [दोनों] अपने आश्रय में स्वरूप सम्बन्ध से ही रहते हैं। स्वरूप सम्बन्ध से रहने का अर्थ यह लिया जायेगा कि 'अभाव' अथवा 'समवाय' जिस स्थान में पाये जाते हैं उसी अधिकरण के 'विशेषण होते हैं। उदाहरणार्थ—भूतल में घटाभाव स्वरूप सम्बन्ध से रहता है तो 'घटाभाव' भूतल का 'विशेषण' ही होता है। क्योंकि यदि घटाभाव को उसी भूतल का विशेषण न मानें तो 'घटाभाव वाला यह भूतल' इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये, परन्तु होती है। इसीलिये मानना पड़ेगा कि 'घटाभाव' वाला भूतल' या 'भूतल में 'घटाभाव' की प्रतीति तभी होती है जब कि 'घटाभाव' भूतल का 'विशेषण' होता है। इसी प्रकार स्वरूप सम्बन्ध से रहने की दृष्टि से 'घटाभाव' भूतल का 'विशेषण' होने के

कारण यह आया कि—भूतल में घटाभाव का जब इन्द्रिय से ग्रहण होता है तो ['अभाव' के वहां विशेषण होने से उसी] भूतल में पाये जाने वाले 'घटाभाव' का भूतल से 'विशेषणता' नामक सम्बन्ध होता है।

इसी आधार पर यूं कहना चाहिये कि—भूतल में रहने वाले 'घटाभाव' का भूतल से 'संयुक्तविशेषणता' सम्बन्ध होगा। क्योंकि भूतल इन्द्रिय 'संयुक्त' है और 'अभाव' उसी भूतल का 'विशेषण' है। इसी प्रकार भूतल [जिस में अभाव रहता है उसी] का इन्द्रिय के साथ 'संयुक्तविशेषणता' सम्बन्ध बनने के कारण स्पष्ट है कि इन्द्रिय से [संयुक्त भूतल में घट इत्यादि के] अभाव का प्रत्यक्ष 'संयुक्तविशेषणता' सम्बन्ध या सन्निकर्ष से होता है।

अभाव के प्रत्यक्ष में बताए इस 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' नामक सन्निकर्ष की दृष्टि से यह आयेगा कि अभाव के रहने का स्थान अर्थात् अधिकरण [संयोग—संयुक्तसमवाय—संयुक्तसमवेतसमवाय—समवाय—समवेतसमवाय अथवा विशेषणता नामक इन] पूर्वोक्त छः प्रकार के सम्बन्धो में से ही किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। जैसे कि 'घट वाला भूतल' इस प्रतीति में भूतल विशेष्य [अर्थात् अधिकरण] है और घट उसी भूतल का विशेषण है। भूतल में घट के रहने का [वृत्तिनियामक] सम्बन्ध संयोग है। इसी प्रकार इन्द्रिय सम्बद्ध भूतल में घट की विशेषणता संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई अर्थात् इन्द्रियसम्बद्ध भूतल में 'घट' संयोग सम्बन्ध से विशेषण होने की दृष्टि से इन्द्रिय सम्बद्ध उसी भूतल में 'घटाभाव' भी संयोग सम्बन्ध से विशेषण होगा। क्योंकि जिस सम्बन्ध से घट इत्यादि भाव पदार्थ भूतल आदि में विशेषण होते हैं उन घट आदि का अभाव भी उसी सम्बन्ध से भूतल आदि अधिकरण में विशेषण होता है और उसी अधिकरण की विशेषणता ही अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष का स्वरूप है।

न्याय—वैशेषिक में 'संयोग' और 'समवाय' ये दो ही तरह के वृत्ति नियामक सम्बन्ध माने जाते हैं। इन में से दो द्रव्यों में होने वाला सम्बन्ध संयोग कहा जाता है। और वह संयोग एक ऐसा सामान्य गुण है जो प्रत्येक द्रव्य में पाया जाता है। इसी प्रकार दोनों संयुक्त द्रव्यों में 'संयोग' [एक सामान्य] गुण

होने की दृष्टि से 'समवाय' सम्बन्ध से रहेगा। रहा यहां समवाय-के रहने के सम्बन्ध का प्रश्न ? उसी के लिये यह स्पष्ट है कि-समवाय के रहने का सम्बन्ध कोई और समवाय मान लेने पर अनवस्था हो जाने के कारण, यही माना जायेगा कि-समवाय अपने आश्रय में स्वरूप से ही रहता है। स्वरूप से रहने का अर्थ [जैसे कि बताया जा चुका है अर्थात्] यही आ जायेगा कि-समवाय भी जिस अधिकरण में रहता है उसी का विशेषण होता है। इसी लिये विशेषण होने की दृष्टि से [अभाव के प्रत्यक्ष की तरह] समवाय का भी प्रत्यक्ष 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासन्निकर्ष' से होता है, ऐसा माना गया है।

अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष के लिये-इन्द्रियसम्बद्ध ['इन्द्रियसंयुक्त' 'इन्द्रियसंयुक्तसमवेत' आदि] विशेषणता को कारण [सन्निकर्ष] बताया। इस दृष्टि से यद्यपि विशेषणता बहुत तरह की कही जा सकती है जैसेकि-

"भूतलादौ घटाद्यभावः स्वसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते"

भूतल इत्यादि में घट आदि का अभाव-स्व [इन्द्रिय] 'संयुक्तविशेषणता' नामक सन्निकर्ष से ग्रहण [प्रत्यक्ष] किया जाता है [क्योंकि] 'स्व' अर्थात् नेत्रादि इन्द्रिय, उससे 'संयुक्त' है भूतल और उस भूतल का अभाव 'विशेषण' होने से 'घटाभाव वाला भूतल' या 'भूतल में घटाभाव' यह प्रतीति होती है।

"संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया गृह्यते"

संख्या आदि में रूप आदि का अभाव 'संयुक्तसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है, [क्योंकि] इन्द्रिय से संयुक्त घट आदि द्रव्य में समवेत जो संख्या है उसी [संख्या] का अभाव विशेषण होने से।

"संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया गृह्यते"

संख्यात्व आदि में रूप आदि के अभाव का 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता' रूप सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है [क्योंकि] इन्द्रिय 'संयुक्त' घट पट आदि में समवेत है संख्या, उसी [संख्या] में समवेत जो संख्यात्व, उस [संख्यात्व] में रूप आदि का अभाव 'विशेषण' होता है।

"शब्दाभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया गृह्यते"

शब्द का अभाव तो केवल 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणता' सन्निकर्ष से ग्रहण होता है

[क्योंकि] शब्दाभाव के श्रोत्र का विशेषण होने का अर्थ है कि शब्दाभाव में श्रोत्रावच्छिन्न विशेषणता है।

"कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया गृह्यते"

'क' इत्यादि वर्णों में 'खत्व' आदि [धर्मों] का अभाव 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणता' रूप सन्निकर्ष से ग्रहण होता है [क्योंकि] श्रोत्रावच्छिन्न आकाश में समवेत [अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहने वाले] 'क' वर्ण में [खत्व का न पाया जाना—अर्थात्] 'खत्वाभाव' विशेषण है।

"एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणतया गृह्यते" इसी प्रकार 'कत्व' ['क' वर्ण में रहने वाली जाति] से अवच्छिन्न अभाव अर्थात् 'कत्वाभाव' में 'गत्वाभाव' आदिक 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता" नामक सन्निकर्ष से ग्रहण होता है [क्योंकि] श्रोत्रावच्छिन्न जो आकाश है उसका विशेषण कत्वाभाव है और इसी कत्वाभाव का विशेषण गत्वाभाव होने की दृष्टि से यहां 'श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणता' सम्बन्ध बना

"एवं घटाभावादौ पटाभावः चक्षुः संयुक्तविशेषणविशेषणतया, एवमन्यदप्यूह्यम्" इसी तरह घटाभाव में पटाभाव के 'चक्षुः संयुक्तविशेषणविशेषणतासम्बन्ध' से रहने के कारण अर्थात् चक्षुः संयुक्त भूतल आदि द्रव्य का तो विशेषण है घटाभाव और उसी घटाभाव का विशेषण है पटाभाव, इस दृष्टि से यहां 'चक्षुः संयुक्तविशेषण विशेषणता' रूप सन्निकर्ष बना। ऐसे ही और [सम्बन्धों (सन्निकर्षों) के स्वरूप की स्थलानुसार] कल्पना कर लेनी चाहिये।

"तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते, अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादोव्याहन्येतेति।"

[इसी रीति से यद्यपि विशेषणता सन्निकर्ष बहुत तरह का है] परन्तु [तथापि] विशेषणतात्व रूप से इसी विशेषणता सन्निकर्ष को एक ही तरह का गिना जाता है, नहीं तो [अर्थात् विशेषणता सन्निकर्ष को यदि एक ही तरह का न माना जाये तो] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है यह सिद्धान्त [अर्थात् प्राचीन ऋषियों का कथन] ठीक न रहेगा।

यहां तक अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति जिन "ज्ञानलक्षणा, सामान्यलक्षणा

और योगज'' धर्म को हेतु [सन्निकर्ष का स्वरूप] बताया है उनकी दृष्टि से—अलौकिक प्रत्यक्ष बिना इन्द्रियसंयोग आदि सन्निकर्षों के भी होता है। परन्तु लौकिक प्रत्यक्ष [जैसे कि स्पष्ट हो चुका है] इन्द्रियसंयोग आदि सन्निकर्षों की अपेक्षा रखता है। द्रव्य के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयोग कारण माना गया है। उसी द्रव्य के लिये यहां यह जान लेना भी आवश्यक है कि—बाह्य द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल दो इन्द्रियों से, अर्थात् नेत्र और त्वक् ही से, और आत्मा का प्रत्यक्ष केवल मन से होता है। बाकी बच रही तीनों इन्द्रियों से, अर्थात् 'घ्राण—रसना और श्रोत्र' से द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता। जैसे कि 'फूल' एक 'द्रव्य' है और उसका ग्रहण [प्रत्यक्ष] केवल 'चक्षु' और 'त्वक्' [इनदो इन्द्रियों] से ही किया जाता है [घ्राण आदि से नहीं]। क्योंकि घ्राण इन्द्रिय गन्ध की ग्राहक होने के कारण, उसी घ्राण से तो फूल के सिर्फ़ गन्ध [गुण] ही का ग्रहण होता है, न कि फूल [द्रव्य] का। इस से यह आया कि घ्राण से होने वाले प्रत्यक्ष के लिये संयोगसन्निकर्ष की कोई आवश्यकता भी नहीं पड़ती, क्योंकि संयोग द्रव्य से ही हो सकता है। ''गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः, गन्धसमवेतस्य घ्राणजप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्''। घ्राण से होने वाले 'गन्ध' के प्रत्यक्ष के प्रति 'घ्राणसंयुक्तसमवाय' सम्बन्ध या सन्निकर्ष को कारण माना गया है, [अर्थात्] 'घ्राण' से 'संयुक्त' उसी पुष्प आदि, में गन्ध का 'समवाय' होने से [घ्राण से] गन्ध का प्रत्यक्ष भी घ्राण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। इसी रीति से गन्ध में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली [अर्थात् 'गन्ध समवेत'] गन्धत्व आदि जाति का प्रत्यक्ष घ्राणसयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' से होता है [क्योंकि] 'घ्राण' से 'संयुक्त' जो पुष्प आदि, उस [पुष्प] में 'समवेत' जो गन्ध है, उस गन्ध में गन्धत्व का 'समवाय' होता है।''

इसी प्रकार रसनेन्द्रिय खट्टेमीठे आदि रसों की ग्राहक होने की दृष्टि से—रसना से किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, अपितु केवल अपने विषय 'रस' [गुण] का प्रत्यक्ष होता है इसीलिये [रसनेन्द्रिय के द्वारा होने वाले] 'रस' के प्रत्यक्ष के लिये भी 'संयोग' सन्निकर्ष के मानने की ज़रूरत नहीं पड़ती प्रत्युत

"रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः, रससमवेतस्य रासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्"।

'रस' के प्रत्यक्ष के प्रति 'रसनासंयुक्तसमवाय' सम्बन्ध को कारण माना गया है, [क्योंकि] 'रसना' से 'संयुक्त' जो जल आदि [द्रव्य], और उस जल आदि में रस के रहने का सम्बन्ध 'समवाय' होने से [रसनेन्द्रिय से] 'रस' का प्रत्यक्ष भी 'रसनासंयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष से होता है। इसी प्रकार रस में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली [रस समवेत] 'रसत्व' आदि जाति के रासन प्रत्यक्ष में 'रसनासंयुक्तसमवेतसमवाय' कारण [सन्निकर्ष का स्वरूप] है [क्योंकि] 'रसनासंयुक्त' तो जल आदि, उस जल आदि में 'समवेत' जो रस, उसी रस में रसत्व जाति का 'समवाय' है।

"शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।" शब्द के प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रावच्छिन्न समवाय' [श्रोत्र देश के आकाश अर्थात् 'श्रोत्राकाश' में शब्द का समवाय] कारण [सन्निकर्ष का स्वरूप] है। शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली [शब्द समवेत] शब्दत्व आदि जाति के श्रावण प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवाय' कारण है [अर्थात्] 'श्रोत्रावच्छिन्न' जो आकशदेश, उस आकाशदेश में 'समवेत' शब्द, उस शब्द में शब्दत्व जाति का 'समवाय' है।

"आत्ममनः प्रत्यक्षे मनः संयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनः संयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनः संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।"

[आत्म और मन दोनों द्रव्य हैं इसीलिये उन का आपस में सम्बन्ध 'संयोग' होने की दृष्टि से] आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में 'मनः संयोग' ही कारण [सन्निकर्ष का स्वरूप] है। और आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले [अर्थात् आत्मसमवेत जो ज्ञान सुख आदि गुण हैं उन] के मानस प्रत्यक्ष के प्रति 'मनः संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष [कारण] है [क्योंकि] 'मनः संयुक्त' जो आत्मा, उस आत्मा में ज्ञान सुख आदि का समवाय होने से [मन इन्द्रिय से] आत्मा में रहने वाले [आत्मसमवेत] ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष भी

'मनःसंयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष से होता है। इसी प्रकार आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले [ज्ञान सुख आदि] में समवेत [जो ज्ञानत्व सुखत्व आदि जाति उन्हीं] के मानस प्रत्यक्ष में 'मनः संयुक्तसमवेतसमवाय' [सन्निकर्ष] कारण है [क्योंकि] 'मनः संयुक्त' आत्म में 'समवेत' [समवाय सम्बन्ध से रहने वाले] जो ज्ञान तथा सुख आदि हैं, उन ज्ञान सुख आदि में 'ज्ञानत्व-सुखत्व' आदि जाति के रहने का सम्बन्ध भी 'समवाय' है।

मूल = अलौकिकः स यथा—ज्ञानलक्षणया 'सुरभि चन्दनम्' इति चाक्षुषं ज्ञानम्। सामान्यलक्षणया 'घटत्वेन रूपेण यावद्घटज्ञानम्'। योगजधर्मेण 'योगिनां सर्वज्ञानम्'।

अनुवाद = अलौकिक प्रत्यक्ष वह जैसे—ज्ञानलक्षणा [नामक अलौकिक सन्निकर्ष] के कारण [केवल नेत्र से देखने पर] 'चन्दन सुगन्धयुक्त है' इसी प्रकार का चाक्षुष ज्ञान। सामान्यलक्षणा का उदाहरण यह है कि [किसी भी घट का घटत्व विशेषण पूर्वक ज्ञान होने के नियम अनुसार घटत्व के सामान्य होने से उसी] 'घटत्व' रूप से मात्र घट व्यक्तियों का ज्ञान। योगज धर्म से [केवल] योगी लोगों को होने वाला विश्व के सारे पदार्थों का ज्ञान।

व्याख्या = चन्दन के टुकड़े को सूंघ कर जब यह निश्चय कर लिया गया कि 'चन्दन ऐसे सुगन्ध से युक्त है'। उसके बाद फिर कभी किसी के हाथ में दूर से चन्दन के टुकड़े को देखते हैं जहां तक कि हमारी घ्राण शक्ति काम नहीं कर सकती वहां पर हमें चन्दन के सुगन्धित होने का चाक्षुष प्रत्यक्ष ही होता है। यह चाक्षुष प्रत्यक्ष इस दृष्टि से कहा गया है कि—उस दशा में नाक का सम्बन्ध या सन्निकर्ष चन्दन से नहीं होता क्योंकि वह दूर है, केवल आंख से चन्दन को देख रहे हैं फिर भी 'यह चन्दन सुगन्धित है' ऐसा ज्ञान हम प्राप्त कर लेते हैं। इस से यह आया कि जब हम आंख से किसी चन्दन के टुकड़े को देखते हैं तो वहाँ पर न सिर्फ़ 'चन्दन' अंश का ही प्रत्यक्ष होता है अपितु 'सुगन्ध' अंश का भी प्रत्यक्ष होता है। यहां पर सुगन्धित होने के ज्ञान को वैशेषिक न्याय के अनुसार स्मरणात्मक के अन्तर्गत न लेकर प्रत्यक्षात्मक

माना गया है, पर [इतना ध्यान रहे कि] 'सुगन्ध' के साथ चक्षुः का कोई भी संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष नहीं बन सकता इसीलिये सुगन्ध के ज्ञान के प्रति 'ज्ञानलक्षणा' रूप अलौकिक सन्निकर्ष का ग्रहण करना पड़ा। इस से यह आया कि—सुगन्ध के साथ चक्षु इन्द्रिय का जबकि लौकिक सन्निकर्ष [संयोग आदि साक्षात् सम्बन्ध] सम्भव न हो तो उस दशा में परम्परा सम्बन्ध बन जाता है। जैसे कि 'नेत्रसंयुक्तमनः संयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूप' अथवा 'चक्षुः संयुक्तात्मसमवेतसंस्काररूप' इसी प्रकार के परम्परा सम्बन्ध को 'ज्ञानलक्षणा' नामक अलौकिक सन्निकर्ष कह सकते हैं [क्योंकि] नेत्र से संयुक्त जो मन, उस मन से संयुक्त जो आत्मा, उस आत्मा में समवेत सुगन्ध गुण के ज्ञान से 'अथवा' उसी सुगन्धज्ञान से उत्पन्न संस्कार के उद्बुद्ध हुए चक्षु इन्द्रिय द्वारा उसी सुगन्ध का अलौकिक रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये सुगन्ध के चक्षु का विषय न होने पर भी ज्ञान के पौर्वापर्य से चन्दन के सुगन्धित होने के इस ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं। इसी आधार पर 'यह देवदत्त वही है जिसे मथुरा में देखा था' [यहां 'मथुरा में देखना' पूर्वसमय की घटना होने पर भी] इस प्रकार के ज्ञान का 'प्रत्यक्षात्मक' होना 'ज्ञानलक्षणा' नामक अलौकिक सन्निकर्ष से बन जाता है।

(२) जब हम किसी एक घट का 'घटत्व' विशेषण पूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो घटत्व के सामान्य होने के कारण 'घटत्व' रूप से यावत् घट व्यक्तियों [संसार के जितने भी घट हैं उन सब] का प्रत्यक्ष हो जाता है। ध्यान रहे कि इस प्रकार का ज्ञान [जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहा गया है] केवल सामान्य के आधार पर होता है। अर्थात् एक सी [सजातीय] प्रत्येक वस्तु के साथ लौकिक सन्निकर्ष के सम्भव न हो सकने पर [उन में पाया जाने वाला] 'सामान्य' धर्म ही सन्निकर्ष बन जाता है जिस से एक जैसी उन सब वस्तुओं की उपस्थिति हो जाती है। इसीलिये यह आया कि—संसार के सारे घटों का प्रत्यक्ष होते समय 'घटत्व सामान्य' ही सन्निकर्ष होता है। और उसी घटत्व सामान्य से सारे घटों की उपस्थिति हो जाने को [एक तरह का] अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में सामान्य शब्द का प्रयोग प्रायः नित्यजातिरूप सामान्य के लिये किया गया है। इसी दृष्टि से यहां पर भी यदि सामान्य का अर्थ केवल नित्यजातिरूप सामान्य समझ लिया जाए तो स्पष्ट है कि— संयोग सम्बन्ध से घटयुक्तभूतल आदि का ज्ञान हाने पर [''सर्वाणि भूतलादीनि संयोगेन घटवंति''] संयोग सम्बन्ध से घट वाले सारे भूतल आदि प्रदेशों का, सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं बन सकेगा, परन्तु हो जाता है। इसीलिये प्रकरण में आए 'सामान्य' शब्द को 'साधारणधर्म' का सूचक अर्थात् 'व्यापक' रूप में समझना चाहिये, न कि केवल 'नित्यजातिरूप' में। जैसे कि-'न्यायसिद्धान्त मुक्तावली' में इसी बात को निम्न प्रकार से विशद कर दिया गया है—

सि० मु० = ''परन्तु समानानां भावः सामान्यम्। तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं घटादि। यत्रैको घटः संयोगेन भूतले, समवायेन कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति। तत्रेदं बोध्यम्। परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः।''

अर्थ = किन्तु [सामान्यलक्षणा, इसी स्थल में] एक जैसी वस्तुओं के भाव को [अर्थात् साधारणधर्म को] सामान्य कहा जाता है। अतः [सामान्यलक्षणा के स्थल में आये] सामान्य शब्द से कहीं तो [न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से] नित्य जाति अर्थात् 'धूमत्व' आदि [सामान्य] लिये जाते हैं, और कहीं [यह ध्यान रहे कि] अनित्य पदार्थ अर्थात् 'घट' आदि भी 'सामान्य' रूप बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस भी किसी जगह [जैसे कि] एक घट को संयोग सम्बन्ध से भूतल में और समवाय से कपाल में जबकि जान लिया गया तो फिर सब के सब उसी तरह के उन घटयुक्त भूतल आदिकों का अथवा सारे घटयुक्त कपालों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इस से यह आया कि— सामान्यलक्षणा के प्रकरण में यही उपर्युक्त बात [कि घटादि अनित्य वस्तु भी सामान्य प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष हो सकती है ऐसा] जानना उचित है। परन्तु [साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि] सामान्य जिस सम्बन्ध से

[किसी अधिकरण में] जाना जाता है केवल उसी सम्बन्ध से [उस जैसे दूसरे सारे] अधिकरणों की प्रत्यासत्ति [अर्थात् सन्निकर्ष] होता है ।

भाव =इस प्रकार यहां पर स्पष्ट हो चुका है कि, अनित्य पदार्थ 'घट' आदि भी कहीं सामान्य का रूप धारण कर लेता है जैसे कि सारे घट वाले अधिकरणों [भूतलों] का घट साधारणधर्म [सामान्यरूप] है । इस के बाद यह बताया है कि–"संयोग सम्बन्ध से घट वाले किसी भी भूतल का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसी संयोग सम्बन्ध से ही घट वाले भूतलमात्र [समस्त भूतल] का सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होगा" और इसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से घट वाले कपाल का ज्ञान हो चुकने पर समवाय सम्बन्ध से घट वाले प्रत्येक कपाल का प्रत्यक्ष होगा ।

प्रकरण में नित्यजातिरूप 'धूमत्व' आदि तथा कहीं अनित्यवस्तु 'घट' आदि के भी साधारण [सामान्य] धर्म हो जाने से [पर इसी में जो त्रुटि रह गई है पहले वह दिखा कर फिर उसी का निवारण करते हैं]—

सि० मु०="किन्तु यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात् सामान्यस्य तदानीमभावात् ।"

अर्थ ="परन्तु उस घट के नष्ट हो जाने के बाद में जब भी कभी उसी घट के अधिकरण [भूतल या कपाल आदि] की याद आई तो उस समय 'सामान्यलक्षणा' सन्निकर्ष से घट वाले उन सारे अधिकरणों का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि [घट जोकि सामान्य अर्थात् सन्निकर्ष रूप था उसी] सामान्य का [विनाश हो जाने के कारण] उस समय अभाव ही है ।"

भाव="इसी का अभिप्राय यह है कि सन्निकर्ष का स्वरूप यदि 'सामान्य' को मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह लेना पड़ेगा कि जिस जगह 'घट' सामान्य रूप है उसके उत्पत्ति विनाश शील [अनित्य] होने की दृष्टि से जबकि वह नष्ट हो गया तो फिर 'घट' के स्मरण से सभी घट वालों का अलौकिक प्रत्यक्ष भी नहीं हो पायेगा क्योंकि [स्पष्ट है कि] घटरूप सामान्य अर्थात् सन्निकर्ष [जिस के होने पर ही प्रत्यक्ष होता है वह] तो उसी समय वहां पर है ही नहीं।"

सि० मु० = "तस्मात् सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह ।" आसत्तिरित्यादि–

अर्थ = "इसीलिये [उपर्युक्त त्रुटि को दूर करने के लिये] कहते हैं कि– 'सामान्यविषयक ज्ञान' [अर्थात् सामान्य का ज्ञान] ही प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष है, न कि सामान्य ।"

इसी बात को नीचे दी गई 'आसत्ति' इत्यादि कारिका से भी स्पष्ट करते हैं—

"आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।"

अर्थ = [सामान्य का जो हृदय में ज्ञान है केवल उसी] "सामान्य ज्ञान' को ही 'आश्रयों' [सामान्य रूप = साधारण धर्म से युक्त उन सारे स्थलों या अधिकरणों की] आसत्ति [प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष] कहते हैं ।"

सि० मु० = "आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । तथा च सामान्यलक्षण इत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः । तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते ।"

अर्थ = "'आसत्ति' इस शब्द का अर्थ है 'प्रत्यासत्ति' । और ऐसे ही 'सामान्यलक्षण' शब्द में 'लक्षण' शब्द का अर्थ है 'विषय' । जिस से कि [सामान्य को नहीं अपितु] 'सामान्य विषयक ज्ञान' अर्थात् 'सामान्य के 'ज्ञान' ही को प्रत्यासत्ति [सन्निकर्ष] कहते हैं' यही अर्थ प्राप्त होता है ।"

भाव = इसी प्रकार यहां निष्कर्ष यह निकला कि—अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रकरण में घटरूप 'सामान्य' को सन्निकर्ष का रूप न देते हुए उसी "सामान्य' अर्थात् 'घट के–'ज्ञान'' ही को सन्निकर्ष मान लेने पर सब काम ठीक हो जाता है क्योंकि घट [सामान्य] का नाश हो जाने पर भी 'घटज्ञान तो हृदय में विद्यमान है ही । इसीलिये जबकि सिद्धान्त यह ठहरा कि ['ज्ञायमानसामान्यं न प्रत्यासत्तिः'] सन्निकर्ष का स्वरूप 'ज्ञायमान सामान्य' अर्थात् 'जाना जाता हुआ सामान्यधर्म' नहीं अपितु "सामान्य [साधारण] धर्म का केवल 'ज्ञान'' ही सन्निकर्ष का स्वरूप है तो फिर स्पष्ट हो गया कि अलौकिक प्रत्यक्ष में 'सामान्य स्वरूपतः कारण या सन्निकर्ष होता ही नहीं प्रत्युत 'सामान्य का 'ज्ञान'

ही वस्तुत: सन्निकर्ष होता है।" [क्योंकि] आगे अनुमान प्रकरण में भी लिङ्ग के बारे में ऐसा ही सिद्धान्त माना गया है कि—

'ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि।
अनागतादिलिङ्गे न स्यादनुमितिस्तदा ॥" [न्याय मु० का ६७]।

अर्थ—[यह एक सचाई है कि] 'जाना जाता हुआ लिङ्ग [स्वरूपतः अनुमिति के बारे में] करण हो ही नहीं सकता। क्योंकि [लिङ्ग को यदि करण मान लें तो उसी] लिङ्ग के अविद्यमान होने पर अनुमिति भी नहीं होनी चाहिये ['परन्तु हो जाती है' इसी लिये अनुमिति स्थल में करण 'लिङ्ग' नहीं है] ६७॥

सि० मु०=''लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह। अनागतादीति। यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात् तदाऽनागतेन, विनष्टेन वा लिङ्गेनानुमितिर्न स्यात्, अनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात् इति ॥६७॥

अर्थ=''लिङ्ग के अनुमिति के प्रति करण न होने में दी गई युक्ति को कहा जाता है। 'अनागत' [अर्थात् विद्यमान न होना] इत्यादि अंश से-'यदि अनुमिति के लिये लिङ्ग ही को असाधारण कारण [करण] मान लिया जाए तो उस के विद्यमान न होने की दशा में, या फिर विनष्ट हो जाने पर लिङ्ग के द्वारा अनुमिति हो नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अनुमिति के असाधारण कारण 'लिङ्ग' का उसी समय अभाव होता है ॥६७॥"

"अनुमिति ज्ञान में धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान किया जाने से प्रायः धूम को अग्नि का लिङ्ग [हेतु] स्वीकार कर लिया जाता है। इस दृष्टि से अग्निज्ञान का कारण धूम हुआ। पर प्रश्न यह है धूम के उत्पत्ति विनाशशील अर्थात् अनित्य होने से वही हेतु अर्थात् धूम यदि नष्ट हो जाय या विद्यमान न हो तो उसी धूम के ध्यान से जैसे कि—'जहां धूम होता है, वहीं अग्नि होती है' अथवा 'जहां कहीं धूम था, वहीं अग्नि अवश्य थी' या फिर 'जहां कहीं धूम यदि होगा तो, वहां अग्नि भी होगी' इस प्रकार से जो 'वर्त्तमान—भूत—भविष्य' काल की सब अग्नियों की अनुमिति हो जाती है यह नहीं हो सकेगी, क्योंकि

'अग्नि का ज्ञान' कराने में कारण जो धूम था वही धूम नष्ट हो चुका है या विद्यमान नहीं है। परन्तु धूम के ध्यान [न कि धूम] के द्वारा सब कालों की सारी अग्नियों की अनुमिति अभिप्रेत होने से यदि धूम अर्थात् 'लिङ्ग' को अनुमिति ज्ञान में करण का रूप देते तो स्पष्ट है कि इससे अन्याय होता। इस अन्याय दोष से बचने का केवल यही एक मार्ग है कि स्वरूपतः 'लिङ्ग' को अनुमिति ज्ञान में करण स्वीकार ही न किया जाय। जैसे कि पीछे दी गई कारिका में परिष्कृत अर्थ यही उपलब्ध होता है कि—कोई भी 'लिङ्ग' जबकि वह जाना जाता है अर्थात् ज्ञायमान होता है, तो वह वस्तुतः 'करण' नहीं होता, क्योंकि लिङ्ग की अविद्यमानता में भी अनुमिति के सिद्ध हो जाने से अनुमिति का होना लिङ्ग पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार लिङ्ग का निराकरण करके अनुमिति स्थल में "लिङ्ग के 'ज्ञान" ही को असाधारण कारण मानते हैं। क्योंकि वह धूम जिस को लिङ्ग बनाया गया था उस के नष्ट हो जाने या विद्यमान न होने पर भी उसी धूम का ज्ञान अर्थात् लिङ्गज्ञान तो अन्तः करण में रहता ही है जिस से सर्वत्र अनुमिति हो सकती है। इसलिये सारांश यही निकला कि अनुमिति के लिये लिङ्ग की आवश्यकता के न रहने से जिस प्रकार सामान्य को स्वरूपतः अलौकिक प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष न मान कर केवल उस "सामान्यविषयक 'ज्ञान" अर्थात् "सामान्य के 'ज्ञान" को सन्निकर्ष ठहराया गया है ठीक उसी प्रकार यहां भी लिङ्ग को करण न मानते हुए उसी "लिङ्ग के 'ज्ञान" ही को अनुमिति में 'करण' समझना चाहिये ॥६७॥"

तीन तरह के अलौकिक सन्निकर्ष से होने वाले तीन ही तरह के अलौकिक प्रत्यक्ष में से—योगज प्रत्यक्ष जिस के प्रति सन्निकर्ष भी योगज ही माना गया है वह केवल योगी लोगों को हो सकता है, साधारण मानव को नहीं। क्योंकि संसार की प्रत्येक सूक्ष्मतर से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु का "युक्त" योगी को सर्वदा भान रहने से अथवा "युञ्जान" योगी को चिन्ताविशेष अर्थात् ध्यानविशेष के करने से सब समय की किसी भी वस्तु का साक्षात्कार हो जाने की दृष्टि से ऐसा माना जाता है कि योग के द्वारा आई सामर्थ्य से जो अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है वह केवल योगियों को होता है।

बाकी के 'ज्ञानलक्षणा' अथवा 'सामान्यलक्षणा' से होने वाले दोनों तरह के अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण मानव को भी होते हैं।

मूल = तत्र निर्विकल्पकं, विशेष्यप्रकारादिसहितं वस्तुस्वरूपमात्रज्ञानम्। सविकल्पकं, सप्रकारकम्। भासमानवैशिष्टचप्रतियोगित्वं, प्रकारत्वम्। यथा–'अयं घटः' इत्यत्र अयं विशेष्यः, घटत्वं प्रकारः, भासमानवैशिष्टचं तयोः समवायः, तस्य प्रतियोगि घटत्वम्। सविकल्पकमेव, विशिष्टवैशिष्टचज्ञानम्। यथा–'अयं दण्डी' इत्यत्र दण्डत्वविशिष्टस्य वैशिष्टचं पुरुषे भासते।

अथ प्रक्रिया–आदौ इन्द्रियसन्निकर्षात् 'घटघटत्वे' इति निर्विकल्पकम्, ततः 'अयं घटः' इति विशिष्टज्ञानम्।

अनुवाद = विशेष्य और प्रकार आदि को साथ साथ [परन्तु असम्मिलित दशा में] देख कर वहां जो प्रत्येक वस्तु के केवल स्वरूप का ज्ञान ['यह कुछ है' —'यह कुछ है' इसी तरह का सामान्यतः उस उस वस्तु का जो पृथक् पृथक् भान] होता है उसी स्वरूपाभास को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। और किसी पदार्थ के 'प्रकार वाला' [विशेषण से युक्त] होने का ज्ञान [विशिष्टज्ञान] 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' कहलाता है। प्रतीत होते हुए वैशिष्टय अर्थात् सम्बन्ध की प्रतियोगिता को प्रकारता अथवा विशेषणता कहते हैं। जैसे कि–'अयं घटः' इसी स्थल पर 'अयं' तो विशेष्य है। 'घटत्व' एक 'प्रकार' अर्थात् 'विशेषण' है, यहां प्रतीत होता हुआ 'वैशिष्टय = इदमर्थ घट और घटत्व का समवाय सम्बन्ध है और उस [समवाय सम्बन्ध] का प्रतियोगी 'घटत्व' है [क्योंकि 'विशेषण' और सम्बन्ध स्वरूपता ये दो अलग अलग वस्तुएँ हैं]। इसी प्रकार 'विशेषण से युक्त' वस्तु का [विशिष्ट का अर्थात् घट का] जो 'वैशिष्टय [घटत्व सहित होने का] ज्ञान, अर्थात् 'सम्मिलित ज्ञान' होता है उसे 'सविकल्पक' कहा गया है। जैसे कि

'यह दण्डी पुरुष' यहां पर 'दण्डत्व से युक्त' दण्ड का [विशिष्ट का] वैशिष्ट्य पुरुष में भासता है।

इन को जानने का प्रकार यह है कि इन्द्रिय के सन्निकर्ष से 'घट' और 'घटत्व' के सर्वप्रथम का ['यह कुछ है' और 'यह कुछ है'] ऐसा तो 'ज्ञान निर्विकल्पक होता है उस के बाद में 'यह घट है' ऐसा एक 'विशिष्टज्ञान' अर्थात् 'सविकल्पक ज्ञान' [उत्पन्न] होता है।

व्याख्या=पहले यह बताया जा चुका है कि प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो सामने पड़ी वस्तु का कि यह अमुक अर्थात् 'यह घट है' इसी तरह का सविकल्पक ज्ञान, किन्तु एक उस से पहले होने वाला वस्तु का केवल स्वरूपाभास कि 'यह कुछ है' इत्यादि तरह का निर्विकल्पक ज्ञान। इसी के अनुसार यह आया कि–विशेष्य तथा प्रकार आदि के साथ साथ रहने पर भी जिस समय तक उनका 'यह विशेष्य है' 'यह विशेषण है' 'यह विशेषण विशेष्य का सम्बन्ध है' इसी तरह से नाम जाति आदि योजना से युवत ज्ञान नहीं हो लेता तब तक उनके कैवल्य या केवल स्वरूप अर्थात् 'उन का कुछ होना' इतने तक का जो सिर्फ़ संवेदनात्मक ज्ञान, जिसका हमें स्पष्ट आभास नहीं नहीं हो पाता उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जायेगा। जैसे कि [सविकल्पक ज्ञान से] पहले पहल 'घट' और 'घटत्व' के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होते समय उन दोनों का केवल [कुछ] होना तो भासता ही है परन्तु उस ज्ञान में 'विशेष्य–विशेषणभाव' के न होने की दृष्टि से वह [विशेष्यविशेषणभावशून्य 'घट' और 'घटत्व' का] ज्ञान निर्विकल्पक ही माना जाता है।

इस के बाद यह बताया गया है कि–सविकल्पक ज्ञान किसी 'प्रकार' अर्थात् 'विशेषण' को लेकर ही होता है। जैसे कि हमें वस्तु का प्रत्यक्ष इसी रूप में होता है कि–'यह घट है' परन्तु [ध्यान रहे] इस तरह के सविकल्पक ज्ञान के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उस से पहले घटत्व का ज्ञान हो, क्योंकि घटत्व का ज्ञान होने पर ही तो हम ऐसा कह सकते हैं कि–यह घट ही है पट नहीं। इसीलिये 'घटत्व' के प्रकार या विशेषण हुए बिना 'यह घट है' इस तरह का सविकल्पक ज्ञान न हो सकने के कारण यही निष्कर्ष निकला

कि—जाति और अखण्डोपाधि [जिन का ज्ञान बिना प्रकारता या विशेषणता के भी हो सकता है इसी दृष्टि से उन] को छोड़ कर बाकी के प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान किसी प्रकारता या विशेषणता को लेकर ही होता है।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यूं समझा जा सकता है कि—घट की प्रतीति के साथ उस के नाम जाति आदि का भी भान होता है। इस के अनुसार घट का अर्थ हुआ 'घटत्व विशिष्ट घट'। इस प्रकार 'यह घट है' इस ज्ञान में केवल एक वस्तु का ज्ञान नहीं, प्रत्युत 'घटत्व विशेषण लिये हुए' घट का [विशिष्ट का] ज्ञान है। इस से यह आया कि—'घटत्व' है 'प्रकार' अर्थात् 'विशेषण' जिस [घट] में उसी घट का ही 'अयं घटः' यह विशिष्ट ज्ञान होता है। इसीलिये घट पट आदि का [विशिष्ट का] ज्ञान किसी प्रकार या विशेषण के आधार पर होने के कारण—सविकल्पक ज्ञान [जिस के बारे में कुछ जाना या कहा जाए अर्थात् जो उद्देश्य या अभिधेय या विधेय की दृष्टि से हो ऐसे ज्ञान] को 'सप्रकारक' [प्रकार या विशेषण के बिना न होने वाला] अर्थात् 'विशेष्यविशेषणभावपूर्वक' ज्ञान कहा गया है।

न्याय वैशेषिक शास्त्र का उद्देश्य बाह्य जगत् की स्थिरता की स्वीकृति है। इसी पर दृष्टि रखते हुए उस के लिये यह ज़रूरी हो जाता है कि—विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध को यथावत् माना जाए और तीनों को भिन्न दिखाया जाए, इस के अनुसार उन की यथार्थता की अलग अलग स्थापना करने के लिये एक को दूसरे का प्रतियोगी भी कहा जा सकता है। जैसे कि 'अयं घटः' इस प्रतीति में 'अयम्' तो विशेष्य है, और 'घट' का अर्थ है 'घटत्व विशेषण से सम्बद्ध' वस्तु, इसीलिये 'घटत्व' को यहां प्रकार या विशेषण कहा गया है। जान पड़ता हुआ 'वैशिष्ट्य—घट और घटत्व का सम्बन्ध' यहां समवाय है। अतः [उपर्युक्त प्रकार से] 'समवाय' सम्बन्ध का प्रतियोगी यहां घटत्व हुआ।

पर यदि प्रश्न हो कि—घटत्व, घट और सम्बन्ध का कोई अलग स्वरूप तो साधारणतया दिखाई ही नहीं पड़ता फिर इन तीनों का अलग अलग वस्तुत्व कैसे मान लें? इस का उत्तर यह होगा कि—'घटत्व' और 'घट' के बीच में 'समवाय सम्बन्ध' माना गया है। ध्यान रहे कि—'समवाय' सम्बन्ध

उन दो वस्तुओं का होता है जिन में से एक ऐसी हो जो दूसरी के आश्रित रहे। जैसे कि---'घटत्व' और 'घट' का परस्पर 'समवाय' सम्बन्ध होता है और इन में से 'घटत्व' एक ऐसी वस्तु है जो घट के आश्रित [सहारे पर टिकी हुई] रहती है। इस प्रकार इन में आश्रयी–आश्रय भाव हुआ। जिस से यह आया कि—'घटत्व' [आश्रयी] और 'घट' [आश्रय] स्वरूपतः अलग अलग वस्तु हैं और इन का मिला रहना 'समवाय' सम्बन्ध की दृष्टि से है। अर्थात् समवाय सम्बन्ध के कारण ऐसी दो वस्तुऐं मिली भी रहती हैं और उनका वास्तविक स्वरूप अलग अलग भी रहता है। इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि, वास्तविक धर्म-धर्मिभेद जो न्याय वैशेषिक का मुख्य सिद्धान्त है उसी के अनुसार जैसे घटत्व और घट अर्थात् विशेषण और विशेष्य के मिले रहने पर भी उनका वस्तुत्व अलग अलग है वैसे ही 'संयोग' और 'समवाय' ये दो ही तरह के सम्बन्ध भी बाह्य जगत् में अलग अस्तित्व रखने वाले माने गए हैं। इस प्रकार विशेषण या प्रकार से सम्बन्ध [संयोग अथवा समवाय] का अलग वस्तु होना माना जाने के कारण विशेषण या प्रकार को सम्बन्ध का प्रतियोगी कहा गया है।

इस के बाद प्रकरण में दिये गए उदाहरण 'अयं दण्डी' के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष उसे कहेंगे जिसमें विशिष्ट के [विशेषण से युक्त वस्तु के] 'सम्बन्ध' का ज्ञान हो। जैसे कि 'यह पुरुष दण्ड वाला है' [अयं दण्डी] यह एक सविकल्पक ज्ञान है, और इस में दण्डत्व सहित 'दण्ड' का 'सम्बन्ध' अर्थात् 'संयोग' भी 'पुरुष' के साथ दिखाई देता है। इस से यह आया कि–'संयोग' को लिये बिना 'दण्ड वाला पुरुष' यह सविकल्पक प्रत्यक्ष [विशिष्ट ज्ञान] सम्भव नहीं। अर्थात् 'दण्ड' और 'पुरुष' का जब तक 'संयोग' न हो तब तक 'पुरुष का दण्ड वाला होना' सोचा ही नहीं जा सकता। इस दृष्टि से मानना ही पड़ता है कि 'यह पुरुष दण्ड वाला है' इस सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप विशिष्ट ज्ञान में जहां 'विशेषण' जो 'दण्ड' और 'विशेष्य' उस 'पुरुष' का ज्ञान होना पर्याप्त है वहां उन दोनों के सम्बन्ध 'संयोग' का ज्ञान भी होता है। जिस से स्पष्ट हुआ कि, जो भी सविकल्पक ज्ञान [अर्थात् जो कोई प्रयुक्त ज्ञान]

होता है वह विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध का ग्राहक अवश्य होता है। इसी लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष को मूलतः 'विशिष्टवैशिष्ट्य ज्ञान' [विशेषण से युक्त वस्तु के सम्बन्ध वाला होने का ज्ञान या विशेष्यविशेषणभावयुक्तज्ञान] कहा गया है।

मूल = तत्र 'परतः प्रामाण्यग्रहः' इति नैयायिकाः। यथा, अदौ 'घटः' इति व्यवसायः, ततो 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायः, ततः प्रामाण्याप्रामण्ये इति कोटिद्वयस्मरणम्, अथ चतुर्थे 'इदं ज्ञानं प्रमा' ? न वा' ? इति प्रामाण्यसंशयः, ततो विशेषदर्शनानन्तरं प्रामाण्यग्रहः—इदं ज्ञानं प्रमा, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानान्तरवत्।

अनुवाद = नैयायिक [प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान के] प्रामाण्य का ग्रहण परतः मानते हैं। जैसे कि 'घटः' [यह ज्ञान घट के द्वारा उत्पन्न होता है, और इस ज्ञान का विषय घट होता है] इसी प्रकार के प्रथम ज्ञान को तो 'व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते हैं। उस [व्यवसाय] के बाद में होने वाले 'मैं घट को जानता हूँ' इसी प्रकार के द्वितीय ज्ञान [कि जिसका विषय घट नहीं होता, अपितु 'घटज्ञान' ही जिस ज्ञान का विषय होता है इसीलिये ऐसे 'ज्ञान विषयक ज्ञान' अर्थात् 'ज्ञान के ज्ञान'] को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। उस के बाद उसी [ज्ञान] के 'प्रमाण होने' और 'अप्रमाण होने' का ऐसा दोकोटिक स्मरण होता है। फिर चतुर्थ क्षण में 'यह ज्ञान यथार्थ भी है या नहीं' इसी प्रकार से [ज्ञान की] प्रमाणता के बारे में संशय उत्पन्न होता है। उस के बाद में विशेष का दर्शन होने पर [अर्थात् वस्तु के यथावत् उपलब्ध होने पर] तो उसकी प्रामाणिकता [सत्यता] के ग्रहण हो जाने के कारण 'यह ज्ञान प्रमा है' क्योंकि समर्थ अर्थात् सफल प्रवृत्ति का उत्पादक होने से, दूसरे सफल या समर्थ प्रवृत्ति वाले ज्ञान के समान।

आलोचना = प्रत्यक्ष प्रमाण ही के अनन्तर इस ग्रन्थ में 'प्रामाण्य' का वर्णन पाया जाने से इस का यह अर्थ लिया जायेगा कि— सभी प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य [सर्वोत्कर्ष्ट] प्रमाण है। मुख्य प्रमाण होने की

दृष्टि से यह स्पष्ट है कि उत्तम अधिकारी की जिज्ञासा भी अकेले इसी प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या ही से पूर्ण हो सकती है इसलिये दूसरे प्रमाणों की ओर अधिक ध्यान न देते हुए उन का केवल अनुवाद कर दिया है।

प्रमाणों से उपलब्ध होने वाले ज्ञान के 'प्रामाण्य' के विषय में दार्शनिकों के अनेक मत पाये जाते हैं। कोई ज्ञान का 'प्रामाण्य' [प्रमाण होना] 'स्वतः' और उसका 'अप्रमाण्य' [प्रमाण न होना] 'परतः' मानते हैं। कोई इस से भिन्न प्रकार का अर्थात् ज्ञान के 'अप्रामाण्य' को 'स्वतः' और ज्ञान के 'प्रामाण्य' को 'परतः' मानते हैं। कई लोग प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को 'स्वतः' और कई लोग इन दोनों को 'परतः' भी मानते हैं।

उपर्युक्त सूत्र से आगे के सूत्र में मीमांसा के [गुरुप्रभाकर, मुरारिमिश्र और भट्टकुमारिल के] तीनों सम्प्रदाय ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' मानते हैं, इसी बात को स्पष्ट किया गया है इसलिये अगले सूत्र का अनुवाद कर चुकने के बाद इन दोनों [न्याय और मीमांसा] के मत भेद को 'तर्क भाषा' नामक ग्रन्थ से स्पष्ट करेंगे क्योंकि इस ग्रन्थ में इन दोनों मतों के परस्पर मत भेद का अधिक वर्णन हुआ है।

मूल = स्वतः प्रामाण्यग्रहः इति त्रयो मीमांसकाः, तत्र गुरुमते—'अयं घटः' इति ज्ञानं 'विषयम्, आत्मानम्, ज्ञानप्रामाण्यं' च गृह्णाति।

मुरारिमिश्रमते—'अयं घटः' इति ज्ञानानन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायः, तेनैव प्रामाण्यग्रहः।

भट्टमते—ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वेन ज्ञानमनुमेयं यथा, तथा तद्वृत्ति प्रामाण्यञ्च, तथाहि 'अयं घटः' इति ज्ञानानन्तरं घटे ज्ञातता उत्पद्यते ततो 'ज्ञातो मया घटः' इति ज्ञातताप्रत्यक्षं, ततो व्याप्यादिप्रत्यक्षानन्तरं ज्ञानानुमानम्। यथा—

अहं घटत्वप्रकारकज्ञानवान् घटत्वप्रकारकज्ञाततावत्त्वात् तावतैव तस्य धर्मधर्मिविषयकत्वेन प्रामाण्यानुमानम् ।

इति प्रत्यक्षनिरूपणम् ।

अनुवाद=मीमांसा के तीनों सम्प्रदाय स्वतः प्रामाण्य [ज्ञान तथा उस में रहने वाला प्रामाण्य एक सामग्री से ग्रहण होते हैं ऐसा] मानते हैं । उनमें से [तत्र]

प्रभाकर के मत में='अयं घटः' ऐसा ज्ञान–विषय को [अर्थात् घट को] अपने आप को और ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य [तीनों] को ग्रहण कर लेता है।

मुरारिमिश्र के मत में='अयं घटः' ऐसे [व्यवसाय] ज्ञान के अनन्तर 'घट को मैं जानता हूँ' ऐसा [मानस प्रत्यक्ष रूप] अनुव्यवसाय होता है, उसी से ही [व्यवसाय तथा उस में पाए जाने वाले] प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है।

भट्ट के मत में=यावत् ज्ञान के अतीन्द्रिय [इन्द्रियों से परे अर्थात् प्रत्यक्ष के अयोग्य] होने की दृष्टि से जिस प्रकार ज्ञान अनुमेय [अनुमान गम्य] है ठीक उसी प्रकार उस ज्ञान में रहने वाला प्रामाण्य भी [अनुमान गम्य ही है] । तो भी उसे इस रूप में समझा जा सकता है [तथाहि] कि 'अयं घटः' ऐसे ज्ञान के बाद घट में 'ज्ञातता' नामक एक धर्म उत्पन्न होता है, फिर उसी 'ज्ञातता' धर्म का प्रत्यक्ष 'जाना गया है मेरे से घट' ऐसे रूप में होता है। तब व्याप्य आदि [ज्ञातता आदि हेतु] के प्रत्यक्ष हो जाने के बाद [उसी 'ज्ञातता' नामक व्याप्य अर्थात् हेतु से] ज्ञान का अनुमान भी हो जाता है । जैसे कि–'मैं घटत्व है प्रकार अर्थात् विशेषण जिस का ऐसे घट के ज्ञान वाला हूँ' क्योंकि घटत्व है प्रकार या विशेषण जिसका ऐसे घट की ज्ञातता वाला होने से । इस प्रकार जैसे उस [ज्ञातता] का 'धर्म' [घटत्व] और धर्मी [घट] विषयक होना पाया जाता है वैसे ही 'ज्ञातता' रूप हेतु की दृष्टि से 'धर्मी' अर्थात् 'ज्ञान' और 'धर्म' अर्थात् उसमें रहने वाले 'प्रामाण्य' इन दोनों का अनुमान होता है [इसीलिये ज्ञान ग्राहक और उस के प्रामाण्य की ग्राहक सामग्री के ऐक्य अर्थात् एक होने के कारण से 'स्वतः प्रामाण्य' ही है–ऐसा मीमांसक मत है] ।

"प्रत्यक्ष का निरूपण हो चुका" ॥

व्याख्या = प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन तो भलिभांति किया ही जा चुका। इस के अनन्तर प्रमाण से उत्पन्न हुए ज्ञान के प्रामाण्य के विवेचन का समुचित अवसर प्राप्त होने के कारण इसे श्री केशवमिश्र विरचित 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ से दिखाते हैं—

तर्क० भा० = इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चितु तु सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

अर्थ = अब यह [प्रामाण्यवाद] निरूपण किया जाता है—

जल आदि का ज्ञान हो जाने की दशा में, कोई उस के प्रामाण्य का विचारपूर्वक निर्धारण करके जल आदि [के ग्रहण या त्याग] में प्रवृत्त होता है। परन्तु कोई तो [प्रामाण्य का निश्चय हुए बिना अर्थात्] सन्देह की अवस्था में ही [उस जल आदि विषय की उपलब्धि के लिये] प्रवृत्त हुआ प्रवृत्ति के उत्तरकाल में जल आदि के उपलब्ध होने पर [उस के] प्रामाण्य का निश्चय करता है, यही वास्तविक स्थिति है।

तर्क० भा० = अत्र कश्चिदाह। प्रवृत्तः प्रागेव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः। येनेव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं' प्रामाण्यस्य।

अर्थ = इसी सम्बन्ध में [अत्र] कोई [मीमांसक ऐसा] कहता है कि-प्रवृत्त होने से पहले ही 'प्रामाण्य' का निश्चय हो जाने के कारण [इस प्रकार नैयायिक की यह बात कि—ज्ञान का ग्रहण तो 'अनुव्यवसाय' से और उसके प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्ति साफल्य के अनुमान' से होता है, वस्तुतः ठीक नहीं] क्योंकि जिस [सामग्री] के द्वारा जिस [किसी] 'ज्ञान' का ग्रहण होता है उसी [सामग्री] के द्वारा उस [ज्ञान] में पाए जाने वाले 'प्रामाण्य' का भी [ग्रहण हो जाता है] परन्तु ज्ञान ग्राहक [सामग्री] से अन्य [कोई सामग्री या साधन] ज्ञान का धर्म जो प्रामाण्य उस के ग्रहण कराने वाला नहीं होता। इसीलिये "ज्ञान का ग्रहण होता हो जिस से ऐसी सामग्री से भिन्न सामग्री की अपेक्षा न होना" ही [ज्ञान के] प्रामाण्य

का "स्वतः" होना है। इस का [मीमांसक का] यही अभिप्राय है [अस्यार्थः]।

तर्क० भा० = ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्या अप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगते धर्मिणिऽसन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

अर्थ = ज्ञान का प्रवृत्ति के पूर्व ही ग्रहण हो जाता है, और यदि ऐसा न मानें तो [अन्यथा] प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का [निश्चय करने के लिये ज्ञान में] सन्देह भी कैसे हो सकेगा। क्योंकि जब तक धर्मी [अर्थात् ज्ञान] का अवगत होना न पाया जाए तब तक उस में [प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य रूप धर्म का] सन्देह उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिये प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञातता [नामक कार्य] की किसी दूसरे प्रकार से [अर्थात् बिना ज्ञान रूप कारण के] सिद्धि न हो सकने से उत्पन्न हुई जो अर्थापत्ति उस से ज्ञान का ग्रहण होने पर ज्ञान में पाए जाने वाले प्रामाण्य का भी उसी अर्थापत्ति से ही ग्रहण हो जाता है। इस के बाद पुरुष [ज्ञात विषय के ग्रहण या त्याग में] प्रवृत्त होता है। न कि पहले अकेले ज्ञान ही का ग्रहण होने पर उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तरकाल में फल के दर्शन से ज्ञान के प्रामाण्य का विचार पूर्वक निर्धारण किया जाता है।

तर्क० भा० = अत्रोच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे तया प्रामाण्यग्रहणं दूरत एव। तथा हि इदं किल परस्याभिमतम्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यत इति।

अर्थ=इस विषय में [नैयायिक यह] कहते हैं कि—ज्ञातता की [बिना ज्ञान के] किसी दूसरे प्रकार से सिद्धि न हो सकने से उत्पन्न अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, ऐसा जो [मीमांसक] कहते हैं [प्रथम] हम उसे ही नहीं मान सकते उस [अर्थापत्ति] से प्रामाण्य के ग्रहण होने की बात तो बहुत दूर रही। [इसी सम्बन्ध में] कोई दूसरे [मीमांसक] यह मानते हैं कि—घट आदि के विषय में ज्ञान के हो जाने पर 'मैंने यह घट जान लिया है' इस प्रकार घट की ज्ञातता मालूम कर ली जाती है। उस से ज्ञान के होने पर ऐसा अनुमान होता है कि—ज्ञातता नाम का कोई धर्म उत्पन्न हो गया है। वह [ज्ञातता] भी ज्ञान से पहले उत्पन्न न होने के कारण और ज्ञान के होने पर ही उत्पन्न होने के कारण, इस प्रकार ['ज्ञान के होने पर ज्ञातता की उत्पत्ति होती है' और ज्ञान के न होने पर ज्ञातता की उत्पत्ति नहीं होती' ऐसे] 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' के द्वारा [ज्ञातता के] ज्ञान से उत्पन्न हुए होने का निश्चय होता है। इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न हुआ यह ज्ञातता नामक धर्म भी ज्ञान के बिना उपलब्ध नहीं होता क्योंकि कारण के अभाव में [उसके] कार्य का आविर्भाव नहीं देखा जाता है। इसलिये 'ज्ञातता ही अपने कारण 'ज्ञान' को 'अर्थापत्ति' के द्वारा जनाती है, ऐसा मीमांसक का मत है [इति]।

तर्क० भा०=न चैतद्युक्तम्। ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञाततायाअभावात्।

ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता; विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्य अनभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः। इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते। ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः। इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञातता सिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

अर्थ=[इसपर नैयायिक यह कहते हैं कि] ज्ञान के विषय होने [रूप धर्म] के अतिरिक्त जो ज्ञातता [नामक पदार्थ] उस का अस्तित्व न होने से [मीमांसक की]

उपर्युक्त बात ठीक नहीं। [मीमांसक] फिर कहते हैं कि–ज्ञान से उत्पन्न हुई ज्ञातता का आधार [आश्रय] होना ही घट आदि में ज्ञान का विषय होना है, ऐसा हमारा निश्चय है। इस प्रकार विषय जो कि 'घट' और विषयी अर्थात् 'ज्ञान' इन दोनों का तादात्म्य [ऐक्य] न माना जाने से कभी भी तादात्म्य से 'विषय होने' [विषयता] का प्रश्न ही नहीं उठता। और यदि उस उत्पत्ति [अर्थात् घट से घटज्ञान की उत्पत्ति] के आधार पर विषय होना [विषयत्व] कहा जाए तो–इन्द्रिय आदि में भी [घटज्ञान के] विषय होने की बात आ पड़ेगी। क्योंकि इन्द्रिय आदि [इन्द्रिय तथा आलोक] से भी उस ज्ञान [घट ज्ञान] का उत्पन्न होना पाया जाता है [अर्थात् घटज्ञान घट से उत्पन्न होता है और उस का विषय घट ही होता है परन्तु घट ज्ञान इन्द्रिय और आलोक से भी तो उत्पन्न होता है इस प्रकार जैसे घटज्ञान का विषय घट होता है वैसे इन्द्रिय और आलोक को भी घटज्ञान का विषय होना मानना पड़ेगा जोकि वस्तुतः ठीक ही नहीं]। इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि—ज्ञान से घट में कुछ [अर्थात् ज्ञातता रूप धर्म] उत्पन्न हुआ है जिस से घट ही उस ज्ञान का विषय होता है कोई अन्य नहीं। इस से यह आया कि—विषय होने [विषयत्व] की किसी दूसरे प्रकार से सिद्धि न होने के कारण उत्पन्न हुई अर्थापत्ति से ही ज्ञातता की सिद्धि होती है, न कि प्रत्यक्ष मात्र से [अर्थात् मीमांसक केवल अर्थापत्ति से ज्ञातता की सिद्धि मानते हैं]।

तर्क० भा० =मैवम्। स्वभावादेव विषयविषयिनोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः। इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्। ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात्।

अर्थ=[इसपर नैयायिक यह कहता है कि] मेरे मत में तो, विषय और विषयी [अर्थात् घट आदि विषय और ज्ञान] की स्वभाव से ही सिद्धि या संगति होती है। अर्थात् विषय और ज्ञान में [कुछ]ऐसा ही स्वाभाविक [सम्बन्ध] विशेष पाया जाता है जिसके कारण इन दोनों का [आपस में] विषय और विषयी भाव होता है। परन्तु यदि और प्रकार से [अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न हुई ज्ञातता के आधार या आश्रय होने की बात को लेकर 'विषय विषयी' भाव] मानें तो

'अतीत' तथा 'अनागत' इन दोनों [प्रकार के पदार्थों] का 'विषय होना' [विषयत्व] सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि 'धर्मी' [जो अतीत आदि पादार्थ उस] के उपस्थित न होने पर इस प्रकार उस में [ज्ञातता नामक] धर्म का उत्पन्न होना न बन सकने के कारण, ज्ञान के द्वारा वहां [अतीत आदि पदार्थ में] ज्ञातता की उत्पत्ति असम्भव हुई [तो ज्ञातता के न पाये जाने की दृष्टि से अतीत आदि पदार्थों की विषयता भी नहीं बन पड़ेगी]।

तर्क० भा० = किञ्च, ज्ञाततायाा अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था। अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः। एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति।

अर्थ = एक बात और यह भी है [किञ्च] कि ज्ञातता के भी अपने ज्ञान का विषय होना पाया जाता है [इस दृष्टि से] उस ज्ञातता में भी [तत्रापि] दूसरी ज्ञातता की कल्पना होगी और इस प्रकार से तो अनवस्था का दोष आयेगा। अब [अनवस्था नामक इस दोष को दूर करने के लिये ज्ञातता में] एक और नई ज्ञातता की कल्पना न कर के यदि स्वभाव से ही ज्ञातता का विषय होना [विषयत्व] कहा जाए तो इस प्रकार से घट आदि में भी ज्ञातता [की कल्पना] से क्या [प्रयोजन, अर्थात् एक नई ज्ञातता की कल्पना बढ़ाए बिना जबकि ज्ञातता का अपने ज्ञान का विषय होना सम्भव है तो इस दृष्टि से घट आदि का भी ज्ञातता की अपेक्षा के बिना, स्वभाव से ही ज्ञान का विषय होना सम्भव हो सकने पर इस प्रकार घट आदि में ज्ञातता को लेने की आवश्यकता न बच रहने से उन में ज्ञातता के मानने का क्या प्रयोजन हो सकता है अर्थात् कोई नहीं होता है]।

तर्क० भा० = अस्तु वा ज्ञातता तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते। ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम। केनचिज्ज्ञातताविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्।

अर्थ=अथवा ज्ञातता होती ही सही, उस ज्ञाततामात्र से [अर्थात् यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान से उत्पन्न जो सभी तरह की ज्ञातता उसी से] ज्ञान का ग्रहण होने योग्य है। और प्रमाणज्ञान का जिससे व्यभिचार न हो ऐसी [केवल यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुई] 'ज्ञातता विशेष' से 'प्रामाण्य' का ग्रहण होता है तो इसप्रकार जिस [सामग्री] से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से प्रामाण्य का ग्राह्य होना कहां रहा। अब यदि प्रमाण ज्ञान के व्यभिचार से रहित [जो यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न] किसी 'ज्ञातता विशेष' के द्वारा ज्ञान तथा [उसके] प्रामाण्य [इन दोनों] का साथ साथ ग्रहण होता है, ऐसा कहा जाए तो [ज्ञान और उसके] अप्रामाण्य के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि—अप्रामाण्य के व्यभिचार से रहित [अर्थात् अयथार्थ जो भ्रम आदि ज्ञान उस से उत्पन्न] किसी ज्ञातता विशेष से ज्ञान और अप्रामाण्य [दोनों] का एक साथ ग्रहण होता है इस प्रकार [मीमांसक को] अप्रामाण्य भी 'स्वतः' ही मानना चाहिये [किन्तु मीमांसकों को यह बात अभीष्ट नहीं क्योंकि वे लोग प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः और अप्रामाण्य का ग्रहण परतः होता है ऐसा मानते हैं इसीलिये नैयायिक को ऐसी युक्ति देनी पड़ी जिस का आशय यह है कि मीमांसकों को प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण या तो स्वतः स्वीकार होना चाहिये नहीं तो इन दोनों का ग्रहण परतः ही मानना चाहिये इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि नैयायिकों को 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य' का 'परतः' होना अभीष्ट है क्योंकि नैयायिक इन दोनों के परतः होने का सिद्धान्त मानते हैं।

तर्क० भा०=अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेण गृह्यते प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा-फलवती, अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था। तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति यथा-'प्रमाणाभास' इति केवलव्यतिरेकी।

अर्थ=अब यदि अप्रामाण्य का परतः [अर्थात् अयथार्थज्ञान का और उसके अप्रामाण्य का एक सामग्री से ग्रहण] होना ही अभीष्ट हो तो प्रामाण्य भी

ग्रहण भी [मीमांसक को] परतः ही अभीष्ट होना चाहिये। [न्याय में परतः का] ज्ञान की ग्राहक [सामग्री] से अन्य [सामग्री] के द्वारा [ग्रहण होना] ऐसा अर्थ है। क्योंकि ज्ञान का ग्रहण 'मानस प्रत्यक्ष' [जिसे अनुव्यवसाय भी कहते हैं उसी] से ही होता है और फिर प्रामाण्य का ग्रहण [प्रवृत्ति के सफल होने के] अनुमान से ही [होता है, न्याय में ऐसा सिद्धान्त माना गया है]। वह इस प्रकार कि [तथाहि] जल का ज्ञान हो जाने पर जल के अभिलाषी की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है एक तो 'फलवती' [उद्देश्य की सिद्धि से युक्त] और दूसरी 'अफला' [उद्देश्य के सिद्ध न होने से युक्त]। इन में जो फलवती है वह 'समर्था' [शब्द से कही जाती] है, उस [समर्था प्रवृत्ति] से उसज्ञान [जलज्ञान] के यथार्थ होने रूप प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। और [उस जलज्ञानके प्रमाणहोने के अनुमानवाक्य का] प्रयोग [इस प्रकार होगा] कि—

[प्रतिज्ञा] विवाद का विषय जलज्ञान प्रमाण है।

[हेतु] समर्थ [काम की] प्रवृत्ति का उत्पादक होने से।

[उदाहरण (व्यतिरेक व्याप्ति सहित)] जो [ज्ञान] समर्थ [काम की] प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता वह प्रमाण नहीं होता। जैसे कि—प्रमाणाभास। यह 'केवल व्यतिरेकी' [अनुमान हुआ]।

तर्क० भा० =अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्।

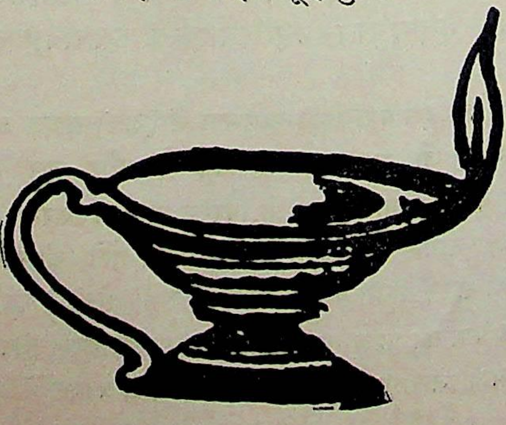
अर्थ = उपर्युक्त इस व्यतिरेकी अनुमान में [अत्र] सफल प्रवृत्ति का उत्पन्न करने वाला [जनक] जो जलज्ञान वह 'पक्ष' है और उस [जल ज्ञान] का प्रामाण्य अर्थात् यथार्थ होना 'साध्य' है, परन्तु प्रमा का करण होना [साध्य] नहीं क्योंकि [ऐसा मानने पर] स्मृति से व्यभिचार होने की बात आ पड़ेगी। [अर्थात् सफल या समर्थ प्रवृत्ति की उत्पादक जो स्मृति होती है यद्यपि उसका भी यथार्थ होना रूप प्रामाण्य पाया जाता है तथापि प्रमा का करण होना रूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं पाया जाता इस प्रकार प्रामाण्य शब्द से प्रकरण में 'यथार्थ होना'

ऐसा अर्थ लिया जायेगा परन्तु 'प्रमा का करण होना' नहीं]। और [जल ज्ञान के 'प्रामाण्य' को सिद्ध करने वाला] 'हेतु' समर्थ प्रवृत्ति का उत्पादक होना अर्थात् सफल प्रवृत्ति का उत्पादक होना है, इस प्रकार सभी जगह जान लेना चाहिये।

तर्क० भा० = अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति।

अर्थ = इस केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा पुनः पुनः अनुशीलन [अभ्यास] की अवस्था को प्राप्त हुआ जो ज्ञान उस के 'प्रामाण्य' का [समर्थ प्रवृत्ति के जनक होने रूप हेतु से] निश्चय हो जाने पर तो उसी को उदाहरण रूप में ले कर जल को लाने के लिये प्रवृत्त होने के पहले भी 'तज्जातीयत्व' [उसके जैसे होने] रूप लिङ्ग [हेतु] से अन्वय व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा अन्य जो 'अभ्यास की अवस्था को प्राप्त न हुआ' ज्ञान है उस के प्रामाण्य का भी अनुमान कर लिया जाता है। इसीलिये 'परतः प्रामाण्य' ही मानना चाहिये। अर्थात् ज्ञान की ग्राहक [सामग्री] के द्वारा [प्रामाण्य] ग्रहण नहीं होता [न्याय में ऐसा ही सिद्धान्त माना गया] है।

"प्रत्यक्ष का वर्णन पूर्ण हुआ"।



{अनुमानम्}

मूल = अनुमितिकरणमनुमानम् । अनुमितित्वं जातिः व्यापारवत् कारणं करणम् । व्यापारश्च–'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः' । हेतुज्ञानादि करणम् । परामर्शो व्यापारः । परामर्शश्च – व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् । यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयम् इति । आदो–महानसादौ धूमे वह्निसामानाधिकरण्यग्रहे सति 'धूमो वह्निव्याप्यः' इत्यनुभवो जायते, ततः कालान्तरे, पर्वते धूमे दृष्टे सति व्याप्तिस्मरणं, ततश्च व्याप्तिविशिष्टवैशिष्टयज्ञानं–'वह्निव्याप्यधूमवानयम्' इति तृतीयलिङ्गपरामर्शः । पक्षतासहितेन तेन 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितिर्जायते ।

अनुवाद = **अनुमिति के प्रति 'करण'** ['असाधारण कारण' अर्थात् ऐसा कारण विशेष कि जिस के होने पर ही 'अनुमिति' रूप अनुभूति हो सके उस] **को 'अनुमान'** [प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिङ्ग के द्वारा अर्थ का 'अनु' एक पीछे से उत्पन्न होने वाला 'मान' अर्थात् ज्ञान] **कहते हैं । अनुमितित्व 'जाति' है । 'व्यापार' को तरह के कारण को 'करण'** [असाधारण कारण] **कहते हैं । "उस** [करण] **से उत्पन्न हुआ होने पर जो उसी** [करण ही] **से जन्य** [उद्देश्य] **का जनक** [उत्पादक] **भी हो" उसे "व्यापार" शब्द से कहते हैं । 'हेतु का ज्ञान'** [अनुमिति में] **'करण'** [असाधारण कारण] **होता है** [इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जाना जाता हुआ अर्थात् ज्ञायमान लिङ्ग या हेतु अनुमिति के प्रति स्वरूपतः करण होता ही नहीं] । **'परामर्श'** [नामक ज्ञान] **को** [अनुमिति स्थल में] **'व्यापार' कहते हैं । व्याप्ति से विशिष्ट** [युक्त] **पक्षधर्मता का ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है। जिस का उदाहरण** [यथा] **'वह्नि से व्याप्य धूम वाला यह है'** [वह्नि से व्याप्त

रहने वाले धूम अर्थात् जो वह्नि के बिना कभी नहीं पाया जाता प्रत्युत उसके साथ ही पाया जाता है इस प्रकार जिस धूम की वह्नि के साथ 'व्याप्ति' है, उसी धूम से युक्त यह पर्वत है] ऐसे ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं [इति] । रसोईघर में धूम में वह्नि की समानाधिकरणता [धूम की वह्नि के साथ एक स्थानता] का ग्रहण कर लेने पर 'धूम वह्नि से व्याप्त रहने वाला है' [अर्थात् वह्नि से अलग नहीं पाया जाता है] ऐसा जो अनुभव [एक नया ज्ञान] हो जाता है उसे आदि में का [अर्थात् पहले पहल का ज्ञान] कहते हैं। इस [व्याप्ति ग्रहण] के बाद में किसी समय पर्वत में धूम के दिखाई पड़ने पर [जहां जहां धूम होता है वहां वहां वह्नि होती है, ऐसा जो—'साधन धूम' की 'साध्य वह्नि' के साथ] व्याप्ति का स्मरण होता है [तो यह द्वितीय ज्ञान हुआ], और उस के बाद में [धूम और वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट [जो धूम का ज्ञान उस] के वैशिष्ट्य [स्मृति से विशिष्ट होने] का ज्ञान [जैसे कि] 'वह्नि से व्याप्य धूम वाला यह पर्वत है' इस प्रकार का तृतीय [ज्ञान ही] लिङ्गपरामर्श कहा जाता है। पक्ष के धर्म से युक्त होने के ज्ञान के साथ ही उस [लिङ्ग परामर्श जिसे अनुमान कहते हैं उस] के द्वारा 'पर्वत बह्नि से युक्त ही है' यह अनुमिति हो जाती है।

मूल = व्याप्तिश्च हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि-साध्यसमानाधिकरण्यम् । न च 'अयं संयोगवान् द्रव्यत्वात्' इत्यत्र अव्याप्तिः, प्रतियोगिव्यधिकरणहेतुसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावाप्रतियोगि — साध्यसमानाधिकरण्यमित्यर्थात् । पक्षता च सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावः ।

अनुवाद = हेतु के साथ एक स्थान में न पाए जाने वालों का अप्रतियोगी जो साध्य उसी के साथ [हेतु के] एक स्थान में पाए जाने को 'व्याप्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'यह संयोग वाला है-द्रव्य होने से' इस स्थल पर [उपर्युक्त लक्षण की] अव्याप्ति भी नहीं होती, क्योंकि प्रतियोगी का अधिकरण न बना हुआ जो हेतु का [साध्य के साथ] समान अधिकरण है उस में न पाए जाने वालों का

अप्रतियोगी जो 'साध्य' है उसी के साथ [हेतु का] एक स्थान में पाया जाना [ही व्याप्ति है] क्योंकि ऐसा अभिप्राय है। सिद्ध करने की इच्छा [सिषाधयिषा] के न होने पर उस से सम्बन्ध रखने वाली 'सिद्धि' [साध्य के निश्चय] का न होना ही 'पक्षता' [पक्ष का स्वरूप] है।

मूल = अनुमानं द्विविधं—स्वार्थं, परार्थञ्च। तत्र परार्थं पञ्चावयवसाध्यम्। अवयवाश्च 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनानि'। यथा—(१) अयं वह्निमान्, (२) धूमात्, (३) यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा—महानसम्, (४) वह्निव्याप्यधूमवान् अयम्, (५) तस्मात् वह्निमान्, इति। स्वार्थञ्च स्वीयव्याप्त्यादिज्ञानसाध्यम्, न तत्र परप्रतिपत्त्यर्थमेवम् आह शब्दप्रयोगम्।

अनुवाद = 'अनुमान' दो प्रकार का होता है—एक तो 'स्वार्थानुमान' और दूसरा 'परार्थानुमान'। इन में [तत्र] परार्थानुमान [उसे कहते हैं जो अपने से भिन्न व्यक्ति के लिये हो, और वह] पांच अङ्गों से साध्य होता है। पांच अवयव [या अङ्ग जिनके द्वारा परार्थानुमान साधनीय होता है वे] यह हैं—(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) दृष्टान्त (४) उपनय, और (५) निगमन। वह जैसे [इन पांचों अङ्गों के सहित अनुमान वाक्य का दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रयोग होता है उसे क्रम पूर्वक दिखाते हैं] (१) 'यह वह्नि से युक्त है' [इस 'प्रथम' अवयव को 'प्रतिज्ञा कहते हैं] (२) 'धूम होने से' [यह 'हेतु' नामक द्वितीय अवयव है] (३) 'जो जो धूम से युक्त होता है वह वह वह्नि से युक्त होता है' जैसे कि 'रसोईघर' [धूम युक्त होता है तो वह वह्नि युक्त ही होता है—यह 'उदाहरण' अर्थात् दृष्टान्त नामक 'तृतीय' अवयव हुआ] (४) 'वह्नि से व्याप्य धूम वाला यह है' [इसे 'उपनय' नामक 'चतुर्थ' अवयव या अङ्ग कहते हैं, और] (५) 'इसीलिये यह [वैसा अर्थात्] वह्नि से युक्त ही है,' [इस 'पञ्चम' अवयव को 'निगमन' कहते हैं अर्थात्] न्याय में यह कथन प्रतिज्ञा के सिद्ध कर

चुकने पर उसी प्रतिज्ञा के फिर से उल्लेख के रूप में होता है [इति]। और 'स्वार्थानुमान' अपने ही तक निर्भर रहने वाले व्याप्ति आदि के ज्ञान से साध्य होता है, इसप्रकार 'स्वार्थानुमान' में [तत्र] दूसरे व्यक्ति को उपलब्ध कराना रूप उद्देश्य न पाया जाने से उपर्युक्त [स्वार्थ] शब्द का प्रयोग किया गया है। [क्योंकि अपने लिये अनुमिति का हेतु होने से इस का नाम 'स्वार्थानुमान' पड़ा है।

मूल = तच्चानुमानं त्रिविधम्—केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, अन्वयव्यतिरेकिभेदात्। यत्र साध्यव्यतिरेको न कुत्राप्यस्ति, स केवलान्वयी। यथा—'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' इत्यत्र अभिधेयत्वस्य साध्यस्य व्यतिरेको न कुत्राप्यस्ति।

अनुवाद =[अनुमिति का करण] वह अनुमान एक तो 'केवलान्वयी' दूसरा 'केवलव्यतिरेकी' और तीसरा 'अन्वयव्यतिरेकी' इस भेद के कारण तीन प्रकार का होता है। जिस अनुमान में [यत्र] साध्य का व्यतिरेक [अभाव] कहीं पर भी न पाया जाता हो वह 'केवलान्वयी' होता है। उदाहरणार्थ—'घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है' यहां पर 'अभिधेय होना' जोकि 'साध्य' है उस का अभाव किसी भी स्थल पर नहीं पाया जाता [क्योंकि जो भी कोई वस्तु है वह सब अभिधेय ही होती है इसीलिये साध्य अर्थात् वस्तु का अभिधेय होना 'केवलान्वयी' हुआ]।

मूल = यत्र साध्यप्रसिद्धिः पक्षातिरिक्ते नास्ति, स केवलव्यतिरेकी, यथा 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते—पृथिवीत्वात्' यत्र इतरभेदाभावः तत्र पृथिवीत्वाभावः, यथा—जलादौ। व्यतिरेकव्याप्तौ तु साध्याभावो व्याप्यः, हेत्वभावो व्यापकः।

अनुवाद =जिस अनुमान में [यत्र] साध्य का प्रसिद्ध होना पक्ष के सिवाय किसी अन्य में न पाया जाता हो, वह 'केवलव्यतिरेकी' होता है, जैसे कि 'पृथिवी औरों से भिन्न है—क्योंकि उस में पृथिवीत्व है' [इससे यहां स्पष्ट है कि—'पृथिवीत्व' अर्थात् 'पृथिवी होना' यह पृथिवी का स्वरूप है इसी को हेतु बना कर

विवाद का विषय जो पृथिवी उसका 'औरों से भिन्न होना' सिद्ध किया जा रहा है इस के अनुसार] **जहां औरों से भिन्न होना** [भेद] **नहीं पाया जाता वहां पृथिवी होना** [पृथिवीत्व] **नहीं पाया जाता** [यह एक व्यतिरेक व्याप्ति है और उदाहरण दिया गया है] **जैसे–जल आदि में** [परन्तु इस की 'अन्वय व्याप्ति' जिस का स्वरूप है 'जहां जहां पृथिवीत्व है वहां वहां पृथिवी है' उस में किसी पार्थिव पदार्थ को उदाहरण का रूप दिया जा सकता है और यह भी स्पष्ट है कि पार्थिव पदार्थ सब के सब पक्ष कोटि में आ जाते हैं इस प्रकार अन्वय व्याप्ति में कोई उदाहरण नहीं मिलता किन्तु 'व्यतिरेक व्याप्ति' में उदाहरण मिल जाता है इसलिये यह हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु हुआ, जिस का साध्य पक्ष में पाया जाने की दृष्टि से प्रकरण में आया अनुमान 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान ही है]। **'व्यतिरेक व्याप्ति' में साध्य का अभाव 'व्याप्य' और हेतु का अभाव 'व्यापक' होता है।**

मूल = यत्र साध्यं साध्याभावश्चान्यत्र प्रसिद्धः, सोऽन्वयव्यतिरेकी । यथा–'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इति । अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ अवश्यं पञ्चरूपोपपन्नता अपेक्षणीया । पक्षवृत्तित्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्षव्यावृत्तत्वम्, अबाधितत्वम्, असत्प्रतिपक्षितत्वञ्चेति पञ्च रूपाणि ।

अनुवाद = **जिस अनुमान में** [यत्र] **'साध्य' और 'साध्याभाव'** [ये दोनों] **'अन्यत्र'** [पक्ष से अन्य स्थान में अर्थात् 'साध्य तो–सपक्ष में' और साध्यका अभाव विपक्ष में] **प्रसिद्ध हों वह अनुमान 'अन्वय–व्यतिरेकी'** होता है। **जैसे– "पर्वत वह्नि से युक्त है–क्योंकि उस में धूम है"** [इस प्रकार के अनुमान में साध्य जो 'वह्नि' उस का 'सपक्ष' अर्थात् 'रसोईघर' में होना और 'वह्नि के अभाव' का 'विपक्ष' अर्थात् 'तालाब' आदि में होना—ये दोनों प्रकार के उदाहरण मिल जाने से यह 'अन्वय व्यतिरेकी' अनुमान ही है]। **अन्वयव्यतिरेकी हेतु में निःसन्देह पांच रूपों** [प्रकारों] **का प्राप्त होना आवश्यक होता है।** [इस प्रकार यदि अन्वय व्यतिरेकी हेतु इन पांच रूपों में से किसी एक भी रूप से हीन होगा तो वह अपने

साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा]। वे पांच रूप ये हैं—

(१) पक्षवृत्तित्व (२) सपक्षसत्त्व (३) विपक्षव्यावृत्तत्व (४) अबाधितत्व, और (५) असत्प्रतिपक्षितत्व [अर्थात्—पक्षवृत्ति होना, सपक्ष का अस्तित्व, विपक्ष से हटा हुआ होना, जिस का बाधित या असम्मत होना न पाया जाए ऐसा होना और प्रतिपक्षित होने का सद्भाव न होना]।

मूल = केवलान्वयिनि विपक्षव्यावृत्तत्वरहितम्, केवलव्यतिरेकिणि सपक्षसत्त्वरहितं चतूरूपमेवापेक्षितम्।

अनुवाद = **केवलान्वयी [हेतु] में विपक्ष से हटा हुआ होना' नहीं पाया जाता** [क्योंकि इस हेतु में केवल 'अन्वय व्याप्ति' का दृष्टान्त उपलब्ध होता है व्यतिरेक व्याप्ति का नहीं, इस प्रकार इस का स्वरूपतः 'विपक्ष' कोई होता ही नहीं, इसीलिये विपक्ष के असम्भव होते हुए यह स्पष्ट है कि 'विपक्षव्यावृत्तत्व' नामक यह तृतीय रूप 'केवलान्वयी' में नहीं होता है] **इस प्रकार इस में चार रूप अपेक्षित होते हैं** [पांचों नहीं]।

केवलव्यतिरेकी [हेतु] में सपक्ष का अस्तित्व नहीं पाया जाता [क्योंकि इस हेतु में 'व्यतिरेक व्याप्ति' का ही दृष्टान्त उपलब्ध होता है—अन्वय व्याप्ति का नहीं इस प्रकार इस हेतु के सपक्ष का अस्तित्व नहीं होता, इसलिये सपक्ष के अभाव हुए 'सपक्षसत्त्व' नामक यह द्वितीय रूप 'केवल व्यतिरेकी' हेतु में सम्भव नहीं] इस प्रकार **इस में भी चार रूप अपेक्षित होते हैं।**

मूल = यत्र साध्यसन्देहः स पक्षः, यत्र साध्यनिश्चयः स सपक्षः, यत्र साध्याभावनिश्चयः स विपक्षः, साध्याभाववान् पक्षो बाधः, साध्यविरोधिसाधको हेतुः सत्प्रतिपक्षः।

अनुवाद = **जिस स्थान में [यत्र] साध्य का सन्देह होता है वह** [स्थान] **'पक्ष' कहलाता है** [जैसे—अग्नि नामक साध्य जिसे हम पर्वत में सिद्ध कर रहे हैं इस प्रकार अग्नि का जहां निश्चय नहीं होता क्योंकि 'पर्वत में अग्नि है या नहीं' ऐसा सन्देह ही रहता है इसलिये 'सन्दिग्धसाध्यवान्' होने की दृष्टि से पर्वत 'पक्ष' हुआ]।

जिस स्थान में [यत्र] साध्य का निश्चय हो वह 'सपक्ष' है [उदाहरणार्थ धूम लिङ्गक अनुमान में अग्नि नामक साध्य का महानस अर्थात् रसोईघर में निश्चय होता है इस प्रकार रसोईघर 'सपक्ष' ही है]।

जिस स्थान में [यत्र] साध्य का न होना [साध्याभाव] निश्चय हो वही [स्थान] 'विपक्ष' कहलाता है। [जैसे कि—उसी धूम लिङ्गक अनुमान में अग्नि नामक साध्य का अभाव तालाब आदि में निश्चित है इसलिये तालाब आदि जिस स्थान में अग्नि नामक साध्य का अभाव निश्चित है वह 'विपक्ष' ही है]।

साध्य के अभाव वाले पक्ष को 'बाध' [जो सम्मत न हो ऐसा] कहते हैं।

साध्य से विरोध रखने वाले [अर्थात् साध्य के विपरीत अर्थ] के साधक हेतु को 'सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं। [इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष हेतु वहां होगा जहां एक हेतु एक अर्थ को सिद्ध करे और दूसरा हेतु उस से विपरीत अर्थ को सिद्ध करे]।

मूल = सोपाधौ पक्षसपक्षसत्त्वाद्यन्यतमभङ्ग आवश्यकः, सोपाधिश्च स्वव्यभिचारितासम्बन्धेन उपाधिविशिष्टः। उपाधिश्च त्रिविधः, साधनाव्यापकत्वे सति शुद्धसाध्यव्यापकः। साधनाव्यापकत्वे सति पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः। साधनाव्यापकत्वे सति साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्च।

अनुवाद = सोपाधि [हेतु] स्थल में—पक्षसत्त्व [पक्ष वृत्तित्व] सपक्षसत्त्व आदि पांच रूपों में से किसी एक रूप का न पाया जाना [भङ्ग] आवश्यक होता है, और अपने दूषित सम्बन्ध से उपाधि से विशिष्ट [युक्त] को 'सोपाधि' कहते हैं। उपाधि के भी तीन प्रकार होते हैं—(१) [जो धर्म] साधन का अव्यापक होने पर शुद्धसाध्य का व्यापक हो [यह उपाधि का प्रथम प्रकार है]। (२) जो साधन का अव्यापक होने पर पक्ष के धर्म से अवच्छिन्न साध्य का व्यापक हो [यह उपाधि का द्वितीय प्रकार है]। (३) जो साधन का अव्यापक होने पर साधन से अवच्छिन्न साध्य का व्यापक हो [उसे उपाधि कहते हैं यह उपाधि का तृतीय प्रकार है]।

मूल = आद्यो यथा—'अयोगोलकं धूमवद् वह्नेः' अत्र आर्द्रेन्धनप्रभववह्निमत्त्वमुपाधिः साधनाव्यापकत्वे सति शुद्धसाध्यव्यापकः । द्वितीयो यथा—'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' । अत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य प्रत्यक्षत्वस्य साध्यस्य व्यापकम् उद्भूतरूपवत्त्वमुपाधिः । तृतीयो यथा— 'ध्वंसो विनाशी, जन्यत्वात्' अत्र जन्यत्वावच्छिन्नविनाशित्व व्यापकं भावत्वमुपाधिः ।

अनुवाद = **उपाधि के प्रथम प्रकार का उदाहरण** [यथा] **"लोहे का गोला धूमवान् है—क्योंकि उस में वह्नि है" इस प्रकार के अनुमान में** [अत्र] **'गीले इन्धन से उत्पन्न हुई वह्नि वाला होना'** [रूप धर्म] **'उपाधि' है क्योंकि** [ऐसा धर्म] **'साधन'** [वह्नि] **का अव्यापक होने पर 'शुद्धसाध्य'** [शुद्ध धूम अर्थात् ऐसा धूम जिसमें भूल, त्रुटियां आदि न हों उस] **का व्यापक होता है।** [इस का आशय यह है कि—जहां जहां 'शुद्ध धूम' होता है वहां वहां 'गीले इन्धन से उत्पन्न हुई वह्नि वाला होना' अवश्य पाया जाता है इस प्रकार यह 'शुद्धसाध्यव्यापक' हुआ। इस के विपरीत—जहां जहां वह्नि हो वहां वहां सर्वत्र गीले इन्धन से उत्पन्न हुई वह्नि वाला होना पाया जाए, इस का नियम नहीं, जैसे कि—लोहे के गोले में वह्नि तो है परन्तु गीले इन्धन से उत्पन्न हुई वह्नि वाला होना रूप धर्म वहां नहीं पाया जाता है, इस प्रकार यह 'साधनाव्यापकत्व' भी है। इसलिये 'आर्द्रेन्धनप्रभववह्निमत्त्व' में 'साध्य का व्यापक' और 'साधन का अव्यापक होना' ये दोनों अंश घट जाने से उस में 'उपाधि' का लक्षण ठीक ठीक घट जाता है]।

उपाधि का दूसरा भेद जैसेकि—"वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय होने से" इस विषय में [अत्र] **बहिर्द्रव्य होने से अवच्छिन्न जो प्रत्यक्ष होना रूप साध्य है उस का व्यापक 'उद्भूतरूप वाला होना'** [यह] **'उपाधि' है।** [इस का आशय यह है कि—पक्ष में पाया जाने वाला जो बहिर्द्रव्य होना रूप धर्म है

उस 'बहिर्द्रव्य होने रूप पक्ष धर्म से अवच्छिन्न प्रत्यक्ष होना' साध्य है उस साध्य का व्यापक है 'उद्भूतरूप वाला होना' क्योंकि 'जहां जहां बहिर्द्रव्य होने से अवच्छिन्नप्रत्यक्ष होना पाया जाता है वहां वहां उद्भूतरूप वाला होना भी पाया जाता है' इस प्रकार यह 'पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक' हुआ। परन्तु 'जहां जहां प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय होना पाया जाए वहां वहां उद्भूतरूप वाला होना भी पाया जाए यह आवश्यक नहीं' जैसे—वायु द्रव्य में प्रत्यक्षस्पर्श का आश्रय होना पाया जाने पर भी उस में उद्भूतरूप वाला होना ऐसा धर्म नहीं पाया जाता, इसलिये यह 'साधनाव्यापकत्व' भी है। इस प्रकार 'उद्भूतरूपवत्त्व' में 'पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्य का व्यापक' और 'साधन का अव्यापक होना' ये दोनों अंश घट जाने से वह 'उपाधि' ही है।

तृतीय का **उदाहरण—"ध्वंस विनाशी है, जन्य होने से" इस सम्बन्ध में**[अत्र] **'जन्य होने से विशिष्ट विनाशी होने' का व्यापक 'भाव होना'** [ऐसा धर्म] **'उपाधि' है।** [इस प्रकार इस का आशय यह है कि—'भाव होना' ऐसा धर्म जिसे 'उपाधि' कहा गया है वह 'उत्पन्न हुए होने रूप साधन से विशिष्ट जो विनाशी होना रूप साध्य' है उसीका 'व्यापक' है क्योंकि—'जहां जहां उत्पन्न हुए होने से विशिष्ट विनाशी होना पाया जाता है वहां वहां भाव होना पाया जाता है' यह 'साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक' हुआ। परन्तु 'जहां जहां उत्पन्न हुआ होना पाया जाए वहां वहां भाव होना भी पाया जाए यह आवश्यक नहीं' जैसे कि ध्वंस में उत्पन्न हुआ होना पाया जाने पर भी भाव होना नहीं पाया जाता' अतः यह 'साधनाव्यापकत्व' भी है। इस प्रकार 'भावत्व' में साधनावच्छिन्नसाध्य का व्यापक' और 'साधन का अव्यापक होना' ये दोनों अंश घट जाने से वह 'उपाधि ही है']।

मूल = अथ 'हेत्वाभासाः' कथ्यन्ते—"सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध, बाधिताः" पञ्च हेत्वाभासाः। सव्यभिचारस्त्रिविधः 'साधारणासाधारणानुपसंहारि' भेदात्। साध्याभाववद् वृत्तित्वं साधारणत्वम्, यथा—धूमवान् वह्नेः'।

सकलसपक्ष व्यावृत्तत्वम्—असाधारणत्वम्, यथा 'पर्वतो वह्निमान् पर्वतत्वात्' ।

सर्वपक्षकत्वम् अनुपसंहारित्वं, यथा–'सर्वं प्रमेयम् अभिधेयत्वात्' ।

अनुवाद = अब [जो अनुमान में प्रतिबन्धक होते हैं वे] 'हेत्वाभास' कहे जाते हैं (१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) सत्प्रतिपक्ष (४) असिद्ध (५) बाधित [ये] पांच 'हेत्वाभास' हैं ।

[इन में] 'सव्यभिचार' [हेत्वाभास] साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी के भेद से तीन प्रकार का होता है ।—

(१) साध्य के अभाव वाले में वर्त्ती होने को साधारणता कहते हैं, [अर्थात् जिस हेतु की अपने साध्य के अभाव वाले स्थल में वृत्ति हो वह साधारण होता है] जैसे कि—'धूमवान् वह्नेः' । [इस प्रकार के अनुमान में–धूम 'साध्य' है वह्नि 'हेतु' है जिस की वृत्ति धूम के अभाव वाले अयोगोलक में भी है] ।

(२) सकलसपक्ष [समस्त ऐसी जगह जहां साध्य का निश्चय हो वहां] से व्यावृत्त होने को असाधारण होना कहते हैं [अर्थात् जो हेतु समस्तसपक्ष से व्यावृत्त हो वह असाधारण होता है] जैसे "पर्वत वह्नि वाला है, पर्वत होने से" [इस अनुमान में पर्वतत्व 'हेतु' है जोकि समस्त ऐसी जगह जहां साध्य अर्थात् वह्नि का निश्चय होता है वहां से व्यावृत्त पर्वत अर्थात् पक्षमात्र में रहता है, इस प्रकार यह 'असाधारण' हेत्वाभास है] ।

(३) 'सर्वपक्षक होने' को 'अनुपसंहारी होना' कहते हैं [अर्थात् सर्व है पक्ष जिस का ऐसा जो हेतु वह अनुपसंहारी होता है] जैसे–"सर्व प्रमेय है, अभिधेय होने से" [इस अनुमान में–अभिधेयत्व अर्थात् किसी शब्द से प्रकट करने योग्य होना यह हेतु है, सर्व अर्थात् सभी कुछ यह पक्ष है और प्रमेय अर्थात् किसी प्रमाण का विषय हो सकना यह साध्य है, इस प्रकार सभी कुछ में किसी प्रमाण का विषय हो सकने का सन्देह होने तथा जो भी विषय है उस के आवश्यक रूप से

अभिधेय होने के कारण इस अभिधेयत्व का सभी कुछ पक्ष बन जाता है अतः यह हेतु अनुपसंहारी ही है]।

मूल = साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः, यथा—'घटो नित्यः सावयवत्वात्'

'सत्प्रतिपक्षो' यथा—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' 'पर्वतो वह्न्यभाववान् महानसान्यत्वात्'।

असिद्धस्त्रिविधः आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धः व्याप्यत्वासिद्धश्च।

यत्र पक्षोऽसन् सिद्धसाधनं वा, स आश्रयासिद्धः। यथा—'शशविषाणं नित्यम्, अजन्यत्वात्'।

शरीरं हस्तादिमत्–हस्तादिमत्तया प्रतीयमानत्वात्।

यत्र पक्षावृत्तिर्हेतुः स स्वरूपासिद्धः। यथा 'पर्वतो वह्निमान्–महानसत्वात्'।

अनुवाद = **साध्य के अभाव से व्याप्त हेतु को 'विरुद्ध'** [हेत्वाभास] कहते हैं, जैसे कि—**"घट नित्य है, सावयव होने से"** [इस अनुमान में नित्यहोना साध्य है और सावयव होना अर्थात् 'अवयवों से बना हुआ होना' हेतु है परन्तु यह हेतु 'नित्य न होना' रूप जो 'अनित्य' है उस के साथ व्याप्त है। जो अवयवों से बना हुआ होता है वह अनित्य होता है—नित्य नहीं, इस प्रकार 'सावयवत्व' यह हेतु 'विरुद्ध' ही है]।

'सत्प्रतिपक्ष' [हेत्वाभास का उदाहरण] **जैसे "पर्वत वह्नि वाला है' धूम होने से"** [यह एक अनुमान है। इस का विरोधी—पर्वत के वह्नि से रहित होने को सिद्ध करने वाला दूसरा अनुमान यह है कि] **"पर्वत वह्नि के अभाव वाला है, महानस से अन्य होने से"** [इस प्रकार यहां प्रथम का प्रतिपक्षी द्वितीय विद्यमान है। इसी 'सत्प्रतिपक्ष' को 'प्रकरणसम' भी कहते हैं]।

'असिद्ध' [नामक हेत्वाभास] तीन प्रकार का होता है—एक तो 'आश्रयासिद्ध' दूसरा 'स्वरूपासिद्ध' और तीसरा 'व्याप्यत्वासिद्ध' ।—

(१) जहां 'पक्ष' न हो अथवा 'सिद्ध' का साधन हो वह आश्रयासिद्ध कहलाता है। जैसे कि—"खरगोष का सींग नित्य है, उत्पन्न हुआ न होने से" [इस अनुमान में 'शशविषाण' जो हेतुका आश्रय अर्थात् 'पक्ष' वह वस्तुतःहै ही नहीं इस प्रकार आश्रय अर्थात् पक्ष के न होने के कारण 'अजन्यत्व' यह हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है] अथवा "शरीर हाथ आदि वाला है, हाथ आदि वाला प्रतीत होने से" [यहां पर हाथ आदि अङ्गों वाला प्रतीत होने रूप हेतु से हाथ आदि अङ्गों वाले उस 'पहले ही से सिद्ध पदार्थ का साधन होना' नामक दोष स्पष्ट है]।

(२) जहां हेतु पक्ष में न रहे वह 'स्वरूपासिद्ध' कहलाता है। जैसे कि "पर्वत वह्नि वाला है, महानस होने से" [यहां 'महानसत्व' हेतु है जो पर्वत नामक पक्ष में नहीं रहता। इतना और जान लेना चाहिये कि, हेतु के पक्ष में न रहने का अर्थ है—जिस हेतु का पक्ष तो हो, परन्तु हेतु उस पक्ष में न रहता हो उस को 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। 'आश्रयासिद्ध' में तो आश्रय या पक्ष का अस्तित्व ही नहीं होता किन्तु 'स्वरूपासिद्ध' में पक्ष का अस्तित्व होने पर हेतु उस में नहीं रहता है, इस प्रकार इन दोनों का भेद हुआ]।

मूल = स च विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-भागासिद्धभेदाद् बहुविधः।—

आद्यो यथा—"शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वे सति जन्यत्वात्।"

द्वितीयो यथा "शब्दोऽनित्यः, गुणत्वे सति परमाणुवृत्तित्वात्।"

तृतीयो यथा—"एतानि द्रव्याणि, निरवयवत्वात्।"

सोपाधिर्व्याप्यत्वासिद्धो यथा—"धूमवान् वह्नेः।"

बाधो यथा—"जलह्रदो वह्निमान्, द्रव्यत्वात्।" तेन

एतद्दोषरहितो हेतुः सद्धेतुः।

इत्यनुमानं व्याख्यातम्

अनुवाद = वह [स्वयं अपने स्वरूप से असिद्ध जान पड़ने वाला 'स्वरूपासिद्ध' नामक हेतु] **भी (१) विशेषणासिद्ध (२) विशेष्यासिद्ध (३) भागासिद्ध के भेद से बहुत प्रकार का होता है।—**

प्रथम [अर्थात् 'विशेषणासिद्ध' उसे कहते हैं जिस हेतु का 'विशेषण' पक्ष में न पाया जाए] **जैसे—"शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने पर जन्य होने से"** [यहां 'शब्द' पक्ष है और 'चाक्षुष होने पर जन्य होना' यह हेतु है। वहां उस शब्द नामक पक्ष में यद्यपि जन्य होना रूप विशेष्य तो रहता है परन्तु चाक्षुष होना रूप विशेषण नहीं रहता। और जहां विशेषण का अभाव होता है वहां उस विशेषण से विशिष्ट = युक्त का भी अभाव होता है। अतः 'चक्षु से सम्बन्धित होने पर उत्पन्न हुआ होना' 'चाक्षुषत्वविशिष्टजन्यत्व' हेतु को 'विशेषणासिद्ध' कहते हैं]।
द्वितीय [अर्थात् 'विशेष्यासिद्ध' उसे कहते हैं जिस हेतु का 'विशेष्य' यह अंश 'पक्ष' में न पाया जाए] **जैसे "शब्द अनित्य है, गुण होने पर परमाणु में पाया जाने से"** [इस अनुमान में 'गुण होने पर परमाणु में पाया जाना ऐसा होना अर्थात् 'गुणत्वविशिष्टपरमाणुवृत्तित्व' यह हेतु रख देने पर स्पष्ट है कि–'शब्द नामक पक्ष में 'परमाणुवृत्तित्व' विशेष्य का अभाव होने से उस से विशिष्ट हेतु का भी अभाव ही होगा। इस प्रकार वह 'गुण होने पर परमाणु में पाया जाना रूप' हेतु 'विशेष्यासिद्ध' कहलाता है]।
तृतीय [अर्थात् 'भागासिद्ध' उसे कहते हैं जो हेतु अपने 'पक्ष' के एक भाग में तो पाया जाए परन्तु एक भाग में न रहे] **जैसे "ये द्रव्य हैं, निरवयव होने से"** [इस अनुमान में पक्ष का स्वरूप है 'ये' जोकि द्रव्यों का सूचक है इस प्रकार ऐसे सर्वपक्ष में 'निरवयवत्व' हेतु नहीं पाया जाता अपितु केवल निरवयव में ही पाया जाता है इस लिये उपर्युक्त पक्ष के 'सावयव' रूप एक भाग में 'निरवयवत्व' हेतु के न पाए जाने की दृष्टि से वह 'भागासिद्ध' कहलाता है]।

'सोपाधि' [उपाधि युक्त हेतु] **को 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं —जैसे 'धूमवान् वह्नेः'** [इस अनुमान में धूम 'साध्य' है, वह्नि 'हेतु' है, और 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को यहां उपाधि मानते हैं। क्योंकि 'जहां जहां धूम होता है वहां वहां वह्नि होती है' ऐसा स्वाभाविक सम्बन्ध जिसे 'व्याप्ति' कहते हैं वह यहां

नहीं है, उदाहरणार्थ—ताप से लाल लोहे के एक गोले में वह्नि तो होती ही है परन्तु उसमें धूम नहीं होता। इसलिये यह मानना पड़ता है कि 'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूम' ऐसा सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं अपितु औपाधिक है। इस में 'आर्द्रेन्धन का संयोग' 'उपाधि' है। इस प्रकार वह्नि रूप यह हेतु 'आर्द्र इन्धन संयोग' नामक उपाधि से अर्थात् उपाधि के सद्भाव में होने वाला (सोपाधि) होने से 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहलाता है]।

'बाध' [हेत्वाभास उसे कहते हैं कि—जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य (प्रबलतर) प्रमाण से पक्ष में निश्चय हो चुका हो]। जैसे **"जल का तालाब वह्नि वाला है, द्रव्य होने से"** [इस अनुमान में 'द्रव्यत्व' हेतु का साध्य 'वह्नि वाला होना' उस का अभाव अर्थात् 'वह्नि वाला न होना' जल के तालाब नामक 'पक्ष' में चाक्षुष प्रत्यक्ष रूप प्रमाण से निश्चित है। इस प्रकार 'द्रव्यत्व' यह हेतु 'बाध' नामक हेत्वाभास हुआ]।

इसलिये इन दोषों से रहित हेतु को 'सद्हेतु' कहते हैं।

इस प्रकार अनुमान [प्रमाण] का व्याख्यान हो गया।



—०—

{उपमानम् }

मूल = उपमितिकरणमुपमानम् । 'कीदृशो गवयः ?' इति प्रश्ने 'गोसदृशो गवयः' इत्युत्तरिते यदा गोसदृशं प्राणिनं पश्यति, तदा पूर्वोक्तं वाक्यार्थं स्मरति, अनन्तरम् 'अयं गवयपदवाच्यः' इति शक्तिग्रहः, सेयमुपमितिः । इत्युपमानं व्याख्यातम् ।

अनुवाद=**उपमिति के 'करण'** [असाधारण कारण]**को 'उपमान' कहते हैं।** [उदाहरणार्थ – कोई 'नगरवासी' पुरुष जिस ने गवय अर्थात् 'नील गाय' को कभी नहीं देखा उस के] **'गवय' कैसा होता है ? ऐसे प्रश्न का—"गोसदृश गवय" यह उत्तर** [किसी आरण्यक अर्थात् वनवासी से] **मिल जाने पर जब** [वन में जाकर] **गो सादृश्य प्राणी को देखता है** [वहां उस गवय में जो गोसादृश्यका दर्शन वह होने वाली उपमिति का करण है । इसी का नाम उपमान प्रमाण है] **तब** [सादृश्यदर्शन के बाद उस नगरवासी पुरुष को] **पूर्वोक्त** [जिसे न्याय में अतिदेश वाक्य कहते हैं अर्थात् गौ के धर्म को गवय में अतिदेश करनेवाले 'गोसदृश गवय' उस] **वाक्य के अर्थ** [अतिदेशवाक्यार्थ] **का स्मरण हो आता है** [वह स्मरण ही होने वाली उपमिति के प्रति बीच में का व्यापार है] **अनन्तर 'यह गवयपद वाच्य है' ऐसी शक्ति का ग्रहण कर लेना, वह** [गवय प्राणी में गवय पद के शक्तिरूप सम्बन्ध को विषय करनेवाला ज्ञान ही] **यह उपमिति** [उपमान प्रमाण का फल] **है।**

इस प्रकार उपमान [प्रमाण] **की व्याख्या हो गई ।"**



{शब्दः}

मूल = आप्तोक्तः शब्दः प्रमाणम् । प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानवान् आप्तः । पदज्ञानं करणम्, पदार्थोपस्थितिर्व्यापारः । 'आकांक्षा-योग्यताऽऽसत्ति-तात्पर्यज्ञानानि' सहकारीणिः, फलं शाब्दबोधः ।

अनुवाद = 'आप्त' द्वारा कहा हुआ 'शब्द प्रमाण' होता है । प्रकृतवाक्यार्थ के विषय के यथार्थज्ञान से युक्त को 'आप्त' कहते हैं ।

'पद का ज्ञान' [शाब्द बोध में] 'करण' [सर्वोत्कृष्ट कारण] होता है, 'पद के अर्थ [पदार्थ] का उपस्थित होना' [बीच में का] 'व्यापार' कहलाता है ।

(१) आकांक्षा (२) योग्यता (३) आसत्ति (४) तात्पर्य का ज्ञान [शब्द के बोध में] सहायक होते हैं, प्रतिफल शाब्दबोध होता है ।

मूल = स्वरूपयोग्यत्वे सति अजनितान्वयबोधकत्वम्, आकांक्षा, तेन 'घटः, कर्मत्वम्, आनयनम्, कृतिः' इत्यत्र नान्वयबोधः, स्वरूपायोग्यत्वात् । 'अयमेति पुत्रो राज्ञः, पुरुषोऽपसार्य्यताम्' इत्यत्र 'राज्ञः पुरुषः' इति नान्वयबोधः, पुत्रेण जनितान्वयबोधकत्वात् ।

अनुवाद = 'स्वरूप-योग्य' [पद सङ्कलित जो वाक्य रचना उस—के युक्त प्रयुक्त] होने पर [वहां] 'अजनित—अन्वय' [न किये हुए—एक के होने पर दूसरे के होने] के बोध कराने वाली होने को 'आकांक्षा' कहते हैं, इसलिये 'घड़ा-कर्म होना-ले आना-करना' ऐसे प्रकरण में अन्वय का बोध नहीं होता, क्योंकि स्वरूप का योग्य होना नहीं पाया जाता ।

'अयमेति पुत्रो राज्ञः, पुरुषोऽपसार्यताम् [यह आता है पुत्र राजा का, पुरुष हटा दो] इस प्रकार यहां 'राज्ञः पुरुषः' ऐसा अन्वय बोध नहीं

[किया जा सकता] क्योंकि [इसमें राज्ञः पद का] पुत्र के साथ जनित अन्वय का बोधक होना पाया जाता है।

मूल = बाधक प्रमाविरहो योग्यता। तेन 'वह्निना सिञ्चति' इत्यत्र नान्वयबोधः, अयोग्यत्वात्।

अनुवाद = बाधा करने वाली प्रमा से रहित होने को 'योग्यता' कहते हैं। इसलिये 'वह्निना सिञ्चति' [वह्नि से सींचता है] इस प्रकार यहां [वह्नि होने पर सिञ्चन होना, ऐसा] अन्वय बोध नहीं होता, क्योंकि [वह्नि में सींचने की] योग्यता नहीं है।

मूल = अव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरासत्तिः। तेन 'गिरिर्भुक्तं वह्निमान् देवदत्तेन' इत्यत्र नान्वयबोधः।

अनुवाद = व्यवधान [अन्तराय] से रहित 'अन्वय-प्रतियोगी' [पदों] की उपस्थिति [समीप स्थिति] को 'आसत्ति' कहते हैं। इसलिये 'गिरिर्भुक्तम् वह्निमान् देवदत्तेन' [पर्वत खाया गया वह्नि वाला देवदत्त से] इस प्रकार यहां अन्वन का बोध नहीं हो पाता [क्योंकि यहां गिरि पद को वह्निमान् इस पद से तथा देवदत्त को 'भुक्तं' पद से—न जोड़ कर अन्तराय के साथ दूर दूर स्थापित किया गया है। इस प्रकार ऐसे आसत्ति रहित प्रयुक्त स्थल में अन्वयबोध नहीं हो पाता]।

मूल = तत्तदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्, तेन भोजनप्रकरणादौ 'सैन्धवमानय' इत्युक्ते अश्वान्वयबोधो न भवति।

अनुवाद = [श्रोता को] उस उस अर्थ के प्रतीत होने की इच्छा से [वक्ता द्वारा] उच्चारण किये हुए होने को 'तात्पर्य' कहते हैं। इसलिये भोजन के प्रसङ्ग आदि में 'सैन्धवमानय' [सैन्धव लाओ] ऐसा कहने पर [वहां] अश्व के अन्वय का बोध नहीं होता है [क्योंकि भोजन की बात चीत आदि के समय में वक्ता ने अश्व के ज्ञान होने की इच्छा से सैन्धव शब्द का उच्चारण नहीं किया होता, इसप्रकार उससमय सैन्धव शब्द का तात्पर्य अश्व लाने में नहीं हो सकता है]।

मूल = वृत्त्या विना शब्देन नान्वयबोधो जन्यते। वृत्तिर्द्विविधा 'शक्तिर्लक्षणा' च शक्तिः घटादिपदस्य घटादौ। लक्षणा यथा—'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इत्यत्र गङ्गापदार्थे प्रवाहे घोषान्वयानुपपत्त्या, गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा कल्प्यते, तया वृत्त्या उपस्थिते तीरे घोषः प्रतिवसतीत्यन्वयबोधो भवति। गौणी वृत्तिरपि लक्षणैव, यथा—'अग्निर्माणवकः' 'गौर्वाहीकः' अत्र लक्षणया अग्न्यादिसादृश्यं प्रतीयते।

अनुवाद = वृत्ति के विना शब्द से 'अन्वयबोध' का जन्म नहीं होता है। वृत्ति दो प्रकार की होती है—एक तो 'शक्ति' और दूसरी 'लक्षणा'। घट आदि पद की 'शक्ति' घट आदि [अर्थ] में है [इस प्रकार घट पद की वृत्ति घट व्यक्ति ही में होने को 'शक्ति' कहते हैं]। लक्षणा [नामक वृत्ति का उदाहरण] जैसे 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' [गङ्गा में घोष रहता है] इस प्रकार यहां 'गङ्गा' पद के [वास्तविक] अर्थ—जल के बहाव [प्रवाह] में घोष का अन्वय न बन सकने से, गङ्गा पद की [उसके शक्य सम्बन्धी] तट में 'लक्षणा' कल्पना की जाती है। उस [लक्षणा नामक] वृत्ति से उपस्थित तीर पर घोष रहता है इस प्रकार अन्वय बोध होता है। गौणी वृत्ति भी लक्षणा ही को कहते हैं। जैसे—'अग्निर्माणवकः' [लड़का अग्नि है] 'गौर्वाहीकः' [किसान गाय है] यहां लक्षणा से अग्नि आदि के समान होना [अर्थात् 'लड़के का क्रोधी होना' तथा 'किसान की मोटी अर्थात् पशुसम बुद्धि होना'] मालूम पड़ जाता है।

मूल = शक्तं पदं चतुर्विधम्—यौगिकम्, रूढ़म्, योगरूढ़म्, यौगिकरूढ़ञ्च।—

आद्यं यथा—पाचकादिपदं योगार्थे पाककर्त्तरि शक्तम्। द्वितीयं यथा—विप्रादिपदं रूढ्या ब्राह्मणवाचकम्।

तृतीयं यथा–पङ्कजादिपदं योगरूढ्या पङ्कजनिकर्तृत्वेन पद्मत्वेन च पद्मवाचकम् । चतुर्थं यथा–उद्भिदादिपदं यौगिकं तरुगुल्मादेः, रूढ़ं यागविशेषस्य वाचकम् ।

अनुवाद=शक्त पद [समर्थ पद] के चार रूप होते हैं —

(१) यौगिक (२) रूढ़ (३) योगरूढ़, और (४) यौगिकरूढ़ ।— प्रथम [यौगिक] जैसे 'पाचक' आदि पद का–पकाने रूप क्रिया से युक्त व्यक्ति जो 'योग अर्थ' उस में 'शक्त' होना पाया जात है ।

द्वितीय [रूढ़] जैसे 'विप्र' आदि पद—'रूढ़' रूप से 'ब्राह्मण' वाचक है ।

तृतीय [योगरूढ़] जैसे 'पङ्कज' आदि पद—योगरूढ़ रूप से [अर्थात्] पङ्क द्वारा उत्पन्न किया हुआ होना [ऐसे 'योग'] रूप से और 'कमल होना' ['पद्मत्व' ऐसे-रूढ़] रूप से 'कमल' वाचक है ।

चतुर्थ [यौगिकरूढ़] जैसे 'उद्भिद्' आदि पद—यौगिक [रूप से] तरुगुल्म [वृक्ष लता] आदि का, रूढ़ [रूप से] यागविशेष का 'वाचक' होता है ।

मूल = लक्षणा द्विविधा–जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च । आद्या यथा–'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । द्वितीया यथा– सर्वे छत्रिणो यान्ति' इत्यादौ अत्र छत्रिणः तदितरस्यापि गमनान्वयः ।

अनुवाद=लक्षणा [नामक वृत्ति] दो प्रकार की होती है [एक तो] 'जहत्स्वार्था' और [दूसरी] 'अजहत्स्वार्था' । प्रथम ['जहत्स्वार्था' अर्थात् ऐसी लक्षणा वृत्ति जिस के अन्तर्गत 'पद या वाक्य' अपने वाच्यार्थ को छोड़कर 'अभिप्रेत अर्थ' को प्रकट करता है] जैसे 'गङ्गायां घोषः' [गङ्गा में अहीरों का ग्राम] इत्यादि स्थल में [अर्थात् 'गङ्गा में घोष' इस वाक्य का वाच्यार्थ जो 'गङ्गा में घोष होना' उसे छोड़कर 'गङ्गा के किनारे घोष की उपस्थिति' ऐसा 'अभिप्रेत अर्थ' प्रकट होता है] ।

द्वितीय ['अजहत्स्वार्था' एक प्रकार की ऐसी लक्षणा जिस में लक्षकशब्द अपने वाच्यार्थ को न त्यागकर कुछ 'भिन्न अर्थ' प्रगट करे] जैसे–'सर्वे छत्रिणो यान्ति'

[सभी छाते वाले जा रहे हैं] इत्यादि में–यहां छाते वालों तथा [साथ जा रहे] उन से इतरों [जिनके पास छाता नहीं उन] का भी गमन में अन्वय होता है।

मूल = अथ शाब्दबोधप्रक्रिया–

'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यत्र ग्रामकर्मकगमनजनक-वर्त्तमानकृतिमान् इत्यन्वयबोधः। द्वितीयाया अर्थः कर्मत्वम्, धातोर्गमनम्, जनकत्वं संसर्गमर्य्यादालभ्यम्, लटो वर्त्तमानत्वम्, आख्यातस्य कृतिः, तत्सम्बन्धः संसर्गमर्य्यादयालभ्यः।

अनुवाद ='शब्द' को समझने की 'प्रक्रिया' प्रारम्भ करते हैं– 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' [देवदत्त गांव को जाता है] इस प्रकार यहां 'ग्रामकर्मक-गमनजनक-वर्त्तमान कृतिमान्' [गांव है कर्म जिस का, ऐसे गमन का उत्पादक, जो वर्त्तमानकालिक कृति उस वाला देवदत्त है] ऐसा अन्वय बोध होता है। [क्योंकि ग्रामपदोत्तर] द्वितीया का अर्थ है 'कर्मत्व' [कर्म होना], धातु [गम्] का [अर्थ है] गमन, [यहां] जनकत्व [उत्पादक होने] का 'संसर्ग की मर्यादा' से लाभ होगा, लट्लकार का वर्त्तमानकालिक होना, आख्यात [कर्त्ता] की कृति, उन का सम्बन्ध 'संसर्ग की मर्यादा' से प्राप्य है।

मूल = यत्र कर्त्तरि कृतेर्बाधः, तत्र आख्यातस्य व्यापारादौ लक्षणा। यथा–'रथो गच्छति' इत्यत्र गमनजनकवर्त्तमानव्यापारवान् रथः।

'दधि पश्यति' इत्यादौ द्वितीयालोपस्थले दधिशब्द एवाजहत्स्वार्थलक्षणया दधिकर्मत्वं बोधयति। एकवचनाद्युपस्थितमेकत्वादि सर्वत्र प्रथमादिपदमुपस्थापयति।

अनुवाद = जहां 'कर्त्ता' [क्रिया के करने वाले] में 'कृति' [करने की क्रिया] का 'बाध' होगा, वहां 'आख्यात' की लक्षणा—व्यापार आदि में होगी।

जैसे 'रथो गच्छति' [रथ जाता है] इस प्रकार यहां [क्रिया के करने वाले अर्थात् 'रथ' में साक्षात् रूप से क्रिया का करना 'बाधित' है क्योंकि रथ जड़ है] गमन का उत्पादक [चेतन घोड़ा आदि और तत्सम्बद्ध रथ उन के बीच में का] जो 'वर्त्तमान व्यापार' उस वाला रथ [ऐसा जान पड़ता] है।

'दधि पश्यति' [दही को देखता है] इत्यादि में [अर्थात्] जहां द्वितीया का विच्छेद पाया जाता है उस स्थल में 'दधि' शब्द ही के अजहत्स्वार्था [नामक लक्षणा] से दधि के कर्मत्व [कर्म होने] का ज्ञान किया जाता है।

एक वचन आदि से ध्यान में आए हुए एकत्व आदि को सभी जगह 'प्रथमा आदि पद' [प्रथमान्तपद ही] उपस्थापित करता है।

मूल = 'देवदत्तेन ग्रामो गम्यते' इत्यस्य देवदत्तवृत्तिकृतिजन्य-गमनजन्यफलशाली ग्राम इत्यर्थः। वृत्तित्वं संसर्गबललभ्यम्, तृतीयार्थश्च कृतिः, जन्यत्वं संसर्गः, गमनं धात्वर्थः, जन्यत्वं संसर्गः, फलं कर्मात्मनेपदार्थः, शालित्वं संसर्गः।

अनुवाद = 'देवदत्तेन ग्रामो गम्यते' [देवदत्त से गांव जाया जाता है] ऐसे [वाक्य] का 'देवदत्तवृत्तिकृतिजन्यगमनजन्यफलशाली ग्रामः' [देवदत्त में रहने वाली 'कृति' से उत्पन्न हुआ जो 'गमन' उस से उत्पन्न हुए फल से युक्त गांव है] ऐसा अभिप्राय है। वृत्तित्व [किसी में रहने वाला होना, ऐसा धर्म] संसर्ग के बल से प्राप्त करने योग्य है, तृतीया का अर्थ 'कृति' है, जन्यत्व [उत्पन्न हुआ होना] 'संसर्ग' है, गमन [जाना] धातु का अर्थ है, जन्यत्व 'संसर्ग' है, फल-कर्म के 'आत्मनेपद' का अर्थ है और शालित्व [युक्त होना] 'संसर्ग' है।

मूल = भावप्रत्यये तु 'देवदत्तेन सुप्यते' इत्यस्य 'देवदत्तवृत्तिकृतिजन्यः स्वापः' इत्यर्थः। भावप्रत्ययस्थले फलाभावात् आत्मनेपदार्थो न भासते।

अनुवाद = 'भावप्रत्यय' [भाव निश्चय] में तो [जैसे] 'देवदत्त से सोया जाता है' ऐसे [वाक्य] का 'देवदत्त में रहने वाली कृति से उत्पन्न हुआ स्वाप' ऐसा

अभिप्राय है। भाव के निश्चय स्थल में—फल के न पाए जाने [अभाव] से 'आत्मनेपद' के अर्थ की प्रतीति [की इच्छा ही] नहीं होती है।

मूल = भविष्यत्त्वं लृटोऽर्थः। तच्च विद्यमानप्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्तिकत्वम, तेन 'गमिष्यति' इत्यत्र विद्यमान-प्रागभावप्रतियोग्युत्पत्तिकगमनानुकूलकृतिमान् इत्यर्थः। लुटोर्थो अनद्यतनत्वमपि।

अनुवाद = लृट् [लकार] का अर्थ है 'भविष्यत्त्व' [आने वाला समय होना] उस [भविष्यत्त्व] को 'विद्यमानप्रागभावकी प्रतियोगीउत्पत्ति वाला होना' भी कहते हैं, इसलिये 'गमिष्यति' [जाएगा] इसप्रकार यहां विद्यमान प्रागभाव से प्रतियोगी है उत्पत्ति जिसकी ऐसे गमन की अनुकूल कृति वाला है, ऐसा अर्थ हुआ।

लुट् [लकार] का अर्थ 'अनद्यतनत्व' ['गत या भविष्य' होना] भी है।

मूल = लुङोऽर्थः उत्पत्तिर्भूतत्वं च, भूतत्वमतीतत्वम्, तच्चोत्पत्तौ अन्वेति, तथा च विद्यमानध्वंसप्रतियोग्युत्पत्तिकत्व लब्धम्। लिटोऽनद्यतनत्वं, परोक्षत्वम्, अतीतत्वं चार्थः, तदन्वयः पूर्ववद् उत्पत्तौ।

अनुवाद = लुङ् [लकार] का अर्थ है 'उत्पत्ति और भूतत्व' [उत्पन्न होना और बीता हुआ होना], भूत होने को अतीत होना कहते हैं, [इस प्रकार] उस [भूतत्व] का उत्पत्ति में भी अन्वय [अर्थात् उत्पत्ति होने पर बीता हुआ होना पाया जाता] है इसप्रकार [भूतत्वका] विद्यमानविनाश से प्रतियोगी है उत्पत्ति जिसकी ऐसा होना [रूप अर्थ] भी प्राप्त होता है। लिट् [लकार] का अर्थ है 'अनद्यतन होना' [आज का न होना] 'परोक्ष होना' [ध्यान में आया हुआ न होना] और 'अतीत होना' [बीता हुआ होना], इनका 'अन्वय' पूर्व [कहे 'भूतत्व'] के समान 'उत्पत्ति में' होता है [जिस प्रकार 'भूतत्व' उत्पत्ति के होने पर होता है उसी प्रकार "अनद्यतनत्व, परोक्षत्व और अतीतत्व" ये तीनों भी उत्पत्ति के होने पर होते हैं]

मूल = लङोऽनद्यतनत्वमतीतत्वञ्चार्थः । विधिलिङोऽर्थः कृतिसाध्यत्वे सति बलवदनिष्टाजनकेष्टसाधनत्वम् । 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ कृतिसाध्यबलवदनिष्टाजनकेष्ट-साधनयागकर्त्ता स्वर्गकाम इत्यर्थः ।

अनुवाद=लङ् [लकार] का अर्थ है—'अनद्यतन होना और अतीत होना'। विधिलिङ् का अर्थ है–कृति से साध्य होने पर, बलवान अनिष्ट का अनुत्पादक जो इष्ट का साधन ऐसा होना। [इस प्रकार] 'स्वर्गकामो यजेत' [स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ करे] इत्यादि में–कृति से साध्य बलवान् अनिष्ट का अनुत्पादक, इष्ट का साधन 'यज्ञ' उस के करने वाला स्वर्ग की इच्छा रखता है, ऐसा अर्थ हुआ।

मूल =आशीर्लिङ् लोटोरर्थो वक्त्रिच्छाविषयत्वम् । तेन 'घटमानय' इत्यत्र घटकर्मकमदिच्छाविषयानयनानुकूलकृतिमान् त्वमित्यन्वयबोधः ।

व्याप्यक्रियया व्यापकक्रियाया आपादानं लृङोर्थः, तात्पर्य्य-वशात् क्वचिद्भूतत्वं, क्वचिद्भविष्यत्वञ्च लृङा बोध्यते ।

अनुवाद=आशीर्लिङ् तथा लोट् [लकार] का अर्थ है–'वक्ता की इच्छा का विषय होना'। इसलिये 'घटमानय' [घट लाओ] इस प्रकार यहां "घट है कर्म जिस का ऐसी मेरी इच्छा का विषय जो [घट का] 'ले आना' उस के अनुकूल कृति वाला तू है" ऐसा अन्वय बोध होता है।

व्याप्यक्रिया से व्यापकक्रिया का 'आपादन' लृङ् का अर्थ है, तात्पर्य के वश से कहीं 'भूत होना' और कहीं 'भविष्य होना' लृङ् [लकार]से जाना जाता है।

मूल = सनः कर्त्तुरिच्छा अर्थः, सन्नुत्तराख्यातस्याश्रयत्वे लक्षणा, सविषयकार्थकप्रकृतिकाख्यातस्य आश्रयत्वे लक्षणाया 'घटं जानाति' इत्यादौ क्लृप्तत्वात् ।

अनुवाद=सन् [प्रत्यय] का अर्थ है—कर्त्ता की इच्छा, सन् है उत्तर में

जिस के ऐसे आख्यात [सन प्रत्ययान्त कहे हुए] की लक्षणा 'आश्रयत्व' में ['आधार होने' में की जाती] है, क्योंकि बिषय के साथ सम्बन्ध होना है और जिस का ऐसी प्रकृति वाले आख्यात का आश्रय होना पाया जाने पर 'घटं जानाति' [घट को जानता है] इत्यादि में लक्षणा की रचना होना पाया जाता है।

मूल = यङोऽर्थः पौनः पुन्यं, तच्च तदानीन्तनप्रकृत्यर्थसजातीयक्रियान्तरध्वंसकालीनत्वे सति वर्त्तमानादिकृतिविषयत्वम्, पापच्यते इत्यादौ तादृशकालीनत्वमेव यङा प्रत्याय्यते, आख्यातस्य चरमदलवाचकत्वात् न विशिष्टवाचकत्वं यङः, तदानीन्तनत्वञ्च स्थूलकालमादाय।

अनुवाद = यङ् [प्रत्यय] का अर्थ है 'पौनः पुन्य' [बार बार या फिर फिर होना] वह [पौनः पुन्य] भी उसी समय के स्वाभाविक अर्थ के जैसी [सजातीय] दूसरी क्रिया के विनाश का समय होने पर वर्त्तमान आदि कृति का विषय होना है। 'यङ् पापच्यते [बार बार पकाया जाता है] इत्यादि में—वैसे समय का होना ही 'यङ्' का अर्थ जाना जाता है, आख्यात का अन्तिमभाग वाचक होना पाया जाने से 'यङ् [प्रत्यय] को विशेषण से युक्त [विशिष्ट] का वाचक होना नहीं कहा, 'उस समय का होना' भी 'स्थूल काल' [मोटे हिसाब से अनुमान किए या ध्यान में आए हुए काल] का ग्रहण करते हुए है [काल मात्र की दृष्टि से नहीं]।

मूल = पूर्वकालीनत्वं कर्त्ता च क्त्वाऽर्थः। पूर्वत्वञ्च सन्निहितक्रियाऽपेक्षया बोध्यम्। तत्पूर्वकालीनत्वञ्च तत्प्रागभावकालवृत्तित्वं, तदुत्पत्तिकालीनध्वंसप्रतियोगिकाल-वृत्तित्वं वा। तेन 'भुक्त्वा व्रजति' इत्यत्र गमन-प्रागभावावच्छिन्नकालवृत्तिभोजनकर्त्रंभिन्नो व्रजतीत्यर्थः समानविभक्तिकताम् अभेदेन धर्मिवाचकत्वात्, अव्ययत्वं क्त्वापरविभक्तिलोपात्।

अनुवाद =‘क्त्वा’ [प्रत्यय] का अर्थ ‘पूर्वकालीन होना और कर्त्ता’ है ‘पूर्वत्व’ [पूर्व होना] भी [वर्त्तमानकाल के] साथ की क्रिया की अपेक्षा से जानना चाहिये। और उस के ‘पूर्व समय वाला होने’ का [अर्थ] उस का ‘प्रागभावकाल में पाया जाने वाला होना’ अथवा उस का ‘उत्पत्ति काल के विनाश के प्रतियोगी काल में पाया जाने वाला होना’ है। इसलिये ‘भुक्त्वा व्रजति’ [खा कर जाता है] इस प्रकार यहां गमन के प्रागभाव से अवच्छिन्न [युक्त] काल में पाया जाने वाला जो भोजन कर्त्ता उस से ‘व्रजति’ [‘जाता है’ इस क्रिया] का अभेद [हो जाता] है ऐसा अभिप्राय हुआ। क्योंकि समानविभक्तिद्वारा [अनेक अर्थात् एक से अधिक के] कर लिये गए अभेद से धर्मी [धर्म युक्त] का वाचक होना पाया जाता है, [और] अव्यय होने की दृष्टि से क्त्वा [प्रत्यय] से पर विभक्ति का लोप हो जाता है।

मूल = कालः तात्पर्य्यवशात् व्यवहिताव्यवहितसाधारणो बोद्धव्यः, तेन ‘पूर्वस्मिन् अब्दे गत्वाऽस्मिन्नब्दे समागतः’ इत्येतादृशप्रयोग सङ्गतिः।

अनुवाद = ‘काल’ [समय] को तात्पर्य के प्रभाव से— ‘व्यवहित’ [अतीत या अनागत] ‘अव्यवहित’ [वर्त्तमान] ‘साधारण’ [‘सामान्य’—इन तीन रूपों में] जानना चाहिये, इसलिये “पूर्वस्मिन् अब्दे गत्वा [पूर्व वर्ष में गया हुआ] अस्मिन् अब्दे समागतः [इस वर्ष में मिला है]” इसप्रकार ऐसे प्रयोग की सङ्गति होती है।

मूल = इच्छावान् तुमुनोऽर्थः। ‘भोक्तु व्रजति’ इत्यस्य भोजनेच्छावान् व्रजतीत्यर्थः। ‘भोक्तुमिच्छति’ इत्यत्र तु कर्त्तरि लक्षणा, भोजनकर्त्तारमात्मानमिच्छतीत्यर्थः। ‘सविशेषणे हि’ इति न्यायात् विशेषणे कृताविच्छान्वयः।

अनुवाद = ‘तुमुन्’ [प्रत्यय] का अर्थ ‘इच्छा वाला’ है। ‘भोजन के लिये जाता है’ ऐसे [वाक्य] का ‘भोजन की इच्छा वाला जाता है’ ऐसा अर्थ हुआ। परन्तु ‘भोजन चाहता है’ इसप्रकार यहां [तुमुन् प्रत्यय की] कर्त्ता में लक्षणा है, [क्योंकि] भोजन करने वाला [व्यक्ति] अपने लिये [भोजन] चाहता है, ऐसा तात्पर्य है।

'सविशेषणे हि' [विशेषण युक्त में ही] ऐसे न्याय से विशेषण [रूप] कृति में [इष्धातु के अर्थ] इच्छा का अन्वय होता है।

मूल = प्रकृतधात्वर्थकर्त्ता शतृशानचोः, धात्वर्थजन्यफलवान् कर्म शानचोऽर्थः। शत्रादीनां कर्त्ता वाच्यः, सविषयकार्थकप्रकृतिकानाम् आश्रयत्वे लक्षणा। एवं कर्त्तृकर्मकृतां तेन तेन रूपेण कर्त्ता कर्म च वाच्यम्। भावकृतान्तु नञ् घञादीनां प्रयोगसाधुत्वमात्रम्, धात्वर्थातिरिक्तस्य भावकृताऽनुपस्थापनादिति।

अनुवाद = प्रकरण में आए धातुके अर्थका कर्त्ता 'शतृ तथा शानच्' [का अर्थ] है। [कर्म प्रत्यय स्थल में] धातु के अर्थ से उत्पन्न हुए फल वाला कर्म 'शानच्' का अर्थ है। शत्रादि [प्रत्यय] कर्त्ता के वाच्य हैं। विषय युक्त होना है अर्थ जिन का ऐसी प्रकृति वालों [ज्ञा, इष् धातुओं में शतृ आदि] की 'आश्रय होने' में लक्षणा है। इसप्रकार कर्त्ता तथा कर्मके कियेगए उन उन रूपोंसे 'कर्त्ता और कर्म' [कर्त्ता के रूप में कृत् प्रत्यय का कर्त्ता और कर्म के रूप में उस कृत् प्रत्यय का कर्म] अभिधेयार्थ हैं। परन्तु भाव से किये गए नञ् तथा घञ् आदि [प्रत्ययों] का प्रयोग [भाषा का] शुद्ध होना मात्र है, क्योंकि भाव से किये गए [वे नञ् तथा घञ् आदि प्रत्यय] धात्वर्थ से भिन्न को उपस्थित नहीं करते, ऐसा [सिद्धान्त] है।

मूल = ननु 'नीलं घटमानय' इत्यादौ द्वितीयाद्वयश्रवणात् कर्मद्वयबोधापत्तिः, न तु विशिष्टस्य कर्मत्वमिति चेत्? न, अत्र विशेषणविभक्तिः साधुत्वाय। अथवा विशेषणविभक्तेरभेदोऽर्थः। अत्रायं विशेषः द्वितीयपक्षे वाक्यसमासयोः पर्यायता न घटते, वाक्ये 'नीलं घटम्' इत्यादौ अभेदस्य पदार्थत्वेन प्रकारत्वात् न संसर्गत्वम्, 'नीलघटम्' इत्यादौ कर्मधारये लक्षणाया अस्वीकारेणाभेदस्यापदार्थत्वेन संसर्गत्वात्। तथा च वाक्यसमासयोः पर्यायानुरोधेन षष्ठी समासे 'राजपुरुष

इत्यादौ षष्ठ्यर्थसम्बन्धे लक्षणा न घटते, सम्बन्धस्य संसर्गमर्यादालभ्यत्वात् ।

अनुवाद = प्रश्न होता है [ननु] कि 'नीला घड़ा लाओ' इत्यादि में दो द्वितीया [विभक्तियों] के श्रवण से दो कर्मों के ज्ञान की बात आ पड़ेगी, न कि विशिष्ट [विशेषण से युक्त अर्थात् वस्तु] के कर्म होने की ? [उत्तर देते हैं कि] ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहां विशेषण को विभक्ति [का स्वरूप देना केवल वाक्य] शुद्धि के लिये है [अतः यहां कर्म की दो संख्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता]। अथवा [ऐसा समझना चाहिये कि] विशेषण = विभक्ति का अर्थ भिन्न भिन्न होना नहीं है। 'विशेष' यहां यह है कि 'द्वितीय' [दूसरे] पक्ष में वाक्य तथा समास का 'पर्याय होना' [एक ही अर्थ का वाचक होना] नहीं जुड़ पाता, क्योंकि [जैसे] 'नीला घट' [नीलरूप विशेषणवाला घट] इत्यादि वाक्यमें—भिन्न भिन्न न होने [रूप धर्म], का पदार्थ होने की दृष्टि से 'प्रकार [विशेषण] होना' पाया जाता है 'संसर्ग' [संयोगसम्बन्ध] होना नहीं, [और] 'नीलघट' इत्यादि कर्मधारय में लक्षणा के न माने जाने से [इस प्रकार यहां] भिन्न भिन्न न होने [अभेद] के पदार्थ न होने की दृष्टि से 'संसर्ग होना' पाया जाता है । इसप्रकार वाक्य और समास में पर्याय के अनुरोधसे षष्ठीसमास में [षष्ठी तत्पुरुष में, जैसे] 'राजपुरुषः' [राज का पुरुष] इत्यादि में षष्ठी से अर्थ के सम्बन्धमें 'लक्षणा' नहीं जुड़ पाती, क्योंकि 'सम्बन्ध' का 'संसर्ग की मर्यादा' से उपलब्ध होना पाया जाता है ।

मूल = वस्तुतस्तु विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धस्य अभेदबोधकत्वव्युत्पत्तेः मुख्यार्थराजाभेदस्य बाधेन राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा । एवं बहुव्रीहौ चरमपदस्यान्यपदार्थे लक्षणा । तथा च द्वन्द्वकर्मधारयान्यसमासे सर्वत्र तत्तदर्थे लक्षणा ।

अनुवाद = वस्तुस्थिति यह है कि—विपरीत विभक्ति [रूप प्रतिबन्धक] द्वारा न रुके हुए के 'अभेद ज्ञान' कराने वाला होने की व्युत्पत्ति का मुख्य अर्थ जो 'राज' उस के अभेद की असम्मति से 'राज' पद की राज से सम्बन्ध रखने वाले [व्यक्ति] में लक्षणा होती है । इस प्रकार बहुव्रीहि [समास के स्थल] में अन्तिम

पद की [अपने से] भिन्न पदार्थ में लक्षणा होती है। इस रीति से 'द्वन्द्व' और 'कर्मधारय' [इन दोनों समासों] से अन्य समास में सभी जगह [जैसा जैसा कि सम्बन्ध जुड़ता हो] उस उस अर्थ में लक्षणा होती है।

मूल = एवं नञार्थोऽभावः। 'अघटं भूतलम्' इत्यादौ घटभिन्ने लक्षणा। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ बलवदनिष्टजनके लक्षणा।

अनुवाद = इस प्रकार 'नञ्' का अर्थ 'अभाव' है। 'अघटं भूतलम्' [घट शून्य भूतल] इत्यादि में 'घट से भिन्न' [भूतल] में लक्षणा होती है।

'न कलंजं भक्षयेत्' [कलञ्ज को न खाए] इत्यादि में बलवान् अनिष्ट के कारण [कलञ्ज अर्थात् पक्षी विशेष के मांस] में लक्षणा होती है।

मूल = क्रियासङ्गतस्य एवकारस्यात्यन्तायोगव्यवच्छेदोऽर्थः, यथा 'नीलं सरोजं भवत्येव'। विशेषणसङ्गतस्य अयोगव्यवच्छेदः, यथा 'शङ्खः पाण्डुर एव' इति। विशेष्यसङ्गतस्य अन्ययोगव्यवच्छेदः, यथा 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादौ। एवं दिशा सर्वत्र बोध्यम्। इति महामहोपाध्यायजगदीशभट्टाचार्यविरचितं 'तर्कामृतं' समाप्तम्।

अनुवाद = क्रिया के साथ जुड़ा जो 'एवकार' [एव] उस का 'निरत्यय अयोग से रहित होना' [ऐसा] अर्थ है, जैसे 'नील कमल होता ही है'। विशेषण के साथ जुड़े [एवकार] का [केवल] अयोगसे रहित [होना अर्थ है] जैसे 'शङ्ख श्वेत ही है' इस प्रकार [प्रतीत होना]। विशेष्य के साथ जुड़े [एवकार] का अन्य से सम्बन्ध का व्यवच्छेद [ऐसा अर्थ है] जैसे कि 'अर्जुन ही धनुष धारी है' इत्यादि में। ऐसे नियम से सभी जगह जान लेना चाहिये।

"इस प्रकार महामहोपाध्यायजगदीशभट्टाचार्य विरचित [यह] 'तर्कामृत' [नामक ग्रन्थ] पूर्ण हुआ।॥"

गीता-प्रवचन

विनोबा

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

Dina Nath Kaul
Incharge.
Govt Basic Teachers
Training Centre
DUJANA (ROHTAK)

गीता-प्रवचन

विनोबा

•

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

•

१९५४

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

आठवां संस्करण : मई, १९५४

कुल छपी प्रतियां : १,४६,०००

मूल्य
अजिल्द : एक रुपया
सजिल्द : पौने दो रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
देहली

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोंका हिन्दी अनुवाद हिन्दी बोलनेवालोंके लिए प्रकाशित हो रहा है, इससे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्य-कर्त्ताओंके सामने दिये गए हैं और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमें तात्त्विक विचारोंका आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसी वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामकी बातोंका ही जिक्र किया गया है।

यहां श्लोकोंके अक्षरार्थकी चिन्ता नहीं, एक-एक अध्यायके सारका चिन्तन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गांववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंसे वर्णन नहीं कर सकता हूं। गीताका मुझपर अनन्त उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूँ और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ, जैसा मैं समझा हूं, इन प्रवचनोंमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूं कि यह अनुवाद हरेक घरमें, जहां हिन्दी बोली जाती है, पहुंचे और घर-घरमें इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

--विनोबा

परंधाम, पवनार
१०-४-४७

प्रकाशकीय

पहला संस्करण

गीता-प्रवचन विनोबाजीके गीता-संबंधी प्रवचनोंका संग्रह है। आजसे पन्द्रह साल पहले, सन् १९३२ में धूलिया (खानदेश) जेलमें उन्होंने गीताके प्रत्येक अध्यायपर एक-एक प्रवचन दिया था। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध देशभक्त व लेखक साने गुरुजीने उन्हें उसी समय लिपिबद्ध कर लिया था। ये प्रवचन मूल मराठी में किये गए थे और प्रकाशित होने-पर बहुत ही लोकप्रिय हुए। मराठी साहित्यमें आज गीतापर यह अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता, सुबोधता और सरसता इसके प्रधान गुण हैं। विनोबाका व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरणका त्रिवेणी-संगम है। इसमें जो डुबकी लगायेंगे, वे अवश्य कृतकृत्य होंगे।

यह अनुवाद मूल मराठीकी स्वयं विनोबाजी द्वारा संशोधित प्रतिसे किया गया है।

१९४७

दूसरा संस्करण

हमें खुशी है कि पहले संस्करणकी यह संशोधित आवृत्ति हम पाठकोंको भेंट कर रहे हैं। हमारे अनुरोधपर एवं विनोबाजीके आदेश-से उनके शिष्य श्री दत्तोबा दस्ताने व कुन्दर दिवाणने पहले संस्करणको मूल मराठीसे मिलाकर बड़े परिश्रमसे अर्थ-संबंधी संशोधन सुझाये थे और भाषा-संबंधी अनेक सुझाव दिये थे, जिनसे लाभ उठाकर यह संशोधित संस्करण तैयार किया गया है। श्री हरिभाऊजी भी इसे एक बार पूरी तरह देख गए हैं।

१९४८

तीसरा संस्करण

मराठी गीता-प्रवचनकी पिछले दिनों नवीन आवृत्ति निकली थी। उसमें प्रारम्भिक अनुक्रमणिकाके साथ अन्तमें 'प्रकरणोंकी अनुक्रमणिका' भी दी गई थी। ये दोनों इस तीसरे संस्करणमें जोड़ दी गई हैं, जिससे पाठकोंको पुस्तकमें अभीष्ट विषय जल्दी खोज लेने तथा पुस्तककी शृंखला एक साथ एक ही दृष्टिमें समझ लेनेमें सहायता मिलेगी।

एक शंकाका समाधान करते हुए पूज्य विनोबाकी कलमसे गीता-प्रवचनके संबंधमें कुछ विचार सहज प्रवाहमें निकल गए थे। पाठकोंके लाभार्थ उन्हें भी यहां दे दिया गया है। सर्वोदय-यात्रा के मांडवी मुकाम (हैदराबाद राज्य) से १६-३-५१ के एक पत्रमें वे लिखते हैं—

गीता-प्रवचनमें सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'[१] उसके और आगेका ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापर से कहा गया है। गीताईकोष[१]—गीताई[१]का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालोंके लिए है। तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह संक्षेपमें सांगोपांग कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आवेंगी, और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुंचा भी है, परन्तु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रवाहमें खिचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीलाका ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

"यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता प्रवचन' को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवांतर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद

---

[१] विनोबाकृत ग्रन्थ

दोहराता रहता है; ऐसा इसमें भी किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी जैसा सहृदय और 'लांगहेंड' से ही 'शार्टहेंड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना, उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति हो गई होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजीको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला। मैं समझता हूं, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ़ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।"

सितम्बर, १९५१

छठा संस्करण

'गीता प्रवचन' के तीन संस्करण (३८००० प्रतियां) विनोबाजी की उत्तर भारतकी भूदान-यज्ञ-यात्रामें हाथों हाथ बिक गए। पिछला पांचवां संस्करण २० हजारका छापा गया था। यह ७-८ मासमें निकल गया। कुल मिलाकर ४६ हजार प्रतियां खप गई। अब छठा संस्करण ५५ हजार प्रतियोंका छापा जा रहा है। यात्रामें इसे श्री विनोबाजी तथा लक्ष्मीनारायण भारतीय अच्छी तरह देख गये हैं और इसकी अशुद्धियां ठीक कर दी गई हैं। यह हर्ष की बात है कि विनोबाजीकी यात्राके प्रवाहके साथ इस ग्रंथका प्रसार भी गंगाके विस्तारके सदृश व्यापक होता जा रहा है।

—प्रकाशक

अक्तूबर, १९५२

विषय-क्रम

गीता-प्रवचन

पहला अध्याय

(१)

प्रिय भाइयो,

आजसे मैं श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें कहनेवाला हूं। गीताका व मेरा संबंध तर्कसे परे है। मेरा शरीर मांके दूधपर जितना पला है उससे कहीं अधिक मेरा हृदय व बुद्धि, दोनों गीताके दूधसे पोषित हुए हैं। जहां हार्दिक संबंध होता है, वहां तर्ककी गुंजाइश नहीं रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा व प्रयोग, इन दो पंखोंसे ही मैं गीता-गगनमें यथाशक्ति उड़ान मारता रहता हूं। मैं प्रायः गीताके ही वातावरणमें रहता हूं। गीता यानी मेरा प्राण-तत्त्व। जब मैं गीताके संबंधमें किसीसे बात करता हूं तब गीता-सागरपर तैरता हूं, और जब अकेला रहता हूं तब उस अमृत-सागरमें गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हूं। इस गीता-माताका चरित्र मैं हर रविवारको आपको सुनाऊं, यह तय हुआ है।

गीताकी योजना महाभारतमें की गई है। गीता महाभारतके मध्य-भागमें, एक ऊंचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारत-पर पड़ रहा है। एक ओर छः पर्व और दूसरी ओर बारह पर्व, इनके मध्य-भाग में, उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना व दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भाग में गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमें एक-रूप हो गये हैं। राम, सीता, धर्म, द्रौपदी, भीष्म, हनुमान इत्यादि रामायण-महाभारतके चरित्रोंसे सारा भारतीय जीवन आज हजारों वर्षोंसे अभिमंत्रित-सा हुआ है। संसारके इतर महा-काव्योंके पात्र इस तरह लोक-जीवनम घुले-मिले नहीं दिखाई देते। इस

दृष्टिसे महाभारत व रामायण निःसन्देह अद्भुत ग्रंथ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यासदेवने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों, चरित्रों व चारित्र्यों-का यथावत् चित्रण बड़ी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नहीं है; लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस संसारमें कोई नहीं है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रहा है। इसमें जहां भीष्म-युधिष्ठिर जैसोंके दोष दिखाये हैं, तो दूसरी ओर कर्ण दुर्योधनादिके गुणोंपर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले तंतुओंका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान व्यास जगत्‌के---विराट् संसारके---छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते हैं। व्यासदेवके इस अत्यन्त अलिप्त व उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रंथ मानो एक सोनेकी बड़ी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जाय।

व्यासदेवने इतना बड़ा महाभारत लिखा, परन्तु उन्हें खुद अपना कुछ कहना था या नहीं? अपना कोई खास सन्देश किसी जगह उन्होंने दिया है? किस स्थानपर व्यासदेवकी समाधि लगी है? स्थान-स्थानपर तत्वज्ञान व उपदेशोंके जंगल-के-जंगल महाभारतमें आये हैं, परन्तु इस सारे तत्त्वज्ञानका, उपदेशका और समूचे ग्रंथका सारभूत रहस्य भी उन्होंने कहीं लिखा है? हां, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्गीतामें निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रधान सिखावन व उनके मननका सार-संचय है। इसीके आधारपर 'व्यास, मैं मुनियोंमें हूं' यह विभूति अर्थपूर्ण साबित होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे उपनिषद्‌की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिषदोंका भी उपनिषद् है; क्योंकि समस्त उपनिषदोंको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्‌ने अर्जुनके निमित्तसे संसारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिन्दू-धर्मका, एक छोटा ही, परन्तु मुख्य ग्रंथ है।

यह तो सभी जानते हैं कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान्

सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गई। भगवान् और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गए कि लोग उन्हें भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण--इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया, मानो तीनोंकी समाधि लग गई। गीताके अभ्यासको ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

(२)

कुछ लोगोंका खयाल है कि गीताका आरम्भ दूसरे अध्यायसे समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशकी शुरूआत होती है तो वहींसे आरम्भ क्यों न समझा जाय ? एकने तो मुझे कहा--"भगवान्ने अक्षरोंमें अकारको ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' के आरम्भमें अनायास अ-कार आगया है। अतः वहींसे आरम्भ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड़ दें तो भी यहांसे आरम्भ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उसके पहले के प्रास्ताविक भागका महत्त्व तो है ही। अर्जुन किस भूमिका-पर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमें न आता।

कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। उनके मतमें गीता केवल कर्मयोग ही नहीं बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करनेपर इस कथनकी भूल हमें दीख जायगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लड़नेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाके लायक बनाया ? घबड़ाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी ? यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आ सकती। अर्जुन, जो लड़ाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नहीं। सैकड़ों लड़ाइयोंमें अपना जौहर दिखलानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण व कर्ण के दांत खट्टे कर दिये थे। सदा विजयी

व सब नरोंमें एक ही सच्चा नर है, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोमसे टपकी पड़ती थी। अर्जुनको छेड़नेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए क्लैव्यका आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परन्तु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हें दूसरे ही मुद्दोंको लेकर ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पड़े। तब यह निश्चित है कि महज क्लैव्य-निरसन जैसा सरल तात्पर्य गीताका नहीं है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। मेरी-दृष्टिसे यह भी कथन ठीक नहीं है। इसकी छानबीन करनेके लिए पहले हमें अर्जुनकी भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्याय और दूसरे अध्यायमें जा पहुंचनेवाली उसकी खाड़ीसे हमें बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमें खड़ा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर व कर्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमें थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नहीं पाया था। कम-से-कम मांगका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसोंकी मध्यस्थता, दोनों बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थितिमें अनेक देशोंके राजाओंको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराके वह रणाँगणमें खड़ा है और वीरोचित उत्साहसे श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कीजिए, जिससे मैं एकबार उन लोगोंके चेहरे तो देख लूं, जो मुझसे लड़नेके लिए तैयार होकर आये हैं।" कृष्णने ऐसा ही किया। अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है, तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-संबंधियोंका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि—दादा, बाप, लड़के, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियोंकी चार पीढ़ियां मरने-मारनेके अन्तिम निश्चयसे वहां एकत्र हुई हैं। यह बात नहीं कि इससे पहले उसे इन बातोंका अन्दाज़ न हुआ हो। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ जुदा ही प्रभाव मनपर पड़ता है। उस सारे स्वजन-समूहको देखकर उसके हृदयमें एक उथल-पुथल मचती है। वह खिन्न हो जाता है। आजतक उसने अनेक युद्धोंमें असंख्य वीरोंका संहार किया था। उस समय वह खिन्न नहीं हुआ था, उसका गांडीव हाथसे छूट

नहीं पड़ा था, शरीरम कंप नहीं होने लगा था, उसकी आंखें भीनी नहीं हो गई थीं । तो फिर इसी समय ऐसा क्यों हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमें अहिंसा-वृत्ति उदय हो गई थी ? नहीं, यह तो केवल स्वजना-सक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते तो उसने शत्रुओंके मुंड गेंदकी तरह उड़ा दिये होते । परन्तु इस आसक्ति-जनित मोहने उसकी कर्त्तव्य-निष्ठाको ग्रस लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया । कर्त्तव्यनिष्ठ मनुष्यके मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्त्तव्यच्युति उसे सहन नहीं होती । वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है । यही हाल अर्जुनका हुआ । अब वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमें एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाजपर तरह-तरह के संकट आवेंगे—आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा ।

यहां मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ों अपराधियों को फांसीकी सजा दी थी। परन्तु एक दिन खुद उसीका लड़का खूनके जुर्ममें उसके सामने पेश किया गया। उसपर खून का इल्जाम सावित हुआ व खुद अपने ही लड़केको फांसीकी सजा देनेकी नौबत उसपर आ गई। पर तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"फांसीकी सजा बड़ी अमानुष है । ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नहीं देता । इससे अपराधीके सुधारकी आशा नष्ट हो जाती है । खून करने-वालेने भावनाके आवेशमें, जोश व उत्तेजनामें, खून कर डाला। परंतु उसकी आंखोंपरसे खूनका जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको संजीदगीके साथ फांसीके तख्तेपर चढ़ाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए बड़ी लज्जाकी बात है, बड़ा कलंक है," आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लड़का सामने न आया होता तो न्यायाधीश साहब बेखटके जिंदगीभर फांसीकी सजा देते रहते । किन्तु न्यायाधीश अपने लड़केके ममत्वके कारण ऐसी बातें करने लगे । वह आवाज आंतरिक नहीं थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लड़का है' इस ममत्वमेंसे वह वाङ्मय निकला था ।

अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई । उसने जो दलील दी थीं, वे गलत नहीं थीं । पिछले महायुद्धमें सारे संसारने ठीक इन्हीं परिणामोंको प्रत्यक्ष देखा है । परन्तु सोचनेकी बात यह है कि वह अर्जुनका तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) नहीं, किंतु कोरा प्रज्ञावाद था । कृष्ण इसे जानते थे । इसलिए उन्होंने उनपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया । अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता तो उसे किसीने कितना ही अवांतर ज्ञान-विज्ञान बताया होता, तो भी असली बातका जवाब मिले बिना उसका समाधान न हुआ होता। परन्तु सारी गीतामें इस मुद्देका कहीं भी जवाब नहीं दिया गया, फिर भी अर्जुनका समाधान हुआ है । इस सबका भावार्थ यही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नहीं थी, वह युद्ध-प्रवृत्त ही था । युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्त्तव्य था । उसे वह मोहवश होकर टालना चाहता था, और गीताका मुख्यतः इस मोहपर ही गदा-प्रहार है ।

(३)

अर्जुन अहिंसाकी तो क्या संन्यासकी भी भाषा बोलने लगा था । वह कहता है—इस रक्त-लांछित क्षात्र-धर्मसे संन्यास ही अच्छा है । परन्तु क्या अर्जुनका वह स्वधर्म था ? उसकी वह वृत्ति थी क्या ? अर्जुन संन्यासीका वेश तो बड़े मजेमें धारण कर सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे बना सकता था ? संन्यासके नामपर यदि वह जंगलमें जा रहा होता तो वहां हिरन मारना शुरू कर देता । अतः भगवान्‌ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तुम यह कह रहे हो कि मैं लड़ूंगा नहीं, सो तुम्हारा भ्रम है। आजतक जो तुम्हारा स्वभाव बना हुआ है वह तुम्हें लड़ाये बिना कभी नहीं माननेका ।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा । परन्तु स्वधर्म कितना ही विगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है । इसमें अभिमान-का कोई प्रश्न नहीं है । यह तो विकासका सूत्र है । स्वधर्म ऐसी वस्तु

नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे बित्ते भरका होता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' इस गीता-वचनमें धर्म शब्दका अर्थ हिन्दू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहां जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं, उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नहीं है। आजका दस वर्ष बाद नहीं रहनेका। चिंतन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तियां बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकड़कर कुछ भी नहीं करना है।

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूं। सूर्य मुझे वंदनीय भी है। परन्तु इसलिए यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उसके पास जाना चाहूंगा तो जलकर खाक हो जाऊंगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिलकुल तुच्छ हो, वह स्वयंप्रकाशी न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेका सामर्थ्य मुझमें न आ जायगा, तबतक सूर्यसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंको यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती हैं, तुम दूधमें रहने चलो', तो क्या मछलियां उसे मंजूर करेंगी? मछलियां तो पानीम ही जी सकती हैं, दूधमें मर जायंगी।

दूसरेका धर्म सरल मालूम हो, तो भी उसे ग्रहण नहीं करना है बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक संभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले तो वह ढोंग होगा व भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी। संसारका बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगलमें जानेवाला पहले वहां छोटी-सी कुटिया बनावेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड़ लगावेगा। ऐसा करते-करते वहां भी उसपर सवाया संसार खड़ा करनेकी नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मनमें वैराग्यवृत्ति हो, तो फिर संन्यास भी कौन कठिन बात है? संन्यासको आसान बनानेवाला स्मृति-वचन तो है

ही । परन्तु खास बात वृत्तिकी है । जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी, उसीके अनुसार उसका धर्म होगा । श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन यह प्रश्न नहीं है । विकास सच्चा होना चाहिए । परिणति वास्तविक होनी चाहिए ।

परन्तु बाज भावुक व्यक्ति पूछते हैं--"यदि युद्ध-धर्मसे संन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है, तो फिर भगवान्‌ने अर्जुनको सच्चा संन्यासी ही क्यों न बनाया ? उनके लिए क्या यह असंभव था ?" उन्हें असंभव तो कुछ भी नहीं था। परन्तु उसमें अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता ? परमेश्वरने स्वतन्त्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे, इसीम मजा है । छोटे बच्चे खुद तस्वीरें निकालनेमें आनन्द मानते हैं। उन्हें यह पसन्द नहीं आता कि कोई उनसे हाथ पकड़कर तस्वीर खिचाये। शिक्षक यदि बच्चोंके सवाल हल कर दिया करें तो फिर बच्चों की बुद्धि बढ़ेगी कैसे ? अतः मां-बाप व गुरुका काम सिर्फ सुझाव करना है । परमेश्वर अन्दरसे हमें सुझाता रहता है । इससे अधिक वह कुछ नहीं करता। कुम्हारकी तरह भगवान् ठोंक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरेकका मटका तैयार करे तो उसमें सार ही क्या ? हम मिट्टीकी हंडिया तो हैं नहीं, हम तो चिन्मय हैं ।

इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमें आगई होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममें बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-संमूढ़ हो गया था । स्वधर्मके विषयमें उसके मनमें मोह पैदा हो गया था । श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है । इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवान्‌ने पूछा है--"अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न ?" और अर्जुन जवाब देता है--"हां, भगवान्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका बोध हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसंहारको मिलाकर देखें तो मोह-निरसन ही उसका फलित निकलता है। गीता ही नहीं, सारे महाभारत-का यही उद्देश्य है। व्यासजीने महाभारतके प्रारम्भमें ही कहा है कि लोक-हृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मैं यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हूं।

(४)

आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आई है; इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही, परन्तु इससे और भी एक उपकार है । अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यन्त ऋजुताका पता चलता है । खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु अथवा सरल स्वभाववाला' है । उसके मनमें जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने दिल खोलकर भगवान्के सामने रख दिये । मनमें कुछ भी छिपा नहीं रखा और वह अंतको श्रीकृष्णकी शरण गया । सच पूछिये तो वह पहलेसे ही कृष्णकी शरण था । कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोड़ोंकी लगाम उनके हाथोंमें पकड़ाई, तभीसे उसने अपनी मनोवृत्तियोंकी लगाम भी उनके हाथोंमें सौंप देने की तैयारी कर ली थी ! आइए, हम भी ऐसा ही करें । 'अर्जुनके पास तो कृष्ण थे । हमें कृष्ण कहां मिलेंगे', ऐसा हम न कहें। 'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक समझकी उलझन में हम न पड़ें । अंतर्यामीके रूपमें कृष्ण हम प्रत्येकके हृदयमें विराजमान है । हमारे सबसे अधिक निकट वही है । तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहें—"भगवन्, मैं तेरी शरण हूं, तू मेरा अनन्य गुरु है । मुझे उचित मार्ग दिखा । जो मार्ग तू बतायेगा, मैं उसीपर चलूंगा ।" यदि हम ऐसा करेंगे तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनावेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा ।

रविवार, २१-२-३२

दूसरा अध्याय

(५)

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विषादका भी योग बन जाता है । इसीको हृदय-मंथन कहते हैं। गीताकी इस भूमिकाको मैंने उसके संकल्पकारके अनुसार अर्जुन-विषाद-योग जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए विषाद-योग जैसा सर्वसाधारण नाम दिया है; क्योंकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्त-मात्र है । यह न समझना चाहिए कि पंढरपुर (महाराष्ट्र) के पांडुरंगका अवतार सिर्फ पुंडलीकके ही लिए हुआ; क्योंकि हम देखते हैं कि पुँडलीकका निमित्त लेकर वह हम जड़ जीवोंके उद्धारके लिए आज हजारों वर्षों से खड़ा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यों न हो, हम सबके लिए हुई है । अतः गीताके पहले अध्यायके लिए विषाद-योग जैसा साधारण नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीता-रूपी वृक्ष यहां से बढ़ते-बढ़ते अंतके अध्यायमें प्रसाद-योग रूपी फलको प्राप्त होनेवाला है । ईश्वरकी इच्छा होगी तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमें वहांतक पहुंच जायंगे ।

दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरम्भ होता है और शुरूमें ही भगवान् जीवनके महासिद्धान्त बता रहे हैं । इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्व पट जायं कि जिनके, आधारपर जीवनकी इमारत खड़ी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले 'सांख्य-बुद्धि' शब्दका अर्थ मैं करता हूं—जीवनके मूलभूत सिद्धांत । इन मूल सिद्धांतोंको अब हमें देख जाना है । परन्तु इसके पहले यदि हम इस 'सांख्य' शब्दके प्रसंगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोंके अर्थका थोड़ा स्पष्टीकरण कर लें तो अच्छा होगा ।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दोंको नये अर्थोंमें लिखनेकी आदी है । पुराने शब्दोंपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रांतिकी अहिंसक प्रक्रिया है । व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्धहस्त हैं । इससे गीताके शब्दोंको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अर्थ ले सके । अपनी-अपनी भूमिका परसे ये सब अर्थ सही हो सकते हैं, और मैं समझता हूँ कि उनके विरोधकी आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतन्त्र अर्थ भी कर सकते हैं ।

इस सिलसिलेमें उपनिषद्में एक सुन्दर कथा आती है । एक बार देव, दानव और मानव, तीनों प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुंचे । प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया 'द' । देवोंने कहा—"हम देवता लोग कामी हैं, हमें विषयभोगोंका चस्का लग गया है, अतः हमें ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है ।" दानवोंने कहा—"हम दानव बड़े क्रोधी और दयाहीन हो गए हैं, हमें 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो ।" मानवोंने कहा—"हम मानव बड़े लोभी और धन-संचयके पीछे पागल हो गए हैं, हमें 'द' के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है ।" प्रजापतिने सभीके अर्थोंको ठीक माना; क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवोंसे प्राप्त किया था । गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमें ध्यानमें रखनी चाहिए ।

(६)

दूसरे अध्यायमें जीवनके तीन महा-सिद्धान्त पेश किये गए हैं— (१) आत्माकी अमरता और अखंडता, (२) देहकी क्षुद्रता, और (३) स्वधर्मकी अबाध्यता । इनमें स्वधर्मका सिद्धांत कर्त्तव्य-रूप है और शेष दो ज्ञातव्य हैं । पिछले अध्यायमें मैंने स्वधर्मके सम्बन्धमें कुछ बताया है । यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है । स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता । ऐसी बात नहीं है कि हम आकाशसे गिरे और धरतीपर चलने लगे । हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अड़ौसी-पड़ौसी थे । ऐसे इस प्रवाहमें हमारा जन्म होता

है । अतः जिन मां-बापकी कोखसे मैं जन्मा हूं, उनकी सेवा करनेका धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाजमें मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है; क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते हैं और कहते हैं कि जैसे पत्नीका सम्बन्ध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-सम्बन्ध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण—दूसरे दर्जेकी—मालूम होती है। मैं स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हूं। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममें करना बाकी नहीं रहा। वह पहलेसे ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्‌में हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। स्वधर्मको टालते जाना मानो 'स्व' को ही टालने जैसी आत्मघातकता है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अतः यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नहीं छोड़ना चाहिए—यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धांत स्थिर होता है।

स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परन्तु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष—मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें कांटे बखेरनेवाले इन मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी, जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखाई देती है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मैं और मेरे शरीरसे ताल्लुक रखनेवाले लोग-बाग, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति—फैलावकी सीमा है। इस दायरेके बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन हैं। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खड़ी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देहबुद्धिके इस दुहरे पेचमें पड़कर हम तरह-तरहके छोटे

बाड़े बनाने लगते हैं। प्रायः सब लोग इसी कार्यक्रममें लगे रहते हैं। इनमें किसीका बाड़ा बड़ा तो किसीका छोटा ; परन्तु है आखिर वह बाड़ा ही। इस शरीरके चमड़ेके जितनी ही उसकी गहराई। कोई कुटुम्बाभिमानका बाड़ा बनाकर रहता है तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक बाड़ा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा, ऐसे एक-दो नहीं, अनेक बाड़े बने हुए हैं। जिधर देखिए उधर ये बाड़े-ही बाड़े। हमारे इस जेलमें भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके बाड़े बने हुए हैं, मानो इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। परन्तु इसका नतीजा क्या होता है ? नतीजा एक ही। हीन-विकारोंके जंतुओंकी बाढ़ और स्वधर्म-रूपी आरोग्यका नाश।

(७)

ऐसी दशामें स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धांत जाग्रत रखने पड़ते हैं। एक तो यह कि मैं यह मरण-शील देह नहीं हूं, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपड़ी है, और दूसरा यह कि मैं कभी न मरनेवाला अखंड और व्यापक आत्मा हूं। इन दोनोंको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पड़ता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका अवतार बादको। कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञान संबंधी ये श्लोक आरंभमें ही क्यों ? परन्तु मुझे लगता है कि गीतामें यदि कोई श्लोक ऐसे हैं जिनकी जगह बिलकुल नहीं बदली जा सकती तो वे यही श्लोक हैं।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमें अंकित हो जाय तो फिर स्वधर्म बिलकुल भारी नहीं पड़ेगा। यही बात नहीं, किन्तु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पड़ेगा। आत्मतत्त्वकी अखंडता और देहकी क्षुद्रता, इन बातोंको समझ लेना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि ये दोनों सत्य वस्तुएं हैं। परन्तु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमें उनका मंथन करना होगा। इस चामके महत्वको घटाकर हमें आत्माको महत्व देना सीखना होगा।

देखिए, यह देह तो पल-पलमें बदलता रहता है । बचपन, जवानी और बुढ़ापा—इस चक्रका अनुभव किसे नहीं है ? आधुनिक शास्त्रज्ञोंका तो कहना है कि सात सालमें शरीर बिलकुल बदल जाता है और खूनकी पुरानी एक बूंद भी शेष नहीं रहती । हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमें पुराना शरीर मर जाता है । और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मियाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे । बहुत वर्षोंकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी मांसे मिला तो मां उसे पहचान न सकी, ऐसे किस्से हम सुनते हैं । तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मर रहा देह ही तेरा रूप है ? रात-दिन जहां मल-मूत्रकी नालियां बहती हैं और तेरे जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जानेपर भी जिसका अस्वच्छता-का व्रत छूटता ही नहीं है, क्या वही तू है ? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला ; वह रोगी, तू उसे दवा-पानी देनेवाला; वह साढ़े तीन हाथ की जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी; वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला; वह मरनेवाला और तू उसके मरणका व्यव-स्थापक । तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योंकर बनता है ? यह क्या कहता है कि इस देहसे जितने संबंध रखते हैं वही मेरे हैं । और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करता है ? भगवान् पूछते हैं कि "अरे, देहका नाश क्या शोक करने जैसी बात है ?"

देह तो कपड़ेकी तरह है । पुराने फट जाते हैं, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते हैं । यदि कोई एक ही शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता, तो आत्माकी बुरी गत होती । सारा विकास रुक जाता, आनन्द हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मंद हो जाती । अतः देहका नाश शोचनीय नहीं हो सकता । हां, यदि आत्माका नाश हो सकता होता, तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती । पर वह तो अविनाशी है, वह मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है । उसपर अनेक कलेवर आते और जाते हैं । इसलिए देहके नाते-रिश्तोंके चक्करमें पड़कर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये हैं, ऐसे भेद या टुकड़े करना बिलकुल अनुचित है । देखो, यह सारा ब्रह्मांड मानों एक सुन्दर बुनी हुई चादर है । कोई छोटा बच्चा

जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकड़े काट देता है, वैसे ही इस देहके बराबर कैंची लेकर उस विश्वात्माके टुकड़े करना कितना लड़कपन और कितनी हिंसा है !

सचमुच यह बड़े दु:खकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोटे-बड़े दलों, फिरकों और जातियोंकी चारों ओर भरमार दिखाई देती है । और मरनेका तो इतना डर हमारे मनमें घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कहीं दूसरी जगह हो। इसमें कोई शक नहीं कि दीर्घकालीन परतन्त्रताका ही यह परिणाम है, परन्तु यह बात भूल जानेसे भी काम नहीं चलेगा कि वह इस परतन्त्रताका एक कारण भी है ।

मरणका तो शब्द भी हमें नहीं सुहाता। मरणका नाम ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेव को बड़े दु:खके साथ लिखना पड़ा है--

"मर शब्द नहीं हैं सहते, मर जाते हैं तो रोते ।"

फिर जब कोई मर जाता है, तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते हैं ? मानो वह हमारा एक कर्तव्य ही हो ! यहां तक कि किरायेसे रोनेवाले बुलाने तक बात जा पहुंची है । मृत्यु निकट आ जानेपर भी रोगीको नहीं कहेंगे। यदि डाक्टर ने कह दिया है कि यह नहीं बचेगा, तो भी रोगीको अन्धकार-में रखेंगे। खुद डाक्टर भी साफ-साफ नहीं कहेगा, आखिर दमतक पेटमें दवाकी शीशियां उंडेलता रहेगा । इसके बजाय यदि सत्य बात बता-कर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो ! किंतु उन्हें डर यह लगता है कि कहीं इस धक्केसे यह भांडा पहले ही न फूट जाय। परन्तु, भला, क्या निश्चित समयसे पहले यह भांडा फूटनेवाला था ? और फिर जो भांडा दो घंटे बाद फूटनेवाला है, वह थोड़ा पहले फूट गया, तो उससे बिगड़ा क्या ? इसके मानी यह नहीं कि हम कठोर-हृदय और प्रेमहीन हो जांय । किन्तु देहासक्ति प्रेम नहीं है । उलटे देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नहीं होता ।

जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह मालूम हो जायगा कि देह तो सेवाका एक साधन है और तब देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी । परन्तु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे हैं । हम यह

बात भी भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देहको सम्हालनेकी एवं उसे खिलाने-पिलानेकी आवश्यकता यदि है, तो वह स्वधर्माचरणके लिए । केवल जीभके चोचले पूरा करनेके लिए उसकी जरूरत नहीं। चम्मचसे चाहे हलवा परोसो चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं । ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए—उसे रस-ज्ञान तो होना चाहिए, पर सुख-दुःख नहीं। शरीरका भाड़ा शरीरको चुका दिया, बस खतम। चर्खेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देनेकी आवश्यकता है । इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है । इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करें तो मूलतः क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है ।

लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममें न लाकर उसीमें डूब जाते हैं और आत्मसंकोच कर लेते हैं । इससे यह देह, जो पहलेसे ही न-कुछ है, और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है । इसलिए सन्तजन दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि 'देह और देह-संबंध निंद्य हैं, श्वान, सूकर आदि वन्द्य हैं।" अरे, तू इस देहकी, और देहसे जिनका संबंध हुआ है, उन्हींकी दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोंको भी पहचानना सीख। सन्त इस प्रकार हमें व्यापक होनेकी सीख देते हैं। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रके अतिरिक्त दूसरोंके पास अपनी आत्मा कुछ भी ले जाते हैं क्या ? 'जीवमें जीव समाये । आत्मामें आत्मा मिलाये'—ऐसा हम करते हैं क्या ? अपने आत्म-हंसको इस पींजरेके बाहरकी हवा खिलाते हैं क्या ?—क्या कभी तेरे मनमें ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरेको छेदकर कल मैंने नये दस दोस्त बनाये। आज पन्द्रह हुए। कल पचास होंगे । और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मैं विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूंगा ? हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोंको पत्र लिखते हैं, इसमें क्या विशेषता है ? किंतु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नहीं, चोर कैदी—को पत्र लिखेंगे क्या ?

हमारा आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाता रहता है । वह चाहता है कि सारे जगतको गले लगालें। परन्तु हम उसे कोठरीमें बन्द कर देते

हैं। आत्माको हमने कदी बना डाला है । उसकी याद तक हमें नहीं होती। सबेरेसे लेकर शामतक हम देहकी ही सेवामें लगे रहते हैं। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा-ताजा हुआ या कितना दुबला हो गया। मानो संसारमें कोई दूसरा आनन्द ही नहीं। भोग और स्वादका आनन्द तो पशु भी लेते हैं। अब त्याग और स्वाद-भंगका आनन्द भी देखेगा या नहीं ? स्वयं भूखसे पीड़ित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्यको देनेमें क्या आनन्द है—इसका अनुभव कर। इसके स्वादको चख। मां जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है तब उसे इस स्वादका थोड़ा-सा मजा मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो संकुचित दायरा बनाता रहता है उसमें भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्म-विकासका स्वाद चखे; क्योंकि उससे देहबद्ध आत्मा थोड़ा, और कुछ देरके लिए उससे बाहर निकलता है। परन्तु यह बाहर आना किस प्रकारका है ? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदीका जेलके अहातेमें आना हो। परन्तु आत्माका काम इतनेसे नहीं चलता। आत्माको तो मुक्तानन्द चाहिए।

सारांश (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके रास्ते-को छोड़कर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकड़े। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोड़े। (२) देह क्षण-भंगुर है, यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो तो उसे स्वधर्मके लिए ही खतम भी कर दे। (३) आत्माकी अखंडता और व्यापकताका भान सतत जाग्रत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धांत भगवान् बताते हैं। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्संदेह एक दिन 'नरदेहके ही द्वारा, सच्चिदानन्द पद धारा' इस अनुभवको प्राप्त करेगा।

(८)

भगवान्‌ने जीवनके सिद्धांत बताये तो, किन्तु केवल सिद्धांत बता देनेसे काम पूरा नहीं हो सकता। गीतामें वर्णित ये सिद्धांत तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही मौजूद हैं। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया तो इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं है। उसकी अपूर्वता तो यह बत-

लाने में है कि इन सिद्धांतोंको आचरणमें कैसे लावें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है ।

जीवनके सिद्धांतोंको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको योग कहते हैं। सांख्यका अर्थ है—सिद्धांत अथवा शास्त्र। और योगका अर्थ है कला । ज्ञानदेव साक्षी देते हैं—"योगियोंको सधी जीवन-कला ।" गीता सांख्य और योग—शास्त्र और कला—दोनोंसे परिपूर्ण है । शास्त्र और कला, दोनोंके योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है । संगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किन्तु यदि कंठसे संगीत प्रकट करनेकी कला न सधी, तो नाद-ब्रह्म की सजावट नहीं होगी । यही कारण है कि भगवान् ने सिद्धांतके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी बताई है । तो वह भला कौनसी कला है ? देहको तुच्छ मानकर आत्माकी अमरता और अखंडतापर दृष्टि रखकर स्वधर्मका आचरण करनेकी वह कला कौनसी है ?

जो कर्म करते हैं उनकी दुहरी भावना होती है । एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे । यह हमारा अधिकार है । और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको नहीं मिलता हो तो हम कर्म ही नहीं करेंगे । गीता इन दोके अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है । वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो ।" जो कर्म करता है उसे फलका अधिकार अवश्य है । परन्तु तुम उस अधिकारको स्वयं ही छोड़ दो। रजोगुण कहता है—"लूंगा तो फलके सहित ही ।" और तमोगुण कहता है, "छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही ।" ये दोनों एक-दूसरेके भाई ही हैं। अतः तुम इन दोनोंसे आगे बढ़कर शुद्ध सत्वगुणी बनो—अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड़ दो और फलको छोड़कर कर्म करो । पहले और पीछे, कहीं भी फलाशा मत रखो ।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो, तो साथ ही वह यह जताकर कहती है कि कर्मको उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए । यह अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त

है, इसलिए फल-संबंधी स्वप्न-चिन्तन में उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेंगे। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नहीं, हवाको विश्राम नहीं, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम कर्त्ता एक सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। अब यदि ऐसे निरन्तर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा? फिर चित्त-की समता एक बड़ा ही कुशल गुण है। और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही है। किसी एक बिलकुल बाहरी कारीगरीके कामको देखो तो उसमें भी हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका सहयोग हो जाता है, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अन्तर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल', इस दृष्टि-के कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोड़ा भी ध्यान हट गया तो उसमें उसे नैतिक दोष नहीं मालूम होगा। अधिक हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पड़ता है। परन्तु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोड़ी-सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिए, फल-त्याग अत्यन्त कुशल एवं यशस्वी तत्व सिद्ध होता है। अतः फल-त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड़ दें तो भी खुद कर्ममें जो आनन्द है वह उसके फलमें नहीं है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है वह आनन्दका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिए—"चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम जितना चाहो पैसे ले लो", तो वह नहीं मानेगा। किसानसे कहिए—"खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हें दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा, तो वह यह सौदा पसन्द न करेगा। किसान प्रातःकाल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते

हैं। गाय-बैल उसके आस-पास घिरे रहते हैं। वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है। जो झाड़-पेड़ लगाये हैं, उनको भर नजर देखता है । इन सब कामोंमें एक सात्विक आनन्द है । यह आनन्द ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामें उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है ।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौ गुना बढ़ा देती है । फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्म-विषयक तन्मयता समाधिके दर्जेकी होती है । इसलिए उसका आनन्द औरोंसे सौ-गुना अधिक होता है । इस तरह देखें तो यह बात तुरन्त समझमें आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक महान फल है । ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्षमें फल लगते हैं, पर फलमें अब और क्या फल लगेंगे ?" इस देह-रूपी वृक्षमें निष्काम स्वधर्माचरण जैसा सुन्दर फल लग चुकनेपर अब और किसी फलकी और क्यों अपेक्षा रखें ? किसान खेतमें गेहूं बोये और गेहूं बेचकर ज्वारकी रोटी खाये ? सुस्वादु केले लगाये और उन्हें बेचकर मिर्च क्यों खाये ? अरे भाई, केले ही खाओ न ? पर लोकमतको यह स्वीकार नहीं। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते हैं। गीता कहती है— "तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।" बस, कर्म करनेमें ही सब-कुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है । इससे उसे व्यायामका फल अपने आप ही मिल जाता है । परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता। उसका सारा आनन्द उस खेलमें ही रहता है ।

(९)

सन्त-जनोंने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है । तुकारामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमें उसके प्रति बहुत आदर हो जाता था। एक बार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया । परन्तु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ । उन्होंने अपने मनमें कहा—"मेरी भक्तिका क्या यह फल ? क्या इसीकेलिए मैं भक्ति करता हूं ?" उनको

ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें रखकर उन्हें अपनेसे दूर हटा रहा है। उन्होंने कहा—

"जानते हुए अन्तर, टालोगे मेरी झंझट ?
यह ऐब तेरी है, पांडुरंग बहुत खोटी।"

"भगवान्, तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं। तुम मुझे यह घुंघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होंगे कि इस आफतको निकाल ही दूँ न ? परन्तु मैं भी कच्चे गुरुका चेला नहीं हूं। मैं तुम्हारे पांव जोरसे पकड़कर बैठ जाऊंगा। भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमें फलोंके अवान्तर कांटे न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।"

पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने मां-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पांडुरंग उसकी भेंटके लिए भागे आये। परन्तु पुण्डलीकने पांडुरंगके चक्करमें पड़कर अपने उस सेवा-कार्यको छोड़नेसे इन्कार कर दिया। अपने मां-बापकी यह सेवा उसके लिए हार्दिक ईश्वर-भक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरोंको लूट-खसोटकर अपने मां-बापको सुख पहुंचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देश का द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोंकी यह वस्तु भक्ति नहीं कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमें फंसा नहीं। उसने कहा कि परमात्मा जिस रूपको धारण कर मेरे सामने खड़ा हुआ है, क्या वह इतना ही है ? उसका यह रूप दिखाई देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी ? वह भगवान्से बोला—

"भगवन्, आप स्वयं मुझे दर्शन देनेके लिए आये हैं, पर मैं 'भी-सिद्धांत' को माननेवाला हूं। आप ही अकेले भगवान् हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् हैं और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपकी ओर ध्यान नहीं दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिये।" इतना कहकर उसने भगवान्के खड़े रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंगको लेकर बड़े कुतूहल और विनोद-पूर्वक कहते हैं—

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खड़ा रहा जो विट्ठल को।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को?"

पुण्डलीकने जो यह 'भी-सिद्धांत' का उपयोग किया, वह फल-त्यागकी युक्तिका एक अंग है, । फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गंभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है । इस कारण वह विविध तत्त्व-ज्ञानके जंजालमें नहीं पड़ता और न अपना सिद्धांत छोड़ता है । 'नान्यदस्तीति वादिनः'—'यही है, दूसरा बिलकुल नहीं, ऐसा विवाद वह उत्पन्न नहीं करता।' 'यह भी सही है और वह भी सही है; परन्तु मेरे लिए तो यही सही है', ऐसी उनकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है । एक बार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोड़ना आवश्यक है ?" साधुने कहा—"नहीं तो, देखो, जनक-जैसोंने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुमको घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे बोला—"स्वामीजी , घर-बार छोड़े बिना क्या मोक्ष मिल सकता है ?" साधुने कहा—"कौन कहता है ? क्यों घरमें रहकर सेत-मेतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक-जैसोंने जो घर-बार छोड़ा तो क्या वे मूर्ख थे।?" बादको उन दोनों मनुष्योंकी जब एक-दूसरेसे मुलाकात हुई तो दोनोंमें बड़ा झगड़ा मचा । एक कहने लगा, "साधुने घर-बार छोड़नेके लिए कहा है।" दूसरे ने कहा—"नहीं, उन्होंने कहा है कि घर-बार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है ।" तब दोनों साधुके पास आये । साधुने कहा—"दोनोंका कहना ठीक है । जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग । और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर । घर छोड़नेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोड़नेकी जरूरत नहीं है, यह भी सत्य है।" इसीको कहते हैं 'भी-सिद्धांत' ।

पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिलतक पहुंचनेवाला है । तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुण्डलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था। परन्तु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ। यदि हो जाता तो फंस जाता। अतः एक बार साधनका

निश्चय हो जानेपर फिर अन्ततक उसका आचरण करते रहना चाहिए, फिर बीचमें प्रत्यक्ष भगवान्‌के दर्शन जैसी बाधा खड़ी हो जाय तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता न होनी चाहिए । देह बची है, तो वह साधनके लिए ही है । भगवान्‌का दर्शन तो हाथमें ही है, वह जाता कहां है?

"सर्वात्म-भाव मेरा, हां कौन छीन ले अब;
तेरी ही भक्ति में मन मेरा रंगा हुआ जब ?"

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है । 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' इस गीता-वचनका अर्थ यहांतक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मको—अर्थात् अंतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी, वासना मत रख । वासना से छुटकारा ही तो मोक्ष है । मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना ? जब फल-त्याग इस मंजिलतक पहुंच जाता है तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गई ।

(१०)

शास्त्र बतला दिया, कला भी बतला दी, किन्तु इतनेसे सारा चित्र आंखोंके सामने खड़ा नहीं रहता । शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है; परन्तु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नहीं होता । केवल निर्गुण जैसे हवामें रहता है, उसी तरह निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है । इसका उपाय है, जिस गुणीमें गुण मूर्तिमान हुआ है उसका दर्शन । इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धांत बता दिये, उन सिद्धांतोंको आचरणमें लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नहीं होता । अतः मुझे अब इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए । ऐसे पुरुषोंके लक्षण बताइए जिनकी बुद्धिमें सांख्य-निष्ठा स्थिर हो गई है और फल-त्याग-रूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है । जिन्हें हम स्थित-प्रज्ञ कहते हैं, जो फल-त्याग की पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधिमें मग्न हैं, और निश्चयके महा-मेरु हैं, वे बोलते कैसे हैं, बैठते कैसे हैं, चलते कैसे हैं, यह सब मुझे बताइए । वह मूर्त्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें ? यह सब कहिए, भगवन् !"

इसके लिए भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके अंतिम अठारह श्लोकोंमें स्थित-प्रज्ञका गंभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है । मानो इन अठारह श्लोकोंमें गीताके अठारह अध्यायोंका सार ही एकत्र कर दिया है । स्थितप्रज्ञ गीताकी आदर्श मूर्ति है । यह शब्द भी गीताका अपना स्वतंत्र है । आगे पांचवें अध्यायमें जीवन-मुक्तका, बारहवेंमें भक्तका, चौदहवेंमें गुणातीतका और अठारहवेंमें ज्ञान-निष्ठाका ऐसा ही वर्णन आया है, परन्तु स्थित-प्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है । उनमें सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये हैं। हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायंकालीन प्रार्थनामें इन लक्षणोंका पाठ करते हैं। यदि प्रत्येक गांव व प्रत्येक घरमें वे पहुंचाये जा सकें तो कितना आनन्द हो ! परन्तु पहले जब वे हमारे हृदयमें बैठें, तो वे बाहर अपने आप पहुंच जायंगे। नित्य पाठकी चीज यदि यान्त्रिक हो गई तो फिर वह चित्तमें अंकित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी । पर यह दोष नित्य पाठका नहीं, मनन न करने-का है । नित्य पाठके साथ-ही-साथ नित्य-मनन और नित्य-आत्म-परीक्षण आवश्यक है ।

स्थित-प्रज्ञ यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य । यह तो उसका नाम ही बता रहा है । परन्तु संयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे ? अतः स्थित-प्रज्ञको संयम-मूर्ति बताया है । बुद्धि तो हो आत्म-निष्ठ, और अंतर-बाह्य इन्द्रियां बुद्धिके अधीन हों—यह है संयमका अर्थ । स्थित-प्रज्ञ सारी इंद्रियोंको लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोगमें जोतता है । इंद्रिय-रूपी बैलोंसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभांति करा लेता है । अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमें खर्च करता रहता है ।

यह इंद्रिय-संयम आसान नहीं है । इन्द्रियोंसे बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है, । मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नहीं हैं। इससे उलटे, इंद्रियोंको खुला छोड़ देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है । परन्तु जिस प्रकार कछुवा खतरेकी जगह अपने तमाम अवयवोंको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थानपर उनसे काम लेता है, इसी तरह विषय-भोगोंसे इन्द्रियोंको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है । इसके लिए

महान प्रयत्नकी जरूरत है । ज्ञान भी चाहिए । परन्तु इतना होनेपर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा । तब क्या हम निराश हो जायं ? नहीं, साधक को कभी निराश न होना चाहिए। वह साधककी अपनी सब युक्तियां काममें लाये और फिर भी कमी रह जाय तो उसमें भक्तिको जोड़ दे । यह बड़ा कीमती सुझाव भगवान्‌ने स्थित-प्रज्ञके लक्षणोंमें दिया है । हां, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोंमें ही। परन्तु गाड़ीभर व्याख्यानोंकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है; क्योंकि जहां भक्तिकी अचूक आवश्यकता है, वहीं वह उपस्थित की गई है । स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका सविस्तर विवरण हमें आज यहां नहीं देना है । परन्तु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जायं, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया । पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्‌में कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जानें । परन्तु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमें पुण्डलीककी मूर्ति सदैव मेरी आंखोंके सामने आती रहती है और वह मैंने आपके सामने रख भी दी है ।

अच्छा, अब स्थित-प्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग -बुद्धि + (साकार) स्थित- ज्ञ

मिलाकर

संपूर्ण जीवन-शास्त्र

इसमेंसे ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है ?

रविवार, २८-२-२३

तीसरा अध्याय

(११)

भाइयो, दूसरे अध्यायमें हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्यायमें इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण करना है। पहले हमने तत्वोंका विचार किया, अब उनकी तफसीलमें जायंगे। पिछले अध्यायमें कर्म-योग-संबंधी विवेचन किया था। कर्मयोगमें महत्व-की वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमें फल-त्याग तो है, परन्तु प्रश्न यह उठा है कि फिर फल मिलता भी है या नहीं? अतः तीसरे अध्यायमें कहते हैं कि कर्मफलोंको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनंत गुना फल प्राप्त करता है।

यहां मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बड़ी आशा बांधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नहीं किया था। सभा-मंडपमें आकर वह बोली—"मैं उसीके गलेमें वरमाला डालूंगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे तो सब थे लालची। सो लक्ष्मी निस्पृह वर खोजने लगी। इतनेमें शेषनाग पर शान्त भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उसके गलेमें वरमाला डालकर वह आजतक उनके पैर दबाती हुई बैठी है। "जो न चाहे उसकी होती रमा दासी।" यही तो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास कांटेकी बाड़ लगाता है। पर इससे वह अनन्तरूपसे मिलनेवाला फल गंवा बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्पफल प्राप्त करता है; पर कर्मयोगी थोड़ा-सा करके भी अनन्त गुना। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉल्स्टायने एक जगह कहा है—"लोग ईसामसीहके बलिदानकी बहुत स्तुति करते हैं। परन्तु ये संसारी जीव तो रोज न जाने कितना अपना खून सुखाते हैं, दौड़-धूप करते हैं! पूरे दो गधोंका बोझ अपनी पीठपर

लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हें ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति ! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान्‌के लिए उठावें, तो सचमुच ईसासे भी वढ़ जायंगे ।"

संसारी मनुष्य की तपस्या सचमुच वड़ी होती है, परन्तु वह होती है क्षुद्र फलोंके खातिर । जैसी वासना वैसा ही फल । अपनी चीजकी जो कीमत हम आंकते हैं, उससे ज्यादा कीमत संसारमें नहीं होती । सुदामा चिउड़ा लेकर भगवान्‌के पास गये । उस मुट्‌ठीभर चिउड़ेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो; परन्तु सुदामा को वे अमोल मालूम होते थे; क्योंकि उनमें भक्तिभाव था । वे अभिमन्त्रित थे । उनके एक-एक कणमें भावना थी । चीज भले ही क्षुद्र क्यों न हो, मंत्रसे उसका मोल, उसका सामर्थ्य बढ़ जाता है । नोटका वजन भला कितना होगा ? उसे जलावें तो एक बूंद पानी भी शायद ही गरम हो । पर उसपर एक मुहर लगी रहती है । उसीसे उसकी कीमत होती है ।

कर्मयोगमें भी यही सारी खूबी है । कर्मको नोट ही समझो । भावना-रूपी मुहरकी कीमत है, कर्म-रूपी कागज के टुकड़ेकी नहीं । एक तरहसे यह मैं मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हूं । मूर्ति-पूजाकी कल्पनामें बड़ा सौंदर्य है । इस मूर्तिको कौन तोड़-फोड़ सकता है । यह मूर्ति शुरूआतमें एक टुकड़ा ही तो थी । मैंने इसमें प्राण डाला । अपनी भावना डाली । भला इस भावनाके कोई टुकड़े कर सकता है ? तोड़-फोड़ पत्थरकी हो सकती है, भावनाकी नहीं । जब मैं अपनी भावना मूर्तिमेंसे निकाल लूंगा, तभी वहां पत्थर बाकी बच रहेगा, व तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं ।

कर्मका अर्थ हुआ पत्थर या कागजका टुकड़ा । मेरी मांने कागजकी एक चिटपर दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी सतरें लिखकर भेज दीं व दूसरे किसी शख्सने पचास पन्नोंमें अंट-संट लेख लिखकर भेजा । अब वजन किसका ज्यादा होगा ? परन्तु मांकी उन चार सतरोंमें जो भाव है वह अनमोल है, पवित्र है । उसकी बराबरी वह रद्दी नहीं कर सकती । कर्ममें तरी चाहिए, भावना चाहिए, । हम मजदूरके कामकी एक कीमत लगाते हैं और उसे मजूरी दे देते हैं । परन्तु दक्षिणाकी बात ऐसी नहीं है । दक्षिणा

भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके संबंधमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कितनी दी ? बल्कि मार्केकी जो बात देखी जाती है वह यह है कि उसमें तर्ग है या नहीं ? मनुस्मृतिमें एक बड़ी मजेदार बात कही है । एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमें रहकर पशुसे मनुष्य हुआ । अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समयमें पहले ही फीस नहीं ले ली जाती थी। बारह साल पढ़ चुकनेके बाद गुरुको जो कुछ देना हो सो दे दिया जाता था । मनु कहते हैं—'चढ़ा दो गुरुजीको एकाध. पत्र-पुष्प, दे दो एकाध पंखा या खड़ाऊं, या पानीका कलसा ।' इसे आप मजाक मत समझिए; क्योंकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिन्ह समझकर देना है। फूलमें भला क्या वजन है ? परन्तु उस भक्ति-भाव में ब्रह्मांडके बराबर वजन है।

"रुक्मिणी ने एक ही तुलसी-दलसे
तोला प्रभु गिरिधरको ।"

सत्यभामाके मनभर गहनोंसे काम नहीं चला। परंतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसीपत्र जब रुक्मिणी माताने पलड़ेमें डाल दिया तो सारा काम बन गया। वह तुलसी-पत्र अभिमंत्रित था। अब वह मामूली नहीं रह गया था। कर्मयोगके कर्मकी भी यही बात है।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गंगा-स्नान करने गये हैं। उनमेंसे एक कहता है—"लोग गंगा-गंगा जो कहते हैं, सो उसमें है क्या ? दो हिस्से हायड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही गंगा हो गई। इससे अधिक उसमें क्या है ?" दूसरा कहता है-"भगवान् विष्णुके पद-कमलोंसे यह निकली है, शंकरके जटाजूटमें इसने वास किया है, हजारों ब्रह्मर्षियों व राजर्षियोंने इसके तीरपर तपस्या की है, अनंत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए हैं—ऐसी यह पवित्र गंगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमें नहाता है । वह ऑक्सीजन-हायड्रोजनवाला भी नहाता है । अब देह-शुद्धि-रूपी फल तो दोनोंको मिला ही। परंतु उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धि-रूपी फल भी मिला। यों तो गंगामें बैल भी नहाये तो उसे देह-शुद्धि प्राप्त होगी । शरीरकी गंदगी निकल जायगी। परंतु मनका मैल कैसे धुलेगा ? एकको देह-शुद्धि

तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धि-रूपी अनमोल-फल मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परंतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नहीं करता है, उपासनाके लिए करता है । इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, परंतु बुद्धिकी प्रभा भी बढ़ती है । आरोग्यके साथ ही, स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायणसे मिलेगी।

वही कर्म, परन्तु भावना-भेदसे उसमें अंतर पड़ जाता है । परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है, संसारी मनुष्यका कर्म आत्म-बंधक सिद्ध होता है । कर्मयोगी यदि किसान होगा तो वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी पेट-पूर्ति अवश्य होगी; परंतु वह इसलिए कर्म नहीं करता है कि उसकी उदर-पूर्त्ति हो। बल्कि भोजनको वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है । स्वधर्म उसका साध्य व भोजन साधन हुआ। परंतु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य व खेती-रूपी स्वधर्म उसका साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है ।

दूसरे अध्यायमें, स्थितप्रज्ञके लक्षण बताते हुए यह बात मजेदार ढंगसे कही गई है ' जहां दूसरे लोग जाग्रत रहते हैं वहां कर्मयोगी सोता रहता है। और जहां दूसरे लोग निद्रित रहते हैं वहां कर्मयोगी जाग्रत रहता है । हम उदरपूर्तिके लिए जाग्रत रहेंगे, तो कर्मयोगी इस बातके लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय। वह खाता भी है तो मजबूर होकर। इस पेटके हांडेमें इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी है । संसारी मनुष्यको भोजनमें आनन्द आता है, योगीको भोजन करते हुए कष्ट होता है । इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नहीं करेगा। संयमसे काम लेगा। एककी जो रात, वही दूसरेका दिन, और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनन्द वही दूसरेका दुःख, व जो एकका दुःख, वही दूसरेका आनन्द, हो जाता है । संसारी व कर्मयोगी—दोनोंके कर्म तो एक-से ही हैं. परन्तु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोड़कर कर्ममें ही रमता है । संसारीकी तरह

योगी खायेगा, पियेगा, सोयेगा। परंतु तत्संबंधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसलिए तो आरंभमें ही स्थितप्रज्ञकी संयम-मूर्त्ति खड़ी कर दी गई है, जबकि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी हैं।

संसारी पुरुष व कर्मयोगी दोनोंके कर्मोंका साम्य व वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिए कि कर्मयोगी गोरक्षाका काम कर रहा है। तो वह किस दृष्टिसे करेगा? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध मिलेगा, गायके बहाने मनुष्यसे निचली पशु-सृष्टिसे प्रेम संबंध जुड़ेगा। यह नहीं कि मुझे वेतन मिलेगा। वेतन तो कहीं गया नहीं है, परंतु असली आनंद, सच्चा सुख, इस दिव्य भावनामें है।

कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है। तुलसी-को पानी पिलाये बिना भोजन नहीं करेंगे। यह वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-संबंध जोड़ा है। गायको भूखा रखकर मैं कैसे पहले खालूं? इस तरह गायके साथ एक-रूपता, वनस्पतिके साथ एक-रूपता साधते-साधते हुए हमें सारे विश्वसे एक-रूपता साधनी है। भारतीय-युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो सायं-संध्या करनेके लिए चले जाते हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोड़े छोड़कर उन्हें पानी दिखाते, खुर्रा करते और उनके शरीरसे शल्य निकालते हैं। उस सेवामें भगवान्को कितना आनंद आता था! कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नहीं। अपने पीतांबरमें दाना-चंदी लेकर घोड़ोंको देनेवाले उस पार्थ-सारथीका चित्र अपनी आंखोंके सामने खड़ा कीजिए और कर्मयोगके आनंदकी कल्पनाका अनुभव कीजिए। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म। खादीके ही कामको लीजिये। कंधेपर खादीकी गांठ रखकर फेरी करनेवाला क्या ऊब नहीं जाता? नहीं, क्यों वह इस विचारमें मस्त रहता है कि देशमें जो मेरे करोड़ों नंगे-भूखे भाई-बहन हैं, उन्हें मुझे दो रोटी खिलाना है। उसका वह गज़ भर खादी बेचना समस्त दरिद्र-नारायणके साथ जुड़ा हुआ होता है।

(१२)

निष्काम कर्मयोगमें अद्भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति व समाज दोनोंका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्म-

योगीकी शरीर-यात्रा तो चलती ही है, परन्तु सदा सर्वदा उद्योग-रत रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग व स्वच्छ रहता है और उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योगक्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसा ज्यादा मिलेंगे, अफीम व तंबाकू नहीं बोयेगा; क्योंकि वह अपने कर्मका संबंध समाज-मंगलके साथ जोड़े हुए हैं। स्वधर्म-रूप कर्म समाजके लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहार-रूप कर्म समाजके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। खुदको भूलकर अपने आसपासके समाजसे समरस होनेवाले कर्मयोगी जिस समाजमें पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि व सौमनस्य रहते हैं।

कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा चलकर देह व बुद्धि सतेज रहते हैं और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान् फल उसे मिलता है। 'कर्मणा शुद्धिः' ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है। परंतु वह सब लोगोंका मामूली कर्म नहीं है। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उससे चित्त-शुद्धि होती है। महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है! जाजलि नामक एक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहता है—"भैया, इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पड़ता है।" इस बाह्य कर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा सरल हो गया। छोटा बच्चा दुकानमें आजाय या जवान आदमी, उसकी डंडी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊंची न नीची। उद्योगका मनपर भी परिणाम होता है। कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो। उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिंब पड़ता है। अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे कर्मयोगी अंतको ज्ञान प्राप्त करते हैं। तराजूकी डंडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली। सेना नाई बाल बनाया करता था। दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मैं दूसरोंके सिरका तो मैल निकालता हूं, परंतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका, भी मैल मैंने निकाला है?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे

उस कर्मसे सूझने लगी । खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयकी वासना-विकार-रूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है । कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हंडिया देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हंडिया पक्की बना लेनी चाहिए । इस तरह वह हाथमें थपकी लेकर 'हंडिया कच्ची है या पक्की', यों संतोंकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जिन-जिन कर्मोंको या धन्धोंको करता है, उनकी भाषामें से ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है । वे कर्म क्या थे, उनकी अध्यात्म-शाला ही थे । उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे । वे दीखनेमें वैसे व्यावहारिक ही दीखते थे, परंतु भीतरसे वे वास्तवमें आध्यात्मिक थे ।

कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है, और वह है समाजको एक आदर्शका मिलना । समाजमें यह तो है ही कि यह पहले जन्मा है व यह बादको । जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे बादमें पैदा होने वालोंके लिए उदाहरण बन जानेका काम रहता है । बड़े भाईपर छोटे भाईको, मां-बापपर बेटे-बेटीको, नेतापर अनुयायियोंको, गुरुपर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा अपना उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है । ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोंके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है ?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है; क्योंकि कर्ममें ही उसे आनन्द मालूम होता है । इससे समाजमें दंभ-ढोंग नहीं बढ़ता । कर्मयोगी खुद यद्यपि स्वयं-तृप्त होता है तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नहीं जाता । तुकाराम कहते हैं--"भजनसे भगवान् मिल गया तो क्या इसलिए मैं भजन छोड़ दूं ? भजन तो अब हमारा धर्म हो गया ।"

पहले जोड़ा संत संग । तुका हुआ पांडुरंग ।
भजनका तांता टूटे क्यों ? मूलस्वभाव छूटे क्यों ?

कर्मकी सीढ़ीसे चढ़कर शिखरतक पहुंच गये । परंतु कर्मयोगी तब भी सीढ़ी नहीं छोड़ता । वह उससे छूट ही नहीं सकती । उसकी

इंद्रियों को उन कर्मोंको करनेकी ऐसी सहज आदत ही पड़ जाती है । इस तरह स्वधर्म-कर्म-रूपी सेवाकी सीढ़ीका महत्व वह समाजको जंचाता रहता है ।

समाजसे ढोंगका मिटना बहुत ही बड़ी चीज है । ढोंग-पाखंडसे समाज डूब जाता है । ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय, तो उसे देखकर दूसरे भी हाथपर हाथ रखकर बैठने लगेंगे । ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आंतरिक सुखमें तल्लीन रहकर खामोश रहेगा; परंतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा । एक अंतस्तृप्त होकर स्वस्थ है, तो दूसरा मनमें कुढ़ता हुआ भी स्वस्थ है । ऐसी स्थिति भयानक है । इससे दंभ, पाखंड बढ़ेगा । अतः सारे संत शिखरपर पहुंचकर भी साधनका पल्ला सतर्कतासे पकड़े रहे, आमरण स्वकर्माचरण करते रहे । माता बच्चोंके गुड्डे-गुड्डीके खेलोंमें रस लेती है । वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी हैं, उनके खेलोंमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है । मां यदि उन खेलोंमें शरीक न हो, तो बच्चोंको उसमें मजा नहीं आयगा । कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड़ देगा तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड़ देंगे, हालांकि मनमें भूखे व निरानंद रहेंगे ।

अतः कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है । वह यह नहीं मानता कि मैं कोई विशेष मनुष्य हूं । औरोंकी अपेक्षा अनंत गुना परिश्रम वह करता है । अमुक कर्म पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगानेकी जरूरत नहीं है । कर्मका विज्ञापन करनेकी जरूरत नहीं है । यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोंकी अपेक्षा सौ गुना उत्साह दीखने दो । कम खाना मिलनेपर भी तिगुना काम होने दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो । अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दिखने दो । चंदनकी सुगंध बाहर फैलने दो ।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोड़नेसे ऐसे अनंत फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर व बुद्धि सतेज रहेंगे । जिस समाज में वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा । उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजसे ढोंग, पाखंड मिटकर जीवन-का पवित्र आदर्श हाथ लगेगा । कर्मयोगकी यह अनुभव-सिद्ध महिमा है ।

(१३)

कर्मयोगी अपना कर्म औरोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा; क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है । मैंने भगवान्‌का पूजन किया । फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमें पाया। परंतु क्या यह नैवेद्य उस पूजाका फल है ? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा उसे प्रसादका अंश तो तुरंत मिलेगा ही । परंतु जो कर्मयोगी है वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शन-रूपी फल चाहता है । वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोड़ी नहीं समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आंकनेके लिए तैयार नहीं है । स्थूल नापसे वह अपने कर्मोंको नहीं नापता । जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा । खेतीकी एक कहावत है—'गहरा बो पर गीला बो'। महज गहरे जोतनेसे काम नहीं चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए । गहराई व तरी दोनों होंगी, तो दाना बड़ा मनके बराबर पड़ेगा। अतः कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए । फिर उसमें ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणता-रूपी तरी भी होनी चाहिए । कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है ।

परमार्थके संबंधमें कुछ वाहियात कल्पनाएं हमारे अंदर फैल गई हैं। लोग समझते हैं कि जो परमार्थी हो गया उसे हाथ-पांव हिलानेकी जरूरत नहीं, काम-काज करनेकी जरूरत नहीं । कहते हैं, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कहांका परमार्थी ? परंतु कोई यह नहीं पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी ? कर्मयोगियोंका परमेश्वर तो कहीं घोड़ोंको खुर्रा करता है, राजसूय-यज्ञके समय जूठी पत्तलें उठाता है, जंगलमें गायें चराने जाता है,। वह द्वारकानाथ यदि फिर कभी गोकुल-में गया तो ठुमक-ठुमक चलकर बंसी बजाते हुए गायें चरावेगा । सो संतोंने तो घोड़ोंको खुर्रा करनेवाला, गायें चरानेवाला, रथ हांकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपनेवाला, कर्मयोगी परमेश्वर खड़ा किया है और खुद संत भी कोई दरजीका, तो कोई कुम्हारका, कोई बुनाईका, तो कोई मालीका, कोई धान कूटने-पीसने का, तो कोई बनियेका, कोई नाईका, तो कोई ढोर घसीटनेका काम करते-करते मुक्त पदवीको प्राप्त हुए हैं।

ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोंसे डिगता है। इस सिलसिलेमें हमें इंद्रियोंका विशिष्ट स्वभाव—खासियत—ध्यानमें रखना चाहिए। हमारी इंद्रियां सदैव—"यह चाहिए और वह नहीं चाहिए"—ऐसे द्वंद्वोंसे घिरी रहती हैं। जो चाहिए उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो न चाहिए उसके प्रति मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्म-योग वैसे कितना बढ़िया, कितना रमणीय, कितना अनंत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले व इसे छोड़' ऐसा झगड़ा हमारे गले बांधकर दिन-रात हमारे पीछे पड़े रहते हैं। अतः भगवान् इस अध्यायके अंतमें खतरेकी घंटी बजाते हैं कि इनका संग छोड़ो, इनसे बचो। स्थित-प्रज्ञ जिस प्रकार संयमकी मूर्त्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, ६-३-३२

चौथा अध्याय

(१४)

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है । स्वधर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामता-रूपी फलको अशक्य ही समझो । स्वदेशी माल बेचना व्यापारका स्वधर्म है । परंतु इस स्वधर्मको छोड़कर जब वह सात समुंदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यह हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले । तो फिर उस कर्ममें निष्कामता कहांसे आयेगी? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यंत आवश्यकता है । परंतु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम लें । जो अहिंसाका उपासक है, उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है। परंतु यह संभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तव में हिंसामय हो; क्योंकि हिंसा मनका एक धर्म है । महज बाहरसे हिंसाकर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायगा सो बात नहीं। तलवार हाथमें लेनेसे हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है । परंतु तलवार छोड़ देनेसे मनुष्य अहिंसामय होता ही है, सो बात नहीं। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है । निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परंतु यह तो निष्कामताका आरंभ-मात्र हुआ । इससे हम साध्यतक नहीं पहुंच गये ।

निष्कामता मनका धर्म है । इसकी उत्पत्तिके लिए एक स्वधर्माचरण-रूपी साधन ही काफी नहीं है । दूसरे साधनोंका भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दिया नहीं जल जाता । उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है । ज्योति होगी तो ही अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगावें ? इसके लिए मानसिक संशोधनकी जरूरत है । आत्म-परीक्षणके

द्वारा चित्तकी मलिनता—कूड़ा-कचरा—धो डालना चाहिए । तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्केकी बात भगवान्ने बताई थी । उसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है ।

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमें व्यवहृत हुआ है । हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं । कर्मसे वहां मतलब स्वधर्माचरणसे है । परन्तु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है । वह है काम व क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गंगाजलकी तरह निर्मल व प्रशांत न हो जाय तबतक निष्का-मता नहीं आ सकती । इस तरह चित्त-संशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायं, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है । 'कर्म', 'विकर्म' व 'अकर्म', ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी स्थूल क्रिया । इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है । बाहरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं, परंतु उस बाहरी सिर झुकानेकी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है । अंतर्बाह्य—भीतर व बाहर—दोनों एक होना चाहिए । बाहरसे मैं शिव-पिंडपर सतत जल-धारा छोड़कर अभिषेक करता हूं । परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिंतनकी धार भी अखंड न चलती रहती हो तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही ? ऐसी दशामें वह शिव-पिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही । पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा । निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्त-शुद्धि रूपी कर्मका भी संयोग हो ।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म'—पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग' की बनिस्बत 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्व है । अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलंबन करेंगे, तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है । उसी तरह स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है, तो उसे धोखा समझना चाहिए ।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जब लोग गरीब, कंगाल, दुःखी व मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए हैं। लोक-सेवा करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो, तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी संभावना है। अपने कुटुंबकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकलकी लोक-सेवा मंडलियोंके जमघटमें भी हो जाता है।

(१५)

कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिए। इस मनके मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आंतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरतके अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमें बताये गए हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायसे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसंधानका, योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती रहती है। यदि शरीर व मन जुदा-जुदा चीजें हैं तो साधन भी दोनोंके लिए जुदा-जुदा ही होंगे। जब इन दोनोंका मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारोंने दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमें बाहरसे तप व भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप फिजूल गया। तप संबंधी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। उपवास शब्दका अर्थ ही है, भगवानके पास बैठना। इसलिए कि परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगोंका दरवाजा बंद करनेकी जरूरत है। परंतु बाहरसे विषयभोगोंको

छोड़कर यदि मनमें भगवान्का चिंतन न होता, तो फिर इस बाहरी उपवासकी क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोंका चिंतन करें तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया। यह जो मनसे भोजन हुआ, मनमें जो विषय-चिंतन रहा, इससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्रके साथ मंत्र होना चाहिए। कोरे बाह्य तंत्रका कोई महत्त्व नहीं है और न केवल कर्महीन मंत्रका भी कोई मूल्य है। हाथमें भी सेवा हो व हृदयमें भी सेवा हो। तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

यदि बाह्य कर्ममें हृदयकी आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायगा। उसमें निष्कामता रूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। फर्ज कीजिए कि हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमें कोमल दया-भाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उसमें यदि मनका सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा। 'मैंने आज उसका काम किया है; उसे जरूरतके वक्त मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरी तारीफ करनी चाहिए। मेरा गौरव करना चाहिए।'—आदि अपेक्षाएं मनमें उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभावसे ऐसा सेवक, जिसके मनमें सच्चा सेवा-भाव नहीं होता, ऊब जायगा।

कर्मके साथ जब आंतरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ, तो निष्कामता आती है। बारूदमें बत्ती लगानेसे धड़ाका होता है। उस बारूदमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्मको बंदूककी बारूदकी तरह समझो। उसमें विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नहीं मिलता, तबतक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्मकी चिनगारी उसमें गिरी, कि फिर

उस कर्ममें जो सामर्थ्य पैदा होता है, वह अवर्णनीय है । चिमटी भर बारूद जेबमें पड़ी रहती है, हाथमें उछलती रहती है, पर जहां उसमें बत्ती लगी कि शरीरके टुकड़े-टुकड़े हुए । स्वधर्माचरणका अनंत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है । उसमें विकर्मको जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोधके प्राण उड़ जायंगे व उसमेंसे उस परम-ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी ।

कर्म ज्ञानका पलीता है । एक लकड़ीका बड़ा-सा टुकड़ा कहीं पड़ा है। उसे आप जला दीजिए। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आगमें कितना अंतर है ? परंतु उस लकड़ीकी ही वह आग होती है । कर्ममें विकर्म डाल देनेसे, कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। मां बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है । एक पीठ है, जिसपर एक हाथ योंही इधर-उधर फिर गया। परंतु इस एक मामूली कर्मसे उन मां-बच्चेके मनमें जो भावनाएं उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा ? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लंबी-चौड़ी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये, तो इससे वह आनंद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिरानेकी यह क्रिया बिलकुल क्षुद्र है, परंतु उसमें मांका हृदय उंडेला हुआ है । वह विकर्म उंडेला हुआ है । इसीसे वह अपूर्व आनंद प्राप्त होता है । तुलसी रामायणमें एक प्रसंग आया है । राक्षसोंसे लड़कर बंदर आते हैं। वे जख्मी हो गए हैं। बदनसे खून बह रहा है। परतु प्रभु रामचंद्रके एक बार प्रेम-पूर्वक दृष्टिपात-मात्रसे उन बंदरोंकी वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समय की आंख व दृष्टिका फोटो लेकर किसीकी ओर उतनी आंखें फाड़कर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता ? वैसा करनेका यत्न करना हास्यास्पद है ।

कर्मके साथ जब विकर्मका जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म का निर्माण होता है। लकड़ी जलनेपर राख हो जाती है । पहलेका वह इतना बड़ा लकड़ीका टुकड़ा; अंतमें चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उसकी ! खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिए और सारे बदनपर मल लीजिये । इस तरह कर्ममें विकर्मकी ज्योति जला

देनेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहां लकड़ी व कहां राख? कः केन संबंधः! उनके गुण-धर्मोंमें अब बिलकुल साम्य नहीं रह गया। परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ीके लट्ठकी ही है।

कर्ममें विकर्म उंडेलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। मां बच्चेको पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। मां मारती है, फिर भी वह उसके आंचलमें मुँह छिपाता है; क्योंकि मांके बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धिका मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भावसे है। उस कर्ममें उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण, कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। रामकी वह दृष्टि, आंतरिक विकर्मके कारण, महज प्रेम-सुधा-सागर हो गई थी, परंतु रामको उस कर्मका कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त-शुद्धिसे किया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नहीं रहता; नहीं तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदयपर पड़ता है। यदि वह खबर आज दो बजे उड़ी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जानेवाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारों ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल व गड़बड़ मच जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारों ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्रका प्रवाह जोरसे जमीनमें धंसकर खाड़ियां बना देता है, उसी तरह कर्मका यह जंजाल चित्तमें घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःखके द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शांति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया। परंतु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्तपर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परंतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुवकी तरह शांत, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्ममें विकर्म

डाल देनेसे वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्मको करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

(१६)

यह कर्मका अकर्म कैसे होता है ? यह कला किसके पास मिलेगी? संतोंके पास। इस अध्यायके अंतमें भगवान् कहते हैं—"संतोंके पास जाकर बैठो व उनसे शिक्षा लो।" कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमें भाषाका अंत आ जाता है। उसका सही खयाल लाना हो तो संतोंके पास जाना चाहिए। परमेश्वरका वर्णन भी तो है—

"शान्ताकारं भुजगशयनम्"

परमेश्वर हजार फनोंके शेषनागपर सोते हुए भी शांत हैं। इसी तरह संत हजारों कर्म करते हुए भी रत्ती भर क्षोभ-तरंग अपने मानस-सरोवरमें नहीं उठने देते। यह खूबी संतोंके गांव गये बिना समझमें नहीं आ सकती।

वर्त्तमान कालमें पुस्तकें बहुत सस्ती हो गई हैं। एक-एक दो-दो आनेमें गीता, 'मनाचे श्लोक',[१] आदि मिल जाते हैं। गुरुओंकी भी कमी नहीं। शिक्षा उदार व सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञानकी खैरात ही बांटते हैं। परंतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नहीं आती। पुस्तकोंके इस पहाड़को देखकर संत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तकोंकी मजबूत कपड़ेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नहीं आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाया करता है:

"काम क्रोध के खड़े हैं पहाड़
रहा है अनंत पल्ले पार।"

काम-क्रोध-रूपी पहाड़ोंके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोंकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयों व ग्रंथालयोंके चारों ओर छाजानेपर भी अभीतक मनुष्य सब जगह संस्कार-हीन

---

[१] समर्थ रामदास-कृत मराठी पुस्तक।

व ज्ञान-हीन बंदर ही दिखाई देता है । बड़ौदामें बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बड़ी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थे । उसमें तस्वीरें थीं । वे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अंग्रेजी पुस्तक है । मैंने पूछा—"कौन-सी पुस्तक है ?" उन्होंने पुस्तक आगे बढ़ा दी । मैंने कहा—"यह तो फ्रेंच है," तो उन्होंने कहा—"अच्छा, फ्रेंच आ गई ?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढ़िया तस्वीरें, सुंदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी रही ।

अंग्रेजीमें हर साल कोई दस हजार नई किताबें तैयार होती हैं। यही हाल दूसरी भाषाओंका समझिए । ज्ञानका इतना प्रसार होते हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है ? कोई कहते हैं, स्मरणशक्ति कमजोर हो गई है । कोई बताते हैं, एकाग्रता नहीं होती । कोई जवाब देते हैं कि जो कुछ पढ़ते हैं सब ही सच मालूम होता है । और कोई कहते हैं, अजी, विचार करनेको फुरसत ही नहीं मिलती ! श्रीकृष्ण कहते हैं—"अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तुम्हारी बुद्धि चक्करमें पड़ गई है । वह जबतक स्थिर होगी, तबतक तुम्हें योग-प्राप्ति नहीं हो सकती । सुनना व पढ़ना अब बन्द करके संतोंकी शरण ले ! वहांसे जीवन-ग्रंथ पढ़नेको मिलेगा । वहांका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-संशय' हो जायगा । वहां जानेसे तुम्हें मालूम हो जायगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी हृदयमें कैसे अखंड संगीत रूपी सितार लगाई जा सकती है ।"

रविवार, १३-३-३२

पांचवां अध्याय

(१७)

संसार बड़ी भयानक वस्तु है । वहुत बार उसे समुद्रकी उपमा देते हैं। समुद्रमें जहां देखिए तहां पानी-ही-पानी दिखाई देता है । वही हाल संसारका है। जिधर देखो उधर संसार हरा-ही-हरा दीख पड़ता है। कोई यदि घर-बार छोड़कर सार्वजनिक सेवामें लग जाता है, तो वहां भी उसके मनमें संसार अपना पड़ाव डाले बैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफामें जाकर बैठ जाय तो भी, उसके वित्ते भर लंगोटीमें, संसार ओत-प्रोत भरा रहता है । वह लंगोटी उसकी ममताका सार-सर्वस्व वन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही उस छोटी-सी लंगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रहती है । घर-जंजाल तोड़ दिया, विस्तार कम कर दिया , इतनेसे संसार कम नहीं हो जाता । $\frac{१०}{२५}$ कहो या $\frac{२}{५}$ कहो, दोनोंका मतलब एक ही है । चाहे घरमें रहो या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है । संसार लेशमात्र भी कम नहीं होता। दो योगी 'भले ही हिमालयकी गुफामें जाकर बैठ जायं, पर वहां भी एक-दूसरेकी कीर्त्ति उनके कानोंमें पड़ गई तो वे जल-भुन जायंगे । सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें भी ऐसा ही दृश्य दिखाई दे जाता है ।

इस प्रकार यह संसार-प्रपंच हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा हुआ होनेसे स्वधर्माचरणकी मर्यादामें रहते हुए भी संसारसे पिंड नहीं छूटता। बहुतेरा उखाड़-पछाड़ करना छोड़ दिया, और झंझटें भी कम कर दीं व अपना संसार-प्रपंच भी नाम-मात्रका रख दिया, तो भी वहां ममत्व पीछा नहीं छोड़ता। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते हैं व कभी बड़े, वैसे ही यह संसार अपना रूप बनाता है। छोटे हों या वड़े, आखिर वे हैं तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवारत्व चाहे महलोंमें हों या झोंपड़ीमें, है एक-सा ही।

स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसारको समतोल रखा, तो भी वहां अनेक झगड़े पैदा हो जायंगे और तुम्हारा जी वहांसे ऊब उठेगा। वहां भी अनेक संस्था व अनेक व्यक्तियोंसे तुम्हारा संबंध बंधेगा और तुम ऊब उठोगे। तुम कहने लगोगे—कहां इस आफतमें आ फंसा! लेकिन तुम्हारा मन कसौटीपर भी तभी चढ़ेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलि-प्तता नहीं आजाती। कर्मकी व्याप्तिको कम करना अलिप्त होना नहीं है।

तो फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मनका सहयोग जबतक न हो, तबतक कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। मां-बाप किसी संस्थामें अपना लड़का भेज देते हैं। वह वहां सबेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है। चाय नहीं पीता। परंतु घर आते ही दो-चार दिनोंमें वह सबकुछ छोड़ देता है। ऐसे अनु-भव हमें होते हैं। मनुष्य कुछ मिट्टीका ढेला तो है नहीं। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते हैं, वह उसके मनमें बैठना तो चाहिए न? मन यदि आकारमें नहीं बैठा, तो बाहरकी यह सारी तालीम व्यर्थ हो गई! इसलिए साधनमें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

साधनके रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण व भीतरसे मनका विकर्म, दोनों बातें चाहिएं। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नहीं होती। प्रातःकालके प्रशांत समयमें हमें अपना मन अत्यंत शांत मालूम होता है। परंतु जहां जरा बच्चा रोया नहीं कि हमारी उस मनःशांतिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अतः कर्मको टालनेसे काम नहीं चलेगा। बाह्य कर्मोंसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिए; तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आवेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अंतःसरोवरमें नीचे घुटनेभर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आगया। तो यह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते हैं—"सफेद खादी नहीं चाहिए, वह मैली हो जाती है। रंगीन खादी मैली नहीं होती।" पर मैली तो वह भी होती है। हां, अलबत्ता मैली दिखाई नहीं देती। सफेद खादीकी मैल दीख जाती है। वह कहती है—"मैं मैली हूं, मुझे धो डालो।" यह मुँहसे बोलनेवाली खादी लोगोंको पसंद नहीं आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी हैं, स्वार्थी हैं, या और कुछ हैं। कर्म वह आइना है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अतः हमें कर्मका अहसानमंद होना चाहिए। आइनेमें यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे, तो क्या हम आइनेको फोड़ डालेंगे? नहीं, उलटा उसका अहसान मानेंगे। मुँह धो-धोकर फिर उसमें चेहरा देखेंगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पाप-दोष बाहर आता है, तो क्या इसलिए हम कर्मसे बचना चाहेंगे? कर्मसे ही यदि हम बचते रहें तो क्या उससे हमारा मन निर्मल हो जायगा। अतः कर्म करते रहें व निर्मल होनेका उत्तरोत्तर उद्योग करते रहें।

कोई मनुष्य जाकर गुफामें बैठ गया। वहां उसका किसीसे भी संपर्क नहीं होता। वह समझने लगता है कि अब मैं बिलकुल शांतमति हो गया; परंतु गुफा छोड़कर उसे किसीके यहां भिक्षा मांगने जाने दीजिए। वहां कोई खिलाड़ी लड़का दरवाजेकी सांकल खटखटाता है। वह बालक तो उस नाद-ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है, परंतु उस भोले-भाले बच्चेका वह सांकल बजाना उस योगीको सहन नहीं होता। वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है!" गुफामें रहकर उसने अपने मनको इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नहीं होता। जरा खट-खट आवाज आई कि बस, उसकी शांति रफूचक्कर होने लगी। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नहीं।

मतलब यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बड़े कामकी चीज है। जब दोष दिखाई देंगे, तो वे दूर भी किये जा सकेंगे। यदि दोष मालूम ही न हों, तो प्रगति रुकी, विकास खतम। कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देंगे। उन्हें दूर करनेके लिए विकर्मकी तजवीज करनी पड़ती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगें,

तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहें, यह बात समय पाकर समझमें आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न होने लगा तो फिर आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एकके बाद एक सहजतासे होने लगते हैं, तो फिर सहसा यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। 'कर्मका अकर्म' कैसे होता है, सो संत चरणोंमें बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अखीर-अखीरमें बता दिया है। इस अकर्म-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

(१८)

कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितनी तकलीफ होती है। किंतु हमें उसकी इस लीलासे आनंद होता है। हम कहते हैं, देखो, लल्ला चलने लगा। परंतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है, व बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके संबंधमें। हम छोटे बच्चेको अन्नप्राशन कराते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो। परंतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है। पहले दम भर आता है, पर बादमें तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है तो कहता है कि चलो, जरा तैर आवें तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यों-ही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोंमें व्यस्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परन्तु कर्म जब सहज होने लगते हैं तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करना है। उन्हें करते हुए दोष नजर आवेंगे, उन्हें दूर करनेके

लिए विकर्मका पल्ला पकड़ना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममें त्रास या कष्ट बिलकुल नहीं मालूम होता। हजारों कर्म हाथोंसे होते रहनेपर भी मन निर्मल व शांत रहता है। आप आकाशसे पूछिये, "भाई आकाश, क्या तुम गरमीसे झुलस नहीं जाते, पानीसे भीग नहीं जाते ? सर्दीसे ठिठुर नहीं जाते ?" तो वह क्या जवाब देगा ? वह कहेगा—"मुझे क्या होता है, इसका फैसला तुम करो, मैं कुछ नहीं जानता।"

"पागल नंगा है या पहने।
इसको लोग देखकर जानें॥"

पागल नंगा है या कपड़े पहने है, इसका फैसला लोग करें। पागलको इसका कुछ पता नहीं रहता।

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरण-संबंधी कर्म, विकर्मकी सहायतासे निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते, स्वाभाविक हो जाते हैं। बड़े-बड़े विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। कर्मयोगकी यह ऐसी कुंजी है। कुंजी न हो तो तालेको तोड़ते-तोड़ते हाथोंमें छाले हो जायंगे। परंतु कुंजी हाथ लग जानेपर पल भरमें सबकुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस चाबीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते हैं। यह कुंजी मनोजयसे मिलती है। अतः मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोमल दिखाई देंगे, उन्हें धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोंकी झंझट नहीं मालूम होती। कर्मका अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते हैं। क्लेशोंका अनुभवतक नहीं होता। कर्मका भी भान बाकी नहीं रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा—"अमुक संख्या राम-नामका जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे ?" वह शख्स अपनी बुद्धिके अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहनेकी दृष्टिसे यह नहीं कह रहा हूं। परंतु राम-नाम कुछ गिनने या नापनेकी चीज नहीं है। मां बच्चेकी सेवा करती है तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है ? यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगी

तो 'थैंक्यू', कहकर उसके ऋणसे वरी हो सकेंगे । परंतु माता रिपोर्ट नहीं लिखती। वह तो कहती है—"मैंने क्या किया ? मैंने कुछ नहीं किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है ?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उंडेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म रहता ही नहीं, अकर्म हो जाता है । वहां क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नहीं रहता ।

इस स्थितिका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक धुंधली-सी कल्पना कराई जा सकती है । सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह आता है कि मैं अंधेरा मिटाऊंगा, पंछियोंको उड़नेकी प्रेरणा करूंगा, लोगोंको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूंगा ? वह जहां उगता है, वहीं खड़ा रहता है । उसका अस्तित्व-मात्र ही विश्वको गति देता है । परंतु सूर्यको उसका पता नहीं। आप यदि सूर्यसे कहेंगे—"हे सूर्यदेव, आपके अनंत उपकार हैं, आपने कितना अंधेरा दूर कर दिया।" तो वह चक्करमें पड़ जायगा ? कहेगा "जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका तो मैं कहूंगा कि यह मेरा कर्त्तव्य है ।' क्या सूर्यके पास अंधेरा ले जाया जा सकेगा ? सूरजके अस्तित्वसे अंधकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रंथ भी पढ़ता होगा, तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ़ लेगा, कोई आग लगा देगा तो कोई किसीका भला कर रहा होगा। परंतु इस पाप-पुण्यका जिम्मेदार सूर्य नहीं है । सूर्य कहता है—'"प्रकाश मेरा सहज धर्म है । मेरे पास यदि प्रकाश न होगा तो फिर होगा क्या ? मैं जानता ही नहीं कि मैं प्रकाश दे रहा हूं। मेरा होना ही प्रकाश है । प्रकाश देनेकी क्रियाका कष्ट मैं नहीं जानता । मुझे नहीं प्रतीत होता कि मैं कुछ कर रहा हूं।"

सूर्यका यह प्रकाश-दान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल संतोंका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है । आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्यसे कहें कि "आप महात्मा सत्यवादी हैं" तो वह कहेगा— "मैं यदि सत्यपर न चलूं, तो करूंगा क्या ? मैं विशेष क्या करता हूं ?" ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नहीं सकती ।

अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है । साधन इतने नैसर्गिक व स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम ही नहीं पड़ता। इंद्रियां उनकी सहज आदी हो जाती हैं । 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति

हो जाती है । जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। किलकिलाते रहना पंखियोंका सहज धर्म है । मांकी याद आना बच्चोंका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना संतोंका सहज धर्म हो जाता है । सुबह होते ही 'कुकडूं-कूं' करना मुर्गेका सहज धर्म है । स्वरोंका ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनिने मुर्गेकी बांगका उदाहरण दिया है। पाणिनिके समय-से आजतक मुर्गा सुबह बांग देता है; पर क्या इसके लिए उसे किसीने मान-पत्र अर्पण किया है ? मुर्गेका वह सहज धर्म है । उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका ऐब—खामी न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोंके कर्म सहज रूपसे होते रहते हैं। उनके किये बिना वे जिंदा नहीं रह सकते । किसीने भोजन किया तो क्या हम उसका गौरव करते हैं ? खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकोंके सहज कर्म हैं, वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियोंके लिए सहज कर्म हैं। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है । वह यदि कहेगा कि मैं उपकार नहीं करूंगा, तो यह असंभव है । ऐसे ज्ञानी पुरुषका वह कर्म अकर्म दशाको पहुंच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशाको 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गई है। संन्यास यही परम धन्य अकर्म दशा है । इसी दशाको कर्मयोग भी कहना चाहिए । कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है ; परंतु करते हुए भी वह करता है ऐसा मालूम नहीं होता, इसीलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नहीं लगता — इसलिए वह 'योग' है, व करके भी कुछ नहीं किया इसलिए वह 'संन्यास' है ।

(१९)

'संन्यास' की आखिर कल्पना क्या है ? कुछ कर्म छोड़ना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना है क्या ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । संन्यासकी व्याख्या ही है, "सब कर्मोंको छोड़ना" । सब कर्मोंसे मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना संन्यास है । परंतु कर्म न करनेका मतलब क्या ? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है । सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे ? कर्म तो

आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है,। अजी , बैठे तो भी क्रिया ही हुई न ?" 'बैठना' यह क्रिया-पद है । केवल व्याकरणकी दृष्टिसे ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टि-शास्त्रमें भी 'बैठना' क्रिया ही है । अरे, सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते हैं। बैठनेमें भी श्रम तो है ही। जहां न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहां कर्म संन्यास होगा भी कैसे ? भगवान्ने अर्जुनको विश्व-रूप दिखलाया । वह सर्वत्र फैला हुआ विश्व-रूप देखकर अर्जुन डर गया व घबराकर उसने आंखें मूंद लीं । परंतु आंखें मूंदकर देखा तो वह भीतर भी दिखाई देने लगे । अब आंखें मूंद लेनेपर भी जो दीखता है उससे कैसे बचा जाय ? न करनेसे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाय ?

एक शख्सकी बात है । उसके पास सोनेके बहुत बेश-कीमती गहने थे । वह उन्हें एक बड़ी सन्दूकमें बंद करके रखना चाहता था । नौकर एक खासा बड़ा-सा लोहेका संदूक बनवा लाया । उसे देखकर उस शख्सने कहा—"तू कैसा बेवकूफ है रे ! गंवार, तू सुंदरता जैसी भी कोई चीज समझता है या नहीं ? ऐसे बेश-कीमती जेवर रखना है तो क्या भद्दे मनहूस लोहेके संदूकमें रखें जायंगे ? जा, अच्छा सोनेका संदूक बनाकर ला !" नौकर सोनेका संदूक बनवा लाया । "अब ताला भी सोनेका ही ले आओ । सोनेके संदूकमें सोनेका ही ताला फबेगा ।" वह शख्स गया था जेवरको छिपाने, उसे ढांककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला ? चोरोंको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नहीं रही। संदूक उड़ाया और काम बन गया। मतलब यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है । इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास किया कैसे जाय ?

ऐसे कामोंका संन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय जिससे दुनिया-भरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जायं । जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते हैं कि 'संन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल-जाना' यह बात आखिर है कैसी ? सूर्यके जैसी है । सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है । रातको भी वह कर्म करता ही है । उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्धमें काम करता रहता है परंतु इतने

कर्म करते हुए भी, ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसी लिए चौथे अध्यायमें भगवान् कहते हैं—मैंने यह योग पहले सूर्यको सिखाया; फिर सूर्यसे विचार करनेवाले, मनन करनेवाले, मनुने इसे सीखा। चौबीस घंटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र कर्म नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्थिति सचमुच अद्‌भुत है।

(२०)

परंतु यह तो संन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कर्म करके भी नहीं करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ। वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू भी है। उसमें अपरम्पार प्रेरक शक्ति है? अकर्मकी खूबी भी यही है। अकर्ममें अनंत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है। भापका भी ऐसा ही है न? भापको रोककर रखिये, तो कितना प्रचंड कार्य करती है। उस रोकी हुई भापमें अपार शक्ति आ जाती है। वह बड़े-बड़े जहाज और रेलगाड़ियोंको बात-की-बातमें खींच ले जाती है। सूर्यकी भी ऐसी ही बात है। वह लेशमात्र भी कर्म नहीं करता, परंतु चौबीस घंटे लगातार काम करता है। उससे पूछेंगे तो वह कहेगा, "मैं कुछ नहीं करता"। रात-दिन कर्म करते हुए न करना यह जैसे सूर्यका एक पहलू हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना, यह दूसरा पहलू हुआ। संन्यास इन दोनों प्रकारोंसे विभूषित है।

दोनों असाधारण हैं। एक प्रकारमें कर्म प्रकट है व अकर्मावस्था गुप्त है। दूसरे प्रकारमें अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है, परंतु उसकी बदौलत अनंत कर्म होते रहते हैं। इस अवस्थामें अकर्ममें कर्म लबालब भरा रहता है। इसलिए उससे प्रचंड कार्य होता है, ऐसी अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिमें व आलसी आदमीमें बड़ा अंतर है। आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा। लेकिन यह अकर्मी संन्यासी कर्म-शक्तिको रोक करके रखता है। लेशमात्र भी कर्म नहीं करता। वह हाथ-पांवसे किसी इंद्रियसे कोई कर्म नहीं करता। परंतु कुछ न करते हुए भी वह अनंत कर्म करता है।

किसी मनुष्यको गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोलका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है। दूसरा बड़-बड़ बोलता चला जायगा। दोनों हैं तो गुस्सेमें ही, परंतु एक चुप है, दूसरा बड़बड़ाता है। दोनों हैं गुस्सेके ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोधका ही एक रूप। उससे भी कार्य होता है। मां या बापने बच्चेसे बोलना बंद कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचंड होता है। उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करनेपर भी उसका उतना परिणाम नहीं हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी ही स्थिति होती है। उनका अकर्म ही, उनका खामोश बैठनाही प्रचंड कर्म करता है, प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता कि वे सब क्रियाके द्वारा प्रकट ही नहीं हो सकते। इस तरह यह संन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे संन्यासके सारे उद्योग, सारी मिहनत एक आसनपर आकर बैठ जाते हैं।

"उद्योगकी दौड़ बैठी है सुस्थिर।
प्रभु-पंखमें पड़ा गठरी जैसा॥
चिन्ता गई सारी, हुआ है भरोसा।
अब गर्भवास छूटा मेरा॥
अपनी सत्तासे हूं नहीं जीता।
यों अभिमान छीना प्रभुने॥
तुका कहे जीता एककी सत्तासे।
हूं मैं खोखला खोखा जैसे॥"

तुकाराम कहते हैं—"मैं अब खाली हो गया हूं। गठरी होकर पड़ा हूं। सब उद्योग खत्म हो गये।" तुकाराम खाली हो गये, परंतु उस खाली बोरेमें प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वतः आवाज नहीं लगाता, परंतु उसके दीखते ही पंछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते हैं, गायें

वनमें चरने जाती हैं, बनिया-महाजन दूकान खोलते हैं, किसान खेतपर जाते हैं, संसारके नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य बना रहे, यही काफी है । उतने हीसे अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं । इस अकर्मावस्थामें अनंत कर्मोंकी प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह संन्यासका दूसरा अद्‌भुत प्रकार है ।

(२१)

पांचवें अध्यायमें संन्यासके दो प्रकारोंकी तुलना की गई है । एक चौबीसों घंटे कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा क्षण भर भी कुछ न करके सबकुछ करता है । एक बोलकर न बोलनेका प्रकार तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार । इन दो प्रकारोंकी यहां तुलना की गई है । ये जो दो दिव्य प्रकार हैं, उनका अवलोकन करें, विचार करें, मनन करें, इसमें अपूर्व आनंद है ।

यह विषय ही अपूर्व व उदात्त है । सचमूच ही संन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र व भव्य है । जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना—पहले पहल खोज निकाली, उसे कितने धन्यवाद दिये जायं । यह बड़ी उज्ज्वल कल्पना है । मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊंची उड़ानें मारी हैं उन सबमें ऊंची उड़ान संन्यासतक पहुंची है । इसके आगे अभी-तक कोई उड़ान न मार सका । उड़ानें मारना तो जारी है, परंतु मैं नहीं कह सकता कि विचार और अनुभवमें इतनी ऊंची उड़ान किसीने मारी हो । इन दो प्रकारोंसे युक्त संन्यासकी कोरी कल्पना ही आंखोंके सामने आनेसे अपूर्व आनंद होता है । किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्-में जब आते हैं, तब वह आनंद कम हो जाता है । जान पड़ता है, नीचे गिर रहे हैं। मैं अपने मित्रोंसे इसके विषयमें हमेशा कहता रहता हूं। आज कितने ही वर्षोंसे मैं इन दिव्य विचारोंका मनन कर रहा हूं । यहां भाषा अधूरी पड़ती है । शब्दोंकी कक्षामें यह आता ही नहीं ।

न करके सबकुछ कर डाला व सबकुछ करके भी लेशमात्र नहीं किया—कितनी उदात्त, रसमय व काव्यमय यह कल्पना है ! अब काव्य और क्या बाकी रहा ? जो कुछ काव्यके नामसे प्रसिद्ध है वह सब इस काव्य-के आगे फीका है । इस कल्पनामें जो आनंद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति व जो

दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमें नहीं। इस तरह यह पांचवां अध्याय ऊंची—बड़ी ऊंची भूमिकापर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्यायतक कर्म, विकर्म बताकर यहां खूब ही ऊंची उड़ान मारी है। यहां अकर्म दशाके दो प्रकारोंकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहां भाषा लड़खड़ाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्म-संन्यासी श्रेष्ठ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहा ही नहीं जा सकता। सब करके भी कुछ न करना व कुछ भी न करते हुए सब-कुछ करना, ये दोनों योग ही हैं; परंतु तुलनाके लिए एक को योग कहा है, दूसरेको संन्यास।

(२२)

तो अब इनकी तुलना कैसे की जाय? इसके लिए उदाहरणोंसे ही काम लेना पड़ेगा। जब उदाहरण देने जाते हैं तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे हैं। परंतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिये तो, पूर्ण कर्म-संन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग, ये कल्पनाएं ऐसी हैं, जो इस शरीरमें नहीं समा सकतीं। वे इस देहको फोड़ डालेंगी। परंतु, जो महापुरुष इस कल्पनाके नजदीकतक पहुंच गये हैं, उनके उदाहरणसे हमें काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले हैं। परंतु, थोड़ी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण हैं।

रेखागणितमें जैसा कहते हैं कि 'कल्पना करो' कि 'सा' 'रे' 'ग'—एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करें? क्योंकि इस त्रिकोणकी रेखाएं यथार्थ रेखाएं नहीं हैं। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि जिसमें लंबाई है, पर चौड़ाई नहीं। तख्तेपर बिना चौड़ाईके यह लंबाई दिखाई कैसे जाय? लंबाई जहां खींची कि चौड़ाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खींचेंगे, उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमें रेखा 'मानें' बिना काम ही नहीं चलता। भक्ति-शास्त्रमें भी ऐसी ही बात है। वहां भी भक्त कहता है—इस छोटी-सी शालग्रामकी बट्टीमें अखिल ब्रह्माण्ड-नायक है यह "मानो"। यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है?" तो उससे कहो—"तुम्हारी यह भूमिति क्या पागलपन है? बिलकुल स्पष्टतः मोटी रेखा दिखाई पड़ती है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाईकी मानो,

यह क्या पागलपन है ?" खुर्दबीनसे देखोगे तो वह आधा इंच चौड़ी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमितिमें मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि—"मानो, इस शालग्राममें परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊं एक चोट ?" तो यह समझदारी नहीं कही जायगी; क्योंकि जब भूमितिमें 'मानो' चलता है, तो फिर भक्ति-शास्त्रमें क्यों न चलना चाहिए ? बिंदुको कहते हैं 'मानो' और तख्तेपर बिंदु (प्रत्यक्ष) निकालते हैं। बिंदु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिंदुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। बिंदुकी न लंबाई, न चौड़ाई, न मोटाई—कुछ भी नहीं। किंतु व्याख्या तो ऐसी करते हैं, व फिर उसे तख्तेपर बनाकर दिखाते हैं। पर बिंदु तो वास्तव में अस्तित्व मात्र है, त्रि-परिमाण-रहित है। मतलब यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिंदु व्याख्यामें ही रहता है, परंतु हमको उसे मानकर चलना पड़ता है। भक्ति-शास्त्रमें भी शालग्राममें न टूटने-फूटनेवाला सर्व-व्यापी परमेश्वर मानना पड़ता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टांत लेकर इनकी तुलना करेंगे।

मीमांसकोंने तो एक बड़ा मजा ही किया है। परमेश्वर कहां है—इसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने बड़ा सुंदर विवरण किया है। वेदोंमें इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं। इन देवताओंका विचार मीमांसामें करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—"यह इंद्र कैसा है ? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहां है ?" मीमांसक उत्तर देते हैं—'इंद्र' शब्द ही इंद्र का रूप है। 'इंद्र' शब्दमें ही वह रहता है। 'इ' व उस-पर 'अनुस्वार', फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कैसे ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु', फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुण का रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओंके विषयमें समझिए। ये सारे देवता अक्षर-रूप धारी हैं। देवता सब अक्षर-मूर्त्ति हैं, इस कल्पनामें—इस विचारमें—बड़ी मिठास है। देवकी कल्पना—देव वस्तु किसी आकारमें न समाने जैसी है। उस कल्पनाको प्रदर्शित करनेके लिए अक्षर यही एक चिन्ह काफी होगा। ईश्वर कैसा है ? तो पहले 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र'। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल

ही कर डाला । 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया । ईश्वरके लिए वह एक संज्ञा ही बन गया । ऐसी संज्ञाएं बनानी पड़ती हैं; क्योंकि मूर्त्तिमें—आकारमें—ये विशाल कल्पनाएं समा ही नहीं सकतीं; परंतु मनुष्यकी इच्छा बड़ी जबरदस्त होती है । वह इन कल्पनाओंको मूर्तिमें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न किये बिना रहता ही नहीं ।

(२३)

संन्यास व योग, ये बहुत ऊंची उड़ानें हैं। पूर्ण संन्यास व पूर्णयोगकी कल्पना इस देहमें नहीं समा सकती । भले ही देहमें ये ध्येय न समा सकें, तो भी विचारमें जरूर समा जाते हैं। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी तो व्याख्यामें ही रहनेवाले हैं । ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे, परंतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होंगे, जो इन कल्पनाओंके अधिक-से अधिक नजदीक पहुंच पाये होंगे । और फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि 'इसे पूर्ण योगी और इसे पूर्ण संन्यासी' समझो । संन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते हैं। इधर कर्मयोगके रूपमें जनक और श्रीकृष्णका नाम खुद भगवद्गीतामें ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीता-रहस्य' में एक नामावली ही दे दी है । "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये ।" परंतु थोड़ा-विचार करनेसे यह फेहरिस्त, लिखा हुआ, भीगे हाथसे जिस तरह मिटाया जाता है, उस तरह, मिटा दी जायगी । याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे । यानी संन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव संन्यासी हुए । याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक । संन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है । इस तरह योग और संन्यास एक-ही परंपरामें आ जाते हैं।

शुकदेवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परंतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुमपर नहीं लगी । इसलिए तुम जनकके पास जाओ ।" शुकदेव चले । जनक तीसरे मंजिलपर अपने विशाल भवनमें बैठे थे । शुक थे वनवासी ! नगर देखते-देखते चले । जनकने शुकदेवसे

पूछा—"क्यों आये ?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए।" "किसने भेजा ?" "व्यासदेवने।" "कहांसे आये ?" "आश्रमसे।" "आते हुए यहां बाजारमें क्या-क्या देखा ?" "चारों तरफ शकरकी एक ही मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे।" "फिर क्या देखा ?" "यहां आते हुए शकरकी सख्त सीढ़ियां मिलीं।" "फिर क्या मिला ?" "शकरके चित्र यहां भी सर्वत्र देखे।" "अब क्या दीख रहा है ?" "एक शकरका पुतला दूसरे शकरके पुतलेसे बात कर रहा है।" जनकने कहा, "जाओ, तुमको सब ज्ञान मिल चुका।" शुकदेवको जनकसे उनके दस्तखतका जो प्रमाणपत्र चाहिए था वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने संन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया। शुक तो संन्यासी ही थे; परंतु प्रसंग कैसा मजेदार है !

परीक्षितको शाप मिला—सात दिनमें तुम्हारी मौत आ जायगी। परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह दिखाये कि मरे कैसे। उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे तो २४×७=१६८ घंटे पल्थी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया तो फिर, छोड़ा ही नहीं। एक-सी कथा कहते ही रहे। 'तो इसमें कौन बड़ी बात है ?' बड़ी बात यह कि सतत सात दिनतक उनको भारी श्रम करना पड़ा, फिर भी वह उन्हें कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नहीं रहे थे। श्रमकी भावना ही वहां नहीं थी। सार यह कि संन्यास और कर्मयोग ये दोनों भिन्न हैं ही नहीं।

इसलिए भगवान् कहते हैं—

"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।"

संन्यास और योगमें जो एक-रूपता देखेगा, कहना होगा कि उसीने वास्तविक रहस्य समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नहीं करता। जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा संन्यासी पुरुष दस दिन हमारे-आपके बीचमें आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उनसे

मिलेगी ! अनेक वर्षोंतक कामका ढेर लगाकर भी जो नहीं हुआ वह केवल उसके दर्शनसे—अस्तित्व मात्रसे हो जायगा । फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोंके चित्रोंसे यदि भक्ति, प्रेम, पवित्रता हृदयमें उत्पन्न होती है, तो जीवित संन्यासीको देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ? संन्यासी और योगी, दोनों लोक-संग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहरसे कर्म-त्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्म-त्यागमें कर्म लबालब भरा हुआ है । उसमें अनंत स्फूर्ति भरी हुई है । ज्ञानी संन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनों एक ही सिंहासनपर बैठनेवाले हैं। संज्ञा भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है । एक ही तत्त्वके ये दोनों पहलू या प्रकार हैं। यंत्र जब वेगसे घूमता है तो वह ऐसा दिखाई देता है, मानो स्थिर है, घूम नहीं रहा है । संन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है । उसकी शांति-मेंसे, स्थिरतामेंसे, अनन्त शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है । महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियां थीं । संन्यासीके तमाम उद्योगोंकी दौड़ एक आसन पर आकर स्थिर हो जाय, तो भी वह प्रचंड कर्म करता है । मतलब यह कि योगी ही संन्यासी है और संन्यासी ही योगी है । दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है । शब्द अलग-अलग हैं। पर अर्थ एक ही है । पत्थरके मानी पाषाण और पाषाणके मानी पत्थर जैसे हैं, वैसे ही कर्मयोगीके मानी संन्यासी और संन्यासी के मानी कर्मयोगी हैं।

(२४)

बात यद्यपि ऐसी है तो भी भगवान्ने एक तुर्रा लगा रखा है भगवान् कहते हैं—संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है । जब दोनों ही एकसे हैं तो फिर भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं ? यह फिर क्या दिल्लगी है ? जब भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तब वह साधककी दृष्टिसे कहते हैं। बिल्कुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नहीं। परंतु सब कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोड़ा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है । एक विधि ऐसी है जो साधकके लिए शक्य नहीं, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है । दूसरी ऐसी है जो साधकके लिए भी थोड़ी-बहुत शक्य है । बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म

कैसे करना, यह साधकके लिए पहेली ही रहेगी । यह उसकी समझमें नहीं आ सकता । कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है व मुकाम—पड़ाव—भी है, परंतु संन्यास तो आखिरी मंजिलपर ही है, मार्गमें नहीं है। इसी कारण संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ है ।

इसी न्यायसे भगवान्ने आगे बारहवें अध्यायमें निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है । सगुणमें सब इंद्रियोंके लिए काम है, निर्गुणमें ऐसा नहीं है । निर्गुणमें हाथ बेकार, पांव बेकार, आंखें बेकार—सब इंद्रियां कर्म-शून्य ही रहती हैं । साधकसे यह सब नहीं सध सकता। परंतु सगुणमें ऐसी बात नहीं है । आंखोंसे रूप देख सकते हैं, कानोंसे कीर्त्तन सुन सकते हैं, हाथसे पूजा कर सकते हैं, लोगोंकी सेवा की जा सकती है, पांवसे तीर्थ-यात्रा होती है—इस तरह सब इंद्रियोंको काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुणमें शक्य रहता है, परंतु निर्गुणमें यह सब बंद—जीभ बंद, कान बंद, हाथ-पैर बंद। यह सारा 'बंदी'–प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है ! उसके चित्तमें निर्गुण बैठेगा कैसे ? वह यदि खामोश बैठा रहेगा तो उसके चित्तमें अंट-शंट विचार आने लगेंगे। इंद्रियोंका यह स्वभाव ही है कि उन्हें कहते हैं कि न करो तो वे जरूर करेंगी । विज्ञापनोंमें क्या ऐसा नहीं होता ? ऊपर लिखते हैं 'मत पढ़ो'। तो पाठक मनमें कहता है कि यह जो न पढ़नेको लिखा है, तो पहले इसीको पढ़ो न !' 'मत पढ़ो' कहना इसी उद्देश्य से होता है कि पाठक उसे जरूर पढ़ें। मनुष्य अवश्य ही उसे जतनसे पढ़ता है। निर्गुणमें मन भटकता रहेगा । सगुण भक्तिकी बात ऐसी नहीं। वहां आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इंद्रियोंके लिए वहां काम है । इन इंद्रियोंको ठीक काममें लगाकर फिर मनसे कहो, "अब जाओ, जहां जी चाहे" परन्तु तब मन नहीं जाने का । वहीं रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा । परंतु यदि उसे जान-बूझकर एक स्थानपर बैठाना चाहोगे तो वह भाग ही छूटेगा । भिन्न-भिन्न इंद्रियोंको उत्तम, सुंदर, काममें लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकनेके लिए कह दो । वह नहीं भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो तो वह कहेगा—"लो, मैं यहीं बैठ गया ।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा "मैं यह चला"।

देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी बनिस्वत सगुण श्रेष्ठ है । कर्म करते रहते भी उसे उड़ा देनेकी युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें आसानी होती है । कर्मयोगीमें प्रयत्न—अभ्यासके लिए जगह है । सब इंद्रियोंको अपने अधीन बनाकर धीरे-धीरे सब उद्योगोंसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमें किया जा सकता है । यह तरकीब आज न सधी तो भी सधने जैसी है । कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही संन्यासकी अपेक्षा उसकी विशेषता है; परंतु पूर्णावस्थामें कर्मयोग व संन्यास दोनों एक ही हैं । पूर्ण संन्यास व पूर्ण कर्मयोग दोनों एक ही हैं। नाम दो हैं, देखनेमें अलग-अलग हैं, परंतु असलमें दोनों हैं एक ही । एक प्रकारमें कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परंतु भीतर शांति है। दूसरे प्रकारमें कुछ न करते हुए त्रिभुवनको हिला डालनेकी शक्ति है । जो दीख पड़ता है वह नहीं है—यह दोनों के स्वरूप हैं। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है, तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं। परंतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामें दोनों एक ही हैं।

ज्ञानदेवको चांगदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चांगदेवसे ज्ञानदेव उम्रमें छोटे थे । 'चिरंजीव' लिखते हैं तो ज्ञानदेव ज्ञानमें श्रेष्ठ थे । 'पूज्य' लिखें तो उम्रमें कम थे । तब सिरनामा क्या लिखें ? यह कुछ तय नहीं हो पाता था । अतः चांगदेवने कोरा कागज ही भेज दिया । वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमें पड़ा । उन्होंने उसे पढ़कर ज्ञानदेवको दे दिया । ज्ञानदेवने पढ़ा व मुक्ताबाईको दे दिया । मुक्ता-बाईने पढ़कर कहा—"चांगदेव, इतना बड़ा हो गया है, पर है अभी कोरा का-कोरा ही।" निवृत्तिनाथने और ही अर्थ पढ़ा था। उन्होंने कहा—"चांग देव कोरे हैं, शुद्ध हैं, निर्मल हैं, उपदेश देनेके योग्य हैं।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा । ज्ञानदेवने ६५ ओवियों[1] का पत्र भेजा। उसे 'ज्ञानदेव पासष्ठी' कहते हैं। इस पत्रकी ऐसी मनोरंजक कथा है । लिखा हुआ पढ़ना सरल है परन्तु न लिखा हुआ पढ़ना कठिन है । उसका पढ़ना

१ एक प्रचलित मराठी छंद ।

कभी खतम ही नहीं होता । इसी तरह संन्यासी रीता-कोरा दिखाई दिया तो भी उसमें अपरंपार कर्म भरा रहता है ।

संन्यास व कर्मयोग—पूर्ण रूपमें दोनोंकी कीमत एक-सी है; परंतु कर्मयोगकी व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है । किसी एक नोटकी कीमत पांच रुपये है । सोनेका सिक्का भी पांच रुपयेका होता है । जबतक सरकार स्थिर है, तबतक दोनोंकी कीमत एक-ही है; परंतु यदि सरकार बदल गई तो फिर व्यवहारमें उस नोटकी कीमत एक पाई भी नहीं रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी; क्योंकि आखिर वह सोना है । पूर्णावस्थामें कर्म-त्याग व कर्मयोग दोनोंकी कीमत एक-ही है; क्योंकि ज्ञान दोनोंमें समान है । ज्ञानकी कीमत अनंत है । अनंतमें कुछ मिलाओ तो कीमत अनंत ही रहती है, गणित-शास्त्रका यह सिद्धांत है । कर्म-त्याग व कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमें मिल जाते हैं तो दोनोंकी कीमत बराबर हो जाती हैं; परंतु ज्ञानको यदि दोनों ओर से हटा लिया तो फिर कर्म-त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा । ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनों ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है । मंजिल पर पहुंच जानेपर ज्ञान+कर्म=ज्ञान+कर्माभाव । परंतु ज्ञानको दोनों ओर से घटा दीजिए तो फिर कर्मके अभाव की अपेक्षा कर्म ही साधकके लिए श्रेष्ठ ठहरेगा । न करके करना साधककी समझमें ही नहीं आ सकता । करके न करना वह समझ सकता है । कर्मयोग मार्गमें भी है और मुकाम पर भी है; परंतु संन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्गमें नहीं । यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है व निष्ठा भी है; परंतु संन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है, अंतिम अवस्था ।

रविवार, २०-३-३२

छठा अध्याय

(२५)

पांचवें अध्यायमें हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य ऊंची-से-ऊंची उड़ान कहांतक मार सकता है । कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है । कर्म स्थूल वस्तु है । जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें उनमें हमारे मनका सहयोग होना चाहिए । मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म किया जाय वह विकर्म, विशेष कर्म, अथवा सूक्ष्म कर्म है । जरूरत कर्म और विकर्म दोनोंकी है । इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है । हमने पिछले अध्यायमें देख लिया कि इस भूमिकामें कर्म व संन्यास, दोनों एक-रूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्यायके आरंभमें फिर कहा है कि कर्मयोगीकी भूमिका संन्यास की भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरशः एक-रूप है । सिर्फ दृष्टिका फर्क है । पांचवें अध्यायमें जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना यह बादके अध्यायोंका विषय है ।

कई लोगोंकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रंथ, साधुओंके लिए हैं। एक सज्जनने कहा—"मैं कोई साधु नहीं हूं ।" इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नामके कोई जीव हैं, जिनमेंसे वे सज्जन नहीं हैं। जैसे घोड़े, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी हैं, वैसे ही साधु नामके भी कोई जीव हैं और परमार्थकी कल्पना सिर्फ उन्हींके लिए है । शेष जो व्यावहारिक जगत्में रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके हैं। उनके विचार अलग, आचार अलग ! इस कल्पनाने साधु-संत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी हैं । 'गीता-रहस्य' में तिलक महाराजने इस बातकी ओर ध्यान खींचा है । गीताग्रंथ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोंके लिए है, उनका यह कथन मैं अक्षरशः सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसारके लिए है । परमार्थ-विषयक समस्त साधन

प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शांति कैसे प्राप्त की जाय? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय —यह बतानेके लिए गीता है। जहां-जहां तुम व्यवहार करते हो, वहां-वहां गीता आती है। परंतु वहां वह आपको रखना नहीं चाहती। आपका हाथ पकड़कर वह अंतिम मंजिलतक आपको ले जायगी। एक मशहूर कहावत है न कि 'पर्वत यदि मुहम्मदके पास न आवे तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा संदेश जड़ पर्वततक भी पहुंचे। पर्वत जड़ है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नहीं जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रंथकी है। कैसा ही दीन-दुर्बल हो, गंवार हो, गीता उसके पास पहुंच जायगी। परंतु इसलिए नहीं कि उसे जहां-का-तहां रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड़कर आगे ले जाय, ऊपर उठावे। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

अतएव "मैं जड़ हूं, व्यवहारी हूं, सांसारिक जीव हूं"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड़ मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथोंसे क्या होगा? इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही मेरा सार-सर्वस्व है।" ऐसी बंधनोंकी दीवारें अपने आस-पास खड़ी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढ़नेकी—ऊपर चढ़नेकी हिम्मत रखो।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर चढ़ा ले जाऊंगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सांसारिक जीव हूं, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पंख काट मत डालो। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चंडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रातःकाल सूर्यको देखकर चंडूल कहता है कि मैं सूर्यतक उड़ जाऊंगा। वैसा हमें बनना चाहिए। अपने दुर्बल पंखोंसे चंडूल बेचारा कितना ही ऊंचा उड़े, तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुंचेगा? परंतु अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वह जरूर सूर्यको पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊंचे जा सकते थे, उतने

भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओंपर रुकावटें डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन-भावनासे नष्ट कर लेते हैं। जहां कल्पनाके ही पांव टूट गये तो फिर नीचे गिरनेके सिवाय क्या गति होगी ? अतः कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए । कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढ़ता है, अतः कल्पनाको सिकोड़ मत डालो ।

"स्थूल मार्गको तजो नहीं ।
पड़े जगतमें रहो, न इत-उत भटको भैय्या व्यर्थ कहीं ।"

ऐसा रोना मत रोते रहो । आत्माका अपमान मत कर लो । साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा तो ही वह टिक सकेगा । इसीसे उद्धार होगा । परंतु धर्म तो साधु-संतोंके लिए ही है, साधु-संतोंके पास गये भी, तो यह प्रशस्ति-पत्र लेने के लिए कि 'तुम जिस स्थितिमें हो, उसमें यही व्यवहार उचित है', इस किस्मके खयाल छोड़ दो । ऐसी भेदात्मक कल्पनाएं करके अपनेको बंधनमें मत डालो। यदि उच्च आकांक्षा नहीं रखोगे, तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकोगे ।

यह दृष्टि, यह आकांक्षा, यह महान् भावना, यदि हो तब तो साधनोंका जोड़-तोड़ आवश्यक है, नहीं तो फिर सारा किस्सा ही खतम। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधन-रूपी विकर्म बताया है । कर्मकी मददके लिए विकर्म निरंतर चाहिए । इन दोनोंकी सहायतासे अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है वह और उसके प्रकार पांचवें अध्याय में देखें । इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गए हैं। मानसिक साधना बताई गई है । इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"भैय्या जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकांक्षा रखो । मनको मुक्त बनाकर उसके पंखोंको सुदृढ़ बनाओ।" साधनाके—विकर्मके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं । भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार हैं ।

छठे अध्यायमें ध्यान-योगनामक साधन-प्रकार बताया गया है ।

(२६)

ध्यान-योगमें तीन बातें मुख्य हैं---(१) चित्तकी एकाग्रता (२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्य-दशा या सम-दृष्टि । इन तीन बातोंके बिना वास्तविक साधना नहीं हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चंचलतापर अंकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओंका नाप-तौल कर होना । समदृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि । इन तीन बातोंको लेकर ध्यान योग बन जाता है । इन तीन साधनोंके भी फिर और साधन हैं। वे हैं अभ्यास और वैराग्य । इन पांचों बातोंकी थोड़ी-सी चर्चा हम यहां करें।

पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिए । प्रत्येक काममें चित्तकी एका-ग्रता आवश्यक है । व्यावहारिक बातोंमें भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहारमें अलग गुणोंकी जरूरत है और परमार्थमें अलग। व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यश-अपयश, सफलता-विफलता आपकी एकाग्रता पर अवलंबित है । व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसीको ले लीजिए, इनमें जो कुछ यश मिलेगा, वह उन पुरुषोंके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा । नेपोलियनके लिए कहा जाता है कि युद्धकी व्यवस्था जहां एक बार ठीक-ठीक लगा दी कि फिर समर-भूमिमें वह गणितके सिद्धांत हल किया करता था। डेरों-तंबुओंपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपो-लियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता । मैं यह नहीं कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढ़ी हुई थी । उससे भी ऊंचे दरजेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे, परंतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी यह देखो । खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लड़ाईमें जब नमाजका समय हो जाता, तो वह वहीं समरभूमिमें चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज़ पढ़ने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नहीं रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे हैं। शुरूके मुसलमानोंकी इस परमेश्वर-

निष्ठाकी ही बदौलत, इस एकाग्रताकी ही बदौलत, इस्लाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर चुभ गया। इससे उसे बड़ी वेदना हो रही थी। तीर खींचनेकी कोशिश करते तो वेदना और बढ़ जाती थी। इससे वह तीर भी नहीं खींचा जा सकता था। क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नहीं। बड़ी समस्या खड़ी हो गई। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे बढ़कर बोले--"तीर अभी मत निकालो। यह नमाज पढ़ने बैठेगा तब निकाल लेंगे।" शामकी नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढ़ने लगा। पल भरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया, तो भी उसे मालूम नहीं हुआ। कैसी जबरदस्त है यह एकाग्रता!

सारांश यह कि व्यवहार हो या परमार्थ, चित्त की एकाग्रताके बिना उसमें सफलता मिलना कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्षके बूढ़े होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममें उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगा। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापेकी तरफ जाता है त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फलको ही देखिए न? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है और मिट जाता है; परंतु त्यों-त्यों भीतरका बीज अधिकाधिक सख्त होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायगा, गिर जायगा, परंतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाय, परंतु स्मरणशक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परंतु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है--"आजकल मेरी याददाश्त कम हो गई।" "क्यों"? "अब बुढ़ापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता जायगा, त्यों-त्यों ढीला पड़ता जायगा। परंतु त्यों-ही-त्यों आत्मा बलवान् होती जानी चाहिए। और यह बिना एकाग्रताके नहीं हो सकता।

(२७)

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे ? उसके लिए क्या करना चाहिए ? भगवान् कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके "न किंचिदपि चिंतयेत्"--दूसरा कुछ भी चिंतन न करे।

परंतु यह सधे कैसे ? मनको बिलकुल शांत करना बड़ी महत्वकी वस्तु है । विचारके चक्रको जोरसे रोके विना एकाग्रता कैसे होगी ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाये जायं वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आंखें स्थिर कर लीजिए। परंतु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा । मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बन्द करना सधना चाहिए ।

बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बन्द किये बिना एकाग्रता अशक्य है । अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालते हैं, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए । जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए खुद अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष बिना जरूरत खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए । यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्च कर डालते हैं। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा । अरे भाई, कितनी रत्ती नमक कम पड़ा ? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है ! बच्चोंको पाठशालाकी चारदीवारीके अंदर ही पढ़ाते हैं क्योंकि, कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायंगे तो कौवे, कोयल और चिड़ियां देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे ! कौवे, चिड़ियां नहीं दिखाई दीं तो होगई एकाग्रता ! परंतु अब हम हो गये हैं घोड़ेके बराबर । हमारे अब सींग निकल आये हैं । यदि हमें सात-सात दीवारोंके अन्दर भी किसीने बन्द कर दिया तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती; क्योंकि हमारी

आदत दुनियामें हर छोटी-बड़ी चीजकी चर्चा करनेकी पड़ गई है । जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें खो देते हैं और उसमें कृतार्थता मानते हैं।

दिन-रात ऐसा यह भयानक संसार हमारे चारों ओर भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है । प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है । परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए भी संसारको भुलानेकी भावना ही नहीं रहती । प्रार्थना भी एक दिखावा है। ऐसी जहां मनकी स्थिति है वहां आसन जमाकर बैठना और आंख मूंदना सब व्यर्थ है । मनकी दौड़ निरंतर बाहर ही होते रहनेसे मनुष्य का सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है । किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियन्त्रण शक्ति मनुष्यमें नहीं रहती । इसका अनुभव आज हमारे देशमें कदम-कदमपर हो रहा है । वास्तवमें भारतवर्ष तो परमार्थ भूमि है । यहां के लोग पहले ही ऊंची हवामें उड़नेवाले समझे जाते हैं। पर ऐसे देशमें हमारी-आपकी क्या दशा है ? छोटी-छोटी बातोंकी इतनी चिंताके साथ चर्चा व पिष्टपेषण करते हैं कि जिसे देखकर दुःख होता है । क्षुद्र विषयोंमें ही हमारा चित्त डूबा रहता है ।

कथा-पुरान-श्रवणमें मीठी नींद सदा आ जाती है।
पड़ते ही बिस्तरपँ किन्तु चिंता मनको खाती है।
कर्मकी गति ऐसी गहना। उसे रोनेसे क्या पाना ?

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते हैं, वहां नींद आ घेरती है, और नींद लेने जाते हैं, तो वहां चिंता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है । एक ओर शून्याग्रता, तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कहीं पता नहीं। इतना यह मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम है । एक बार किसीने पूछा— "आंखें अधमुंदी रखनी चाहिएं, ऐसा क्यों कहा गया है ?" मैंने कहा— "सरल ही उत्तर देता हूं। आंखें बिलकुल मूंद लें तो नींद लग जाती है । खुली रखें तो चारों ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नहीं होती। आंखें मूंदनेसे नींद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ । खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण आ गया। इसलिए बीचकी स्थिति कही है ।"

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मनकी स्थिति ठीक शुद्ध होनी चाहिए । केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिएं। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासना तृप्तिके लिए, अथवा बाहरी बातोंके लिए नहीं करना है ।

व्यवहार तो हम दिन भर करते रहते हैं। आखिर दिन भरकी इस उधेड़बुनका हेतु क्या है ?

इसी हेतु मेरा सारा परिश्रम ।
अंतकी ये घड़ी होवे मीठी ।।

सारी उधेड़बुन, सारी दौड़-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिंदगीभर कड़वा विष क्यों पचाया! इसलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण, पवित्र हो जाय । दिनकी अंतिम घड़ी शाम को आती है । आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भाव से किया गया तो रात की प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया तो दिनका सारा कर्म सफल समझो । तब मेरा मन एकाग्र हो जायगा ।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धिकी जरूरत है । बाह्य वस्तुओंका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नहीं है । परंतु इस थोड़ी-सी आयुमें भी परमेश्वरीय सुखके स्वाद लेनेका सामर्थ्य है । दो मनुष्य बिलकुल एक ही सांचे में ढले, एक-सी छाप लगे हुए । दो आंखें, उनके बीच एक नाक और उस नाक में दो नासा-पुट । इस तरह बिलकुल एकसे होकर भी एक मनुष्य-देव तुल्य होता है तो दूसरा पशु-तुल्य । ऐसा क्यों होता है ? एक ही परमेश्वरके बालबच्चे--

'सब एक ही खानिके'

हैं, तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है ? इन दो व्यक्तियोंकी जाति एक है, ऐसा यकीन नहीं होता। एक नरका नारायण है तो दूसरा नरका वानर!

मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग

पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीचमें हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले निकले और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्‌भुत करनी कर सकता है तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूंगा। मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों न बांध लूं? जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिला है, मेरी ऐसी दशा क्यों? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखनेमें वह बहुत वाहियात हो गया है। परंतु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है?

कहां गुण-दोष पराये देखूं।

कमी क्या मुझमें दोषोंकी है।

खुद मुझमें क्या दोष कम हैं! यदि मैं सदेव दूसरोंकी छोटी-छोटी बातें देखनेमें ही तल्लीन रहा, तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता हो भी कैसे? उस दशामें मेरी स्थिति दो ही प्रकारकी हो सकती है। एक तो शून्य अवस्था अर्थात् नींद; और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मैं उलझता रहूंगा।

भगवान्‌ने यह जरूर कहा है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आंखें रखो, इस तरह आसन जमाओ, आदि; परंतु इन सबसे फायदा तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हों? मनुष्यके चित्तमें पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूंढ़ निकालेगा।

(२८)

चित्तकी एकाग्रतामें सहायक दूसरी बात है, जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओंमें आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। जीवनमें सब जगह चारों तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इंद्रियपर पहरा बिठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं न खाता हूं, अधिक तो नहीं न सोता,

जरूरतसे ज्यादा तो नहीं न देखता––ऐसा ध्यान बारीकीसे निरंतर रखना चाहिए।

एक साहव किसी शख्सके लिए कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमें गये तो एक मिनटमें उनकी निगाहमें आजाता था कि उसमें कहां क्या रक्खा है ? मैंने मनमें कहा––"भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।" क्या मैं उसका मंत्री हूं, जो पांच-पचास चीजोंकी सूची मनमें रखूं ? या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहां था, घड़ी वहां थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आंखोंकी यह फजूलियात मुझे छोड़ देनी चाहिए। उसी प्रकार कानपर भी पहरा रखो। वाज लोग समझते हैं, यदि कुत्तोंकी तरह हमारे कान होते तो कितना अच्छा रहता! जिधर चाहते, उधर एक क्षणमें उन्हें हिलाया करते। मनुष्यके कानमें परमात्माने यह कसर ही रख दी। परंतु कानकी यह वाहियात शक्ति हमें नहीं चाहिए। वैसे यह मन भी बहुत जबरदस्त है। जरा कहीं खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अत: जीवनमें नियमन परिमितता लाओ। खराव चीज नहीं देखें। खराब किताव नही पढ़ें। निंदास्तुति नहीं सुनें। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओंका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करें। लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिए। शराब, पकौड़ी, रसगुल्ले, तो होने ही नहीं चाहिए; परंतु संतरे, केले, मौसमी भी बहुत नहीं चाहिए। फल-आहार यों शुद्ध आहार है; परंतु वह भी अनाप-शनाप नहीं होना चाहिए। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिए। इंद्रियोंपर यह धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटांग करेंगे तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते हैं।

(२९)

तीसरी बात है समदृष्टि होना। समदृष्टिका ही अर्थ है––शुभ दृष्टि। शुभ दृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। सिंह इतना बड़ा वनराज है, परंतु चार कदम चलकर पीछे देखता है। हिंसक सिंहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौवे, बिल्ली, इनकी आंख हमेशा

फिरती रहती हैं। निगाह उनकी चौकन्नी-घबराई हुई होती है। हिंस्र प्राणियोंका ऐसा ही हाल रहेगा। साम्य दृष्टि आनी चाहिए। यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए। जैसा मुझे खुद अपनेपर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टिपर मेरा विश्वास होना चाहिए। यहां डरनेकी बात ही क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है।

"विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः।"

यह विश्व मंगलमय है, क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंगने भी ऐसा ही कहा है।

"ईश्वर आकाशमें विराजमान है, और संसार सब ठीक तरहसे चल रहा है।"

संसारमें कुछ भी विगाड़ नहीं है। अगर बिगाड़ कहीं है तो वह है मेरी दृष्टिमें। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी यह सृष्टि। यदि मैं लाल रंगका चश्मा चढ़ा लूंगा तो सारी सृष्टि लाल ही लाल दिखाई देगी, जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते व शिष्यों को पढ़कर बताते जाते थे। हनुमान भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था—"हनुमान अशोक-वनमें गये। वहां उन्होंने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहां झटसे हनुमान प्रकट हो गये और बोले—"मैंने सफेद फूल नहीं देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैंने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनुमानने कहा—"मैं खुद वहां गया था, और मैं ही झूठा ?" अंतमें झगड़ा रामचंद्रजीके पास गया। उन्होंने कहा—"फूल तो सफेद ही थे। परंतु हनुमानकी आंखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हें लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यही है कि संसारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमें वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। जबतक मैं यह समझता रहूंगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है—तबतक मैं सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखता

रहूंगा । कवि पंछियोंकी स्वतंत्रताके गान गाते हैं। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पंछी होकर देखो तो। फिर उनकी आजादी की सही कीमत मालूम हो जायगी । पक्षियोंकी गर्दन बराबर आगे-पीछे एक-सी नाचती रहती है । उन्हें सतत दूसरोंका भय लगा रहता है । चिड़ियाको आसनपर ला विठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी ? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुर्रसे उड़ जायगी। वह डरेगी कि कहीं यह मुझे मारने तो नहीं आ रहा है ? जिनके दिमागमें ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—संहारक है, उन्हें शांति कहां ? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि मेरा रक्षक मैं अकेला ही हूं, बाकी सब भक्षक हैं, तबतक एकाग्रता नहीं हो सकती । समदृष्टिकी भावना करना ही उसका उत्तम मार्ग है । आप सर्वत्र मांगल्य देखने लग जाइए, चित्त अपने आप शांत हो जायगा ।

किसी दुःखी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइए। उसके स्वच्छ शांत प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी। वह अपना दुःख भूल जायगा। उस झरनेमें, उस प्रवाहमें , इतनी शक्ति कहां से आ गई? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उससे प्रकट हुई है । वेदोंमें झरनोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

"अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्"

ऐसे ये झरने हैं। झरना अखंड बहता है, उसका अपना कोई घर-बार नहीं, वह संन्यासी है । ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमें मेरे मनको एकाग्र बना देता है । ऐसे सुन्दर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका स्रोत मेरे मनमें क्यों न उमड़ पड़े ?

यह बाहरका जड़ पानी भी यदि मेरे मनको इतनी शांति प्रदान कर सकता है तो फिर मेरी मानस-दरीमें यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे तो मेरे मनको कितनी शांति प्राप्त होगी ! मेरे एक मित्र पहले हिमालयमें—काश्मीरमें घूम रहे थे। वहाँके पवित्र पर्वतोंके, सुंदर जल-प्रवाहोंके वर्णन लिख-लिखकर मुझे भेजते थे। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुमको अनुपम

आनंद देते हैं उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदयमें हो सकता है। अपनी अंतःसृष्टिमें मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योंको देखता हूं, अतः तुम्हारे बुलानेपर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोड़कर नहीं आऊंगा।

"स्थावराणां हिमालयः।"

स्थिरताकी मूर्त्तिके रूपमें जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया तो वह उल्टी ही बात होगी!

सारांश, चित्तको जरा शांत कीजिए। चित्तको मंगल-दृष्टिसे देखिए। तो फिर आपके हृदयमें अनंत झरने बहने लगेंगे। कल्पनाओंके दिव्य तारे हृदयाकाशमें चमकने लगेंगे। पत्थर और मट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शांत हो जाता है तो फिर अंतःसृष्टिके दृश्य देखकर क्यों न होगा? एकबार मैं (त्रावणकोर) गया था। वहां एक दिन समुद्र किनारे बैठा था। वह अपार समुद्र, उसकी धूं-धूं गर्जना, सायंकालका समय, मैं स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था। मेरे मित्रने वहीं समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरा खानेके लिए ला दिये। उस समय वह सात्विक आहार भी मुझे जहरकी तरह लगा। समुद्रकी वह ॐ ॐ गर्जना मुझे—"माम-नुस्मर युद्धय च" इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी। समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था। एक लहर आई, वह गई और दूसरी आई। उसे एक क्षणके लिए विश्रांति नहीं। यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड़ गई थी। आखिर उस समुद्रमें ऐसा क्या था! उस खारे पानी की लहरोंको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमें हिलोरे मारनेपर मैं कितना नाच उठूंगा! वैदिक ऋषिके हृदयमें ऐसा ही समुद्र हिलोरे मारता था—

"अंतःसमुद्रे हृदि अंतरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत्॥"

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोंकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गई। कैसी वह घृतकी धारा ? कैसी वह मधुकी धारा ? क्या मेरे अंतःसमुद्रमें खारी लहरें उठेंगी ? नहीं, नहीं। मेरे हृदयमें तो दूध, मधु और घीकी लहरें हिलोरें मार रही हैं।

(३०)

हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखो। बाहरके निरभ्र नील आकाश को देखकर चित्तको भी निर्मल और निर्लेप बनाओ। सच पूछो तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है। मामूली बात है। चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है। छोटे बच्चोंकी आंखोंकी ओर एक टक लगाकर देखो। छोटा बच्चा एक-सा टक लगाकर देखता है, लेकिन तुम दस बार पलक मारोगे। बच्चोंका मन तुरंत एकाग्र हो जाता है। चार-पांच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा। स्त्रियोंका तो ऐसा खयाल है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रंगकी हो जाती है। मानो सब इंद्रियोंकी आंखें बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा-शास्त्री कहते हैं—शुरूके दो-चार सालों में जो शिक्षा बालकोंको मिल जाती है वही वास्तविक शिक्षा है। आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, संघ कायम कीजिए, शुरूमें जो शिक्षा मिली है, वह फिर कभी नहीं मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा संबंध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरंभिक संस्कार वज्रलेप हो जाते हैं। बादके शिक्षणको बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली, समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है, परंतु चमड़ीका काला रंग कैसे चला जायगा ? उसी तरह जो संस्कार आदिमें पड़ जाता है, उसका मिटाना कठिन हो जाता है।

तो ये आदिके संस्कार बलवान् क्यों ? बादके संस्कार कमजोर क्यों ? इसलिए कि बचपनमें चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो संस्कार पड़ते हैं, वे फिर नहीं मिटते। चित्तकी

एकाग्रताकी इतनी महिमा है; जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गई उसके लिए क्या अशक्य है ?

हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है । हमारी बाल-वृत्ति मर गई है, नष्ट हो गई है । जीवनमें वास्तविक सरसता नहीं; वह शुष्क हो गया है । हम ऊट-पटांग, जैसे-तैसे चल रहे हैं। डारविन साहब नहीं, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि मनुष्यके पूर्वज बन्दर थे।

छोटा बच्चा विश्वास-शील होता है। मां जो कहे, वह उसके लिए प्रमाण। जो कहानियां उसे कही जाती हैं वे उसे असत्य नहीं मालूम होतीं। कौआ बोला, चिड़िया बोली, यह सब उसे सच मालूम होता है। बच्चोंकी इस मंगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है ।

(३१)

तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्त की एकाग्रता, जीवनकी परिमितता व शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है । उसके सिवा और भी दो साधन बताये जाते हैं—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वंसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाड़कर फेंकना विध्वंसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते हैं। उसमें बीज बोना विधायक काम है । मनमें सद्-विचारोंका पुनः-पुनः चिंतन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे ? हम कहते हैं—आम मीठा है; परन्तु क्या यह मिठास निरे आममें है ? नहीं, निरे आममें नहीं है । हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमें डालते हैं और फिर वह वस्तु मीठी लगती है । अतः भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमें मधुरता नहीं है, बल्कि वह 'रसानां रसतमः' माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसकी बदौलत मीठी वस्तुओंको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमें वैराग्यका संचार होता है । सीता माताने हनुमानको मोतियोंका हार इनाममें दिया। हनुमान मोतियोंको चबाता, देखता और फेंक देता। उनमें उसे कहीं 'राम' दिखाई नहीं देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन्हीं मोतियोंके लिए मूर्ख लोग लाख रुपये भी दे देते ।

इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने एक बहुत ही महत्वकी बात शुरूमें बता दी है । वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि 'मुझे स्वतः अपना उद्धार करना है । मैं आगे बढ़ूंगा । मैं ऊंची उड़ान मारूंगा । इस नर-देहमें मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा नहीं रहूंगा। परमेश्वरके पास जानेका साहस करूंगा और ऐसा प्रयत्न भी करूंगा।"

यह सब सुनकर अर्जुनके मनमें शंका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उमर बीत गई। कुछ दिनोंमें हम मर जायंगे तो फिर यह साधना क्या काम आयेगी ।" भगवान्‌ने कहा—"मृत्युका अर्थ तो है लंबी नींद।" रोज काम करके हम सात-आठ घंटे सोते हैं। इस नींदसे कोई डरता है? बल्कि नींद न आये तो फिक्र पड़ जाती है । जैसे नींद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है । जैसे नींदसे उठकर फिर हम अपना काम प्रारंभ कर देते हैं, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी । ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' में इस प्रसंगको लेकर लिखी ओवियोंमें मानो अपना आत्म-चरित ही लिख दिया हो—

"शैशवमें ही सर्वज्ञता । वरती है उन्हें ।
सकल शास्त्र स्वयं ही । मुख से निकलें ॥"

आदि चरणोंमें यही दिखाई देता है । पूर्व-जन्मका अभ्यास तुम्हें खींच लेता है । किसीका चित्त विषयोंकी ओर जाता ही नहीं। वह जानता ही नहीं कि मोह कैसा होता है ; क्योंकि पूर्व जन्ममें वह उनकी साधना कर चुका है ।

"शुभकारी कभी कोई
पाता कुगति को नहीं ।"

जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता । अंतमें इस तरहकी श्रद्धा बताई गई है । जो कुछ अपूर्ण है, वह अन्तको पूरा होकर रहेगा । भगवान्‌के इस उपदेशका सार ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो ।

रविवार, २७-३-३२

सातवाँ अध्याय

(३२)

भाइयो, अर्जुनके सामने जब स्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसके मनमें स्वकीय व परकीय का मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणसे बचनेकी तदबीर करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमें दिखाया गया। इस मोहको मिटानेकी तजवीजसे दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धांत बताये गए, (१)आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्याग-रूपी वह तरकीब भी बतलाई, जिससे उन सिद्धांतोंपर अमल करनेकी कुंजी हाथ लग जाय। इस कर्म-योगका विवरण करते हुए उसमेंसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन चीजें पैदा हुईं। कर्म-विकर्मके संगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पांचवें अध्यायमें हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआत की गई। छठे अध्यायमें साधनाके लिए आवश्यक एका-ग्रताका महत्व बताया गया।

आज सातवां अध्याय है। इस अध्यायमें विकर्मका एक नया ही भव्य भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मंदिरमें, किसी विशाल वनमें, हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते हैं, वैसा ही अनुभव गीता-ग्रंथमें होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका भवन देखा। अब हम जरा दूसरे भवनमें प्रवेश करें।

उस भवनका द्वार खोलनेके पहले ही भगवान्‌ने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागदपर एक ही कूंचीसे चित्रकार नानाविध चित्र निकालता है। कोई सितारी सात सुरोंसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मय बावन अक्षरोंकी सहा-

यतासे हम नाना प्रकारके विचार व भाव प्रकट करते हैं। वैसे ही इस सृष्टिको समझो। सृष्टिमें अनंत वस्तुएं और अनंत वृत्तियां दिखाई देती हैं। परंतु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा व एक ही अष्टधा प्रकृति के इस दुहेरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दु:खितका क्रंदन, आनंदीका हर्ष, आलसीका नींदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य-शक्तिके खेल हैं। इन परस्पर-विरुद्ध भावोंके मूलमें एक ही चैतन्य यहां से वहांतक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्यमय आत्मा व जड़ प्रकृति, इस दुहेरे मसालेसे सारी सृष्टि बनी है, जन्मी है, यह आरंभमें ही भगवान् बता रहे हैं।

आत्मा व देह, परा व अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही है, फिर मनुष्य मोहमें क्यों पड़ जाता है? भेद क्यों दिखाई देता है? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है, तो किसी दूसरेको देखकर तबियत हटती है। एकसे मिलनेकी व दूसरेसे परहेज करनेकी तबियत क्यों होती है? एक ही पेन्सिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार; परंतु नाना चित्रोंसे नाना भाव प्रकट होते हैं। चित्रकारकी यही कुशलता है। चित्रकारकी कूंचीमें, सितारीकी उंगलियोंमें ऐसी कुशलता है कि वे हमें रुला देते हैं, हंसा देते हैं। यह सारी खूबी उनकी उन उंगलियोंमें है।

यह नजदीक रहे, वह दूर रहे; यह मेरा, वह पराया; ऐसे जो विचार मनमें आते हैं, और जिनकी वजहसे समयपर कर्तव्यसे भी पीछे हटनेकी प्रवृत्ति होने लगती है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माताकी उंगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद्में नगारेका दृष्टांत दिया गया है। एक ही नक्कारेसे भिन्न-भिन्न नाद निकलते हैं। कुछ नादोंसे मैं भयभीत हो जाता हूं, कुछको सुनकर नाच उठता हूं। इन सब भावोंको यदि जीत लेना है तो नक्कारा बजानेवालेको पकड़ लेना चाहिए। उसके पकड़में आते ही सारे नाद पकड़में आ जाते हैं। भगवान् एक ही वाक्यमें कहते हैं—"जो मायाको तैर जाना चाहते हैं, वे मेरी शरणमें आवें।"

यहां वही लीला से तरे, जो आये शरण मेरे,
उन्हें सूख गया इसी किनारे माया-जल

तो यह माया क्या है ? माया कहते हैं परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कला-कुशलताको । आत्मा व प्रकृति—अथवा जैन परिभाषामें कहें तो जीव व अजीव—रूपी इस मसालेसे जिसने यह अनंत रंगोंवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है । जेलखानेमें जिस तरह एक ही अनाजकी वह रोटी और वही एक सर्व-रसी दाल होती है वैसे ही एक ही अखंड आत्मा व एक ही अष्ट-धा शरीर समझो । इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजें बनाता रहता है । हम इन चीजोंको देख-कर भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी अच्छे-बुरे भावोंका अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शांति पाना चाहते हैं तो इन वस्तुओंके निर्माताको जा पकड़ना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए । उससे जान-पहचान होने पर ही इस भेद-जनक, आसक्ति-जनक मोहसे बचा जा सकेगा ।

उस परमेश्वरको समझ लेनेका एक महान साधन—एक महान् विकर्म—बतानेके लिए सातवें अध्यायमें भक्तिका भव्य भवन खुला कर दिया है । चित्त-शुद्धिके लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यान-धारणा, इत्यादि अनेक विकर्म बताये जाते हैं, परंतु इन साधनोंको मैं सोडा, साबुन, अरीठा—इनकी उपमा दूंगा । लेकिन भक्तिको पानी कहूंगा । सोडा, साबुन, अरीठा सफाई लाते हैं, परंतु पानी के बिना उसका काम नहीं चल सकता । पानी न हो तो उनमें क्या लाभ ? इसके विपरीत यदि सोडा, साबुन, अरीठा न हो, पर केवल पानी ही हो तो भी निर्मलता जरूर आ सकती है । उस पानीके साथ यदि ये पदार्थ भी हों, तो 'अधिकस्य अधिकं फलम्' हो जायगा; दूधमें शकर पड़ी कहेंगे । यज्ञ, याग, ध्यान, तप, इस सबमें यदि हार्दिकता न हो, तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकता का ही अर्थ है भक्ति ।

सब प्रकारके साधनोंको भक्तिकी जरूरत है । भक्ति एक सार्व-भौम उपाय है । कोई सेवा-शास्त्रका जानकार, उपचारोंसे भलीभांति परिचित मनुष्य किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषाके लिए जाता है; पर यदि

उसके मन में सेवाकी भावना न हो तो बताओ, सच्ची सेवा कैसे बनेगी? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो, पर यदि गाड़ी खींचनेकी इच्छा ही उसे न हो तो वह कंधा डालकर बैठ जायगा —और संभव है कि गाड़ीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे । जिस कार्यमें हार्दिकता नहीं है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि ।

(३३)

यह भक्ति होगी तो उस महान् चित्रकारकी कलाको हम देख सकेंगे। उसके हाथ की वह कलम हम देख सकेंगे । जहां एक बार उस उद्गमके झरनेको व वहांके अपूर्व मधुर रसको चख लिया, तो फिर बाकीके सब रस तुच्छ व नीरस मालूम होंगे । जिसने वास्तविक केले खा लिये, वह लकड़ीके रंगीन केले हाथमें लेगा, और 'बड़े सुंदर हैं' कहकर एक ओर रख देगा । असली केलोंका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोंके प्रति कोई उत्साह नहीं रहता है । इसी तरह जिसे असली झरनेकी मिठासका मजा आ गया है, वह बाहरके गुलाब-शर्बतपर लट्टू नहीं होगा।

एक दार्शनिक-तत्वज्ञानीको लोगोंने कहा—"महाराज, चलिये शहरमें आज बड़ी आराइश की गई है ।" दार्शनिकने कहा—"भाई, यह आराइश क्या होती है ?" एक दिया, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड़, जितने चाहे समझ लो । गणित श्रेढ़ीमें होता है, १+२ +३ इत्यादि अनंत तक। संख्या-संख्यामें जो अंतर रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय तो फिर सारी संख्या लिखनेकी जरूरत नहीं रहती। उसी तरह वे दिये एकके बाद एक रख दिये । इनमें इतना मशगूल होने जैसी कौनसी बात है ?" परंतु मनुष्यको ऐसे आनंद प्रिय होते हैं। वह नींबू लायेगा, शकर लायेगा, पानीमें उसे घोलेगा और फिर बड़े स्वादसे पीकर कहेगा—"वाह, क्या बढ़िया शिकंजी बनी है।" जबानको जायका लेनेके सिवा और काम ही क्या है ? यह इसमें मिलाओ, वह उसमें मिलाओ । ऐसी चाट खानेमें ही उसे सारा मजा । बचपनमें एकबार मैं सिनेमा देखने गया था। साथमें एक टाटका टुकड़ा ले गया था । मतलब यह कि नींद आने लगे तो सो जाऊं। परदेपर आंखोंको चौंधिया देनेवाली वह आग मैं देखने लगा।

दो ही चार मिनटमें उन अग्नि-चित्रोंको देखकर मेरी आंखें थकने लगीं। मैं अपने टाटपर सो गया और कहा, कि जब खतम होजाय तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामें आकाशके चांद-तारे देखना छोड़कर, शांत सृष्टिका वह पवित्र आनंद छोड़कर, उस कुंद थियेटरमें आगकी पुतलियोंको नाचते देखकर तालियां पीटते हैं। मेरी समझमें ही यह सब न आता था।

मनुष्य इतना निरानंद कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोंको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोड़ा आनंद प्राप्त कर लेता है। जीवनमें जबकि आनंद नहीं है, तो फिर ऐसे कृत्रिम आनंद खोजते हैं। एक बार हमारे पड़ौसमें 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैंने पूछा—"यह बाजा क्यों ?" तो कहा गया —"लड़का हुआ है !" दुनियामें क्या एक तुम्हारे ही लड़का हुआ है ? जो 'टमटम' बजाकर दुनियाको कहता है कि मेरे यहां लड़का हुआ है ? नाच, गान, खेल होते हैं—इसलिए कि लड़का हुआ है। यह सब लड़कपन नहीं तो क्या है ? मानो आनंदका अकाल ही पड़ गया है। अकालके दिनोंमें जैसे कहीं अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पड़ते हैं, उसी तरह जहां लड़का हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनंदके भूखे-प्यासे बेचारे टिड्डीकी तरह टूट पड़ते हैं।

क्या यह सच्चा आनन्द है ? गाना कानोंमें घुसकर उसकी लहर दिमागको धक्का पहुंचाती हैं। आंखोंमें रूप घुसकर दिमागको धक्का देता है। इस धक्के लगनेमें ही बेचारोंका यह आनंद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाकमें घुसेड़ता है, कोई उसकी बीड़ी बनाकर मुंहमें खोंसता है। उस सुँघनीका या उस धुँएका धक्का लगा तो मानो उन्हें आनन्दकी गठरी मिल जाती है ! बीड़ीका ठूंठ मिलते ही उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती। टॉल्स्टाय लिखते हैं—"उस सिगरेटकी खुमारीमें वह कभी किसीका खून भी कर डाले तो आश्चर्य नहीं।" वह एक प्रकारका नशा ही समझो !

ऐसे आनन्द में मनुष्य क्यों मस्त हो जाता है ? क्योंकि उसे वास्तविक आनंदका पता नहीं है। मनुष्य परछाईमें ही पागल हो रहा है। आज वह पांच ज्ञानेन्द्रियोंका ही आनंद ले रहा है। यदि आंखकी इंद्रिय उसके न

होती तो वह चार ही इंद्रियोंका आनंद संसारमें मानता। कलको यदि मंगल ग्रहसे कोई छः इंद्रियवाला मनुष्य नीचे उतर आये, तो ये बेचारे पांच इंद्रियोंवाले खिन्न होंगे और रोते-रोते वे कहेंगे कि "इसके मुकाबले हम कितने दीन-हीन हैं।"

सृष्टिका सारा अर्थ इन पांच इंद्रियोंको कैसे मालूम होगा? इन पांच विषयोंमें भी फिर वह चुनाव करता है और उनमें रमता रहता है। गधेका रेंकना उसके कानोंमें गया तो कहता है कि कहांसे यह अशुभ आवाज आ गई। तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नहीं होगा? तुम्हींको अलबत्ते उससे नुकसान होता है। क्या दूसरोंका तुमसे कुछ नहीं बिगड़ता? मान लिया है कि गधेका रेंकना अशुभ है। एक बार मेरे बड़ौदा कालेजमें रहते हुए कुछ योरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये। अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे; परंतु मैं सोच रहा था कि कब यहां से भाग छूटूँ, क्योंकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नहीं थी। मैंने उन्हें फेल कर दिया। हमारी तरफके गवैये यदि उधर गये तो कदाचित् वे वहां फेल समझे जायंगे। इस तरह संगीतसे एकको आनंद होता है तो दूसरेको नहीं। मतलब यह सच्चा आनंद नहीं है, मायावी आनंद है। जबतक वास्तविक आनंदका दर्शन न होगा, तबतक इस झूठे, धोखा-देह आनंदमें ही झूलते रहेंगे। जबतक असली दूध नहीं मिला था, तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध कहकर पीता था। इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेंगे, उसका आनंद चख लेंगे, तो फिर दूसरी सब चीजें फीकी लगेंगी।

इस आनंदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरी कुशलता मालूम हो जायगी। उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाएं अपनेआप विलीन हो जायंगी। फिर क्षुद्र आकर्षण नहीं रह जायगा। फिर संसारमें एक ही आनंद भरा हुआ दिखाई देगा। मिठाईकी दूकान भले ही सैकड़ों हों, परंतु मिठाइयोंका प्रकार सबमें एक-सा होता है। सो, जबतक असली चीज हाथ न लगेगी, तबतक हम चंचल चिड़ियाकी तरह एक चीज यहां की खायंगे, एक वहांकी। सुबह मैं तुलसी रामायण पढ़ रहा था। दियेके पास कीड़े जमा हो रहे थे;

इतनेमें वहां एक छिपकली आई। उस मेरी रामायणसे तो क्या लेना देना था! कीड़े देखकर उसे कितना आनंद हो रहा था! वह कीड़ोंपर झपटनेवाली थी, कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गई। परंतु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीड़ेकी ओर। मैंने अपने मनमें कहा—"तू खाती है इस कीड़ेको ? तेरी जबानमें लार टपकती है ?" मेरी जबानमें लार नहीं टपकी। जिस रसका आनंद मैं लूट रहा था, उसका उस छिपकलीको क्या पता ? वह रामायण का रस नहीं चख सकी थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोंमें मस्त हैं। परंतु यदि सच्चा रस मिल जाय तो क्या बहार हो ? भगवान् भक्ति-रूपी एक साधन दिखा रहे हैं, जिससे हम उस असली रसको पा व चख सकें।

(३४)

भगवान्‌ने भक्तके तीन प्रकार बतलाये हैं—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परन्तु एकांगी भक्ति करनेवाला, (३) ज्ञानी अर्थात् संपूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवालोंके तीन प्रकार हैं—(१) आर्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाएं हैं।

तो सकाम भक्तका अर्थ क्या ? कुछ इच्छा मनमें रखकर भगवानके पास जानेवाला। मैं उसकी यह कहकर निंदा न करूंगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। कई लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें इसीलिए कूदते हैं कि मान-सम्मान मिले। इसमें नुकसान क्या है ? आप उन्हें मान दीजिए। उनका खूब सम्मान कीजिए। इस सम्मानसे कुछ बिगाड़ न होगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे, फिर आगे चलकर सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायंगे। फिर उसी काममें उन्हें आनंद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी जो इच्छा होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमें यह निश्चय, विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते हैं, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझानेके लिए जिसके पास कोई आंतरिक साधन नहीं है, वह इस बाह्य साधनका अवलंबन लेता है। मांने बच्चेकी पीठ ठोंककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबियत

होती है कि मां का और काम भी करें। यही बात सकाम भक्तिकी है। सकाम भक्त परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—'दो'। सब कुछ परमेश्वरसे मांगनेकी प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नहीं। यह असाधारण बात है। ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—"तीर्थयात्राको चलोगे न?" नामदेवने पूछा—"किसलिए?" ज्ञानदेवने जवाब दिया—"साधुसंतोंका समागम होगा।" नामदेवने कहा—"तो भगवान्से पूछ आता हूं।" नामदेव मंदिरमें जाकर भगवान्के सामने खड़े हो गये। उनकी आंखोंसे आंसू बहने लगे। भगवान्के उन समचरणोंकी ओर ही वह देखते रहे। अंतको रोते-रोते उन्होंने पूछा—"प्रभो, क्या मैं जाऊं?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेंगे? ऐसे लोग कम नहीं हैं जो स्त्री घरमें न होने से रोते हैं। परंतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त भले सकाम ही क्यों न हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मांगने योग्य है, उसे वह नहीं मांगता; परंतु इतनेके लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नहीं मानी जा सकती।

स्त्रियां सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती हैं, काकड़ा[1] आरती करती हैं, तुलसीकी प्रदक्षिणा करती हैं। किसलिए? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परंतु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती हैं। ऐसे व्रत-शील परिवारमें महापुरुषोंका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके ज्ञाता थे। किसीने कह दिया—"तुलसीदासके कुलमें जन्मे हो, और तुम संस्कृत नहीं जानते हो?" रामतीर्थको यह बात चुभ गई। कुलस्मृति का यह कितना सामर्थ्य! इससे प्रेरित होकर वे संस्कृतके प्रगाढ़ अध्ययनमें जुट पड़े। स्त्रियां जो भक्तिभाव रखती हैं, उसकी दिल्लगी न उड़ानी चाहिए। जहां भक्तिका ऐसा एक-एक क्षण संचित होता है, वहां तेजस्वी संतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—"मेरा भक्त सकाम होगा, तो भी उसकी भक्तिको दृढ़ करूंगा। उसके मनमें गोलमाल नहीं

---

[1] सुबह की जानेवाली विशिष्ट आरती, बड़ी बातीवाली।

होने दूंगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदय से प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो, तो मैं उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूंगा। किसी भी निमित्तसे क्यों न हो, वह मेरे पास आवेगा तो मैं उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूंगा।" ध्रुवका ही उदाहरण लीजिए। पिताजीकी गोदीमें बैठने न पाया तो उसकी मांने कहा, "ईश्वरसे स्थान मांग।" वह उपासनामें जुट पड़ा। भगवान्ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन यदि निष्काम न हो, तो भी क्या हुआ? असल बात यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मांगता किससे है? संसार के सामने हाथ न पसारकर ईश्वरको मनानेकी वृत्तिका महत्व कम न आंकना चाहिए।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मंदिरमें जाओ तो। शुरूमें यदि कामना लेकर भी आये होगे तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रदर्शिनियां की जाती हैं। उनके संचालक कहते हैं—"अजी, आप आकर तो देखिए, कैसी बढ़िया, रंगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नमूने तो देखिए।" गाहक आता है व प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मंदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, वहांका सौंदर्य व सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा। स्वर्ग जाते हुए धर्मराजके साथ अंतको एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन, सब रास्तेमें गल गए। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मसे कहा गया—"तुम आ सकते हो, परंतु यह कुत्ता नहीं जा सकता।" धर्मने कहा—"अगर मेरा कुत्ता नहीं जा सकता तो मैं भी नहीं आ सकता।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यों न हो, परंतु दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोंसे तो वह श्रेष्ठ ही है। और वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला भले ही एक कीड़ा ही क्यों न हो, वह परमेश्वरकी ओर जानेवाले बड़े-से-बड़े व्यक्तिसे श्रेष्ठ व महान् है। मंदिरमें कछुए व नंदीकी मूर्तियां होती हैं, परंतु उस नंदी—बैलको सब नमस्कार करते हैं; क्योंकि वह साधारण बैल नहीं है। वह भगवान्के सामने रहता है। बैल होने पर भी यह नहीं भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बड़े-बड़े बुद्धिमानोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। एक बावला जीव भी क्यों न हो, वह यदि भगवान्का स्मरण करता है तो विश्व-वन्द्य हो जाता है।

एक बार मैं रेलमें जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाड़ी आई।

पासमें एक आदमीने बड़े पुलकित हृदयसे उसमें एक धेला डाल दिया। पड़ोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही कंगाल है, और ये लोग यों व्यर्थ पैसा फेंकते हैं।" मैंने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नहीं। जिस भावनासे उसने धेला-पैसा फेंका, उसकी कीमत दो-चार पैसे भी हो सकती है या नहीं? यदि दूसरे सत्कार्यके लिए ये पैसे दिये होते, तो यह दान और भी अच्छा हुआ होता। किंतु इस बातका विचार पीछे करेंगे। परंतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वरकी करुणा ही बह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थ-शास्त्रमें कोई स्थान है क्या? देशकी एक नदीको देखकर उसका अंतःकरण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सकें तो मैं आपकी देश-भक्तिको परखूंगा।" देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है? देशकी एक महान नदीको देखकर यदि यह भावना मनमें जगती है कि अपनी सारी संपत्ति इसमें डुबो दूँ, उसके चरणोंमें अर्पण कर दूँ, तो वह कितनी बड़ी देश-भक्ति है? वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीड़ोंकी विष्ठासे बने मोती व कोयलेसे बने हीरे—इन सबकी कीमत पानीमें डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोंके आगे ये सब धूल, तुच्छ समझो! आप कहेंगे कि नदीका व परमेश्वरके चरणोंका क्या संबंध? आपकी सृष्टिमें परमात्माका कुछ संबंध है भी? नदी है, आक्सिजन व हाइड्रोजन। सूर्य है, गैसकी बत्तीका एक बड़ा-सा नमूना! उसे नमस्कार क्या करें? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको! फिर उस रोटीमें भी भला क्या है? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यों इतनी लार टपकाते हो? इतना बड़ा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुंदर नदी बह रही है—इनमें यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा तो फिर होगा कहां?" अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बड़े दुःख से कहता है—"पहले जब मैं इंद्र-धनुष देखता था, तो मैं नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था। पर आज मैं क्यों नहीं नाच उठता? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कहीं मैं पत्थर तो नहीं होगया?"

मतलब यह कि सकाम भक्ति अथवा गंवार मनुष्यकी भावनाका

भी बड़ा महत्त्व है । अंतमें इससे महान् सामर्थ्य पैदा होता है । जीवधारी कोई भी व कैसा ही हो, वह जब एकबार परमेश्वर के दरबारमें आ जाता तो फिर मान्य हो जाता है । आगमें किसी भी लकड़ीको डालिये, वह जल ही उठेगी । परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है । परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा । आगे जाकर वह भक्ति निष्कामता व पूर्णताकी ओर चली जायगी ।

(३५)

सकाम भक्त यह एक प्रकार हुआ । अब निष्काम भक्ति करनेवालोंसे मिलें । इनमें भी और दो प्रकार––एकांगी और पूर्ण । एकांगी के तीन प्रकार । उनमें पहला प्रकार आर्त्त भक्तोंका । आर्त्त होता है दया-प्रार्थी भगवान्के लिए रोने-चिल्लाने व छटपटानेवाला, जैसे नामदेव । वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान् के प्रेम-रसका पान करूंगा, कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूंगा, कब उसके चरणोंमें अपनेको डालकर धन्य होऊंगा ! प्रत्येक कार्यमें वह यह देखेगा कि सच्चाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम उसमें है या नहीं ? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओंका । फिलहाल अपने देशमें इस श्रेणीके भक्त बहुत नहीं हैं। इस कोटिके भक्त कोई गौरीशंकर पर बार-बार चढ़ेंगे व मरेंगे, कोई उत्तर ध्रुवकी खोजमें निकलेंगे और अपनी खोजके फल कागजपर लिखकर उन्हें बोतलमें बंद करके पानीमें छोड़कर मर जायेंगे, कोई ज्वालामुखीके उदरमें उतरेंगे । अभी तो हिंदुस्तानियोंके लिए मौत एक हौआ हो बैठी है । कुटुंब और परिवारके भरण-पोषणसे बढ़कर कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है । जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है । मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अंतमें समुद्रको पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अंतको परमेश्वरतक पहुंच जायगा । तीसरा वर्ग है अर्थार्थियोंका । अर्थार्थीका अर्थ है प्रत्येक बातमें अर्थ देनेवाला । 'अर्थ' का यहां रुपये-पैसोंसे मतलब नहीं, बल्कि हित-कल्याणसे है । किसी भी बातकी जांच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा कि इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण होगा ? वह देखेगा कि मैं जो कुछ कहता, लिखता, करता हूँ, उससे संसारका मंगल

होगा या नहीं ? निरुपयोगी अहितकर क्रिया उसे मंजूर न होगी । संसार के हितकी चिंता करनेवाला कितना बड़ा महात्मा है ! जगत्‌का कल्याण ही उसका आनंद है । जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओंको देखता है वह आर्त्त, ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु व सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी ।

ये तीनों भक्त हैं तो निष्काम, परंतु एकांगी हैं । एक कर्मके द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धि के द्वारा, ईश्वरके पास पहुंचता है । अब रहा बाकी पूर्ण भक्तका प्रकार । इसीको ज्ञानी भी कह सकते हैं। इस भक्तको जो कुछ दीखता है, सो सब परमेश्वरका ही रूप । कुरूप-सुरूप, राव-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन।

नर नारी बच्चे सब ही नारायण ।
ऐसा मेरा मन बनाओ प्रभु ॥

संत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है । हिंदू-धर्ममें जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूंड रखनेवाले देवताकी पूजा, पेड़ोंकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनकी कमाल ज्ञानी भक्तोंके यहां हुई दीखती है। उनसे कोई भी क्यों न मिले, उन्हें चींटीसे लेकर चंद्र-सूर्यतक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय आनंदसे हिलोरें मारने लगता है ।

फिर वह सुख अनंत-अपार ।
आनंदसे सागर हिलोरता ॥

ऐसा जो यह दिव्य व भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहें। परंतु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, आनंदका स्थान-निधि है । गंभीर सागरमें उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-माता में उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमें उसकी क्षमता दीख पड़ती है, निरभ्र आकाशमें उसकी निर्मलता, रवि-चंद्र-तारोंमें उसका तेज व भव्यता दीखती है । फूलमें उसकी कोमलता, दुर्जनोंमें अपनी परीक्षा करनेवाला परमेश्वर दीखता है । इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है'— यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते हुए वह—ज्ञानी-भक्त—एक दिन ईश्वरमें ही मिल जाता है ।

रविवार, ३-४-३२

आठवां अध्याय

(३६)

मनुष्यका जीवन अनेक संस्कारोंसे युक्त होता है । हमसे असंख्य क्रियाएं होती रहती हैं । यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें तो उसका अंत ही नहीं आ सकता । यदि मोटे तौरपर हम चौबीस घंटोंकी ही क्रियाओंको देखने लगें, तो उनकी गिनती कितनी बढ़ जायगी । खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढ़ना—इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान सुख-दुःख आदि अनंत प्रकार दिखाई देंगे । इन सबके संस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं। अतः अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन किसे कहते हैं, तो मैं उसकी व्याख्या करूंगा—संस्कार-संचय ।

संस्कार दोनों प्रकारके होते हैं—अच्छे भी और बुरे भी । दोनों का प्रभाव मनुष्यके जीवनपर पड़ता रहता है । बचपनकी क्रियाओंकी तो हमें याद भी नहीं रहती । सारा बालपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेटपर लिखकर पोंछ दिया हो । पूर्व-जन्मके संस्कार तो बिलकुल ही साफ पोंछ दिये जैसे हो जाते हैं—यहांतक कि इस बातकी भी शंका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नहीं । जब इस जन्मका ही बचपन याद नहीं आता, तो फिर पूर्व-जन्मकी तो बात ही क्या ? पूर्व-जन्मको जाने दीजिए, हम इसी जन्मका विचार करें । जितनी क्रियाएं हमें याद रहती हैं, उतनी ही होती हैं—सो बात नहीं । क्रियाएं अनेक होती हैं और ज्ञान भी अनेक; परंतु ये क्रियाएं व ज्ञान मिटकर अंतमें कुछ संस्कार ही शेष रह जाते हैं । रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओंको यदि हम याद करने लगें तो भी याद नहीं आतीं । याद कौनसी क्रियाएं आती हैं ? वे ही क्रियाएं हमारी आंखोंके सामने आ जाती हैं, जो बहुत स्पष्ट व प्रभावकारी

होती हैं। यदि हमारा बहुत लड़ाई-झगड़ा किसीसे हुआ हो, तो वह याद रहता है, क्योंकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई होती है । मुख्य व सार क्रियाओंके संस्कार मनपर बड़े गहरे हो जाते हैं। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड़ जाती हैं। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठें तो दो चार ही महत्वकी बातें लिख लेते हैं। यदि प्रतिदिन ऐसे संस्कारको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लगें तो और भी कई बातें इसमेंसे निकल जायंगी व सप्ताहकी मुख्य घटनाएं ही कायम रह जायंगी। फिर महीनेभर बाद हम अपने पिछले कामों का हिसाब लगाने बैठें तो उतनी ही बातें हमारे सामने आती रहेंगी, जो उस मासमें बहुत मुख्य-मुख्य रही होंगी। इसी तरह फिर छः महीना, साल पांच सालका हिसाब लगावें तो बहुत ही थोड़ी महत्त्वपूर्ण बातें याद रहेंगी और उन्हींके संस्कार बनेंगे। असंख्य क्रियाओं व अनंत ज्ञानोंके हो जानेपर भी अंतको मनके पास बहुत थोड़ी बचत रहती है । वे विभिन्न कर्म व ज्ञान आये व अपना काम करके मर गये । उन सब कर्मोंके पांच-दस दृढ़ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। ये संस्कार ही हमारी पूंजी हैं। हम जीवन-रूपी व्यापार करके सिर्फ संस्कार-रूपी संपत्ति जोड़ते हैं। जैसे व्यापारी रोजका, महीनेका व साल भरका जमा-खर्च करके अंतमें नफे या टोटेका एक ही आंकड़ा निकालता है, उसी प्रकार जीवनका हाल होता है। अनेक संस्कारोंका जमा-नाम होते-होते अंतको एक अत्यंत ठोस, सीमित निचोड़ जैसी चीज बाकी बच जाती है । जब जीवनकी अंतिम घड़ी आती है, तब जीवनकी आखिरी रोकड़ बाकी आत्मा याद करने लगता है । जन्मभरमें क्या-क्या किया-कराया इसकी जब वह याद करता है, तो भारी कमाईके रूपमें दो-चार बातें ही नजर आती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब कर्म व ज्ञान व्यर्थ चले गये । उनका काम पूरा हो गया है। हजारों उखाड़-पछाड़के बाद अखीरमें कुल पांच हजारका घाटा-नफा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है । नुकसान हुआ तो छाती बैठ जाती है, फायदा रहा तो दिल उछलने लगता है ।

हमारे जीवनकी भी ऐसी ही बात है । मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई, तो सारी जिन्दगी भर भोजनकी रुचि लेनेका ही अभ्यास करते

रहे यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंदगी भरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि बेटेकी याद हो आई, तो उसका पुत्र-संबंधी संस्कार ही बलवान् मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये, वे गौण सिद्ध हो गए। अंकगणितमें अपूर्णांकके सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं, परंतु संक्षेप बनाते-बनाते अंतको एक अथवा शून्य ऐसा उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएं चली जाकर अंतमें एक बलवान् संस्कार ही सार-रूपमें रह जाता है। जीवन-रूपी सवालक वह उत्तर होता है। अंतकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अंतिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिएं। जिसका अंत मधुर, वह सब मधुर। उस अंतिम उत्तर पर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। जब कोई सवाल हल करते हो तो जो खास प्रश्न पूछा गया है, उसीको सामने रखकर उत्तर लाते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अतः मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रहें, या उठें—ऐसी इच्छा होगी, उसके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

(३७)

इस आठवें अध्यायमें यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जन्ममें बलवत्तर साबित होता है। इस पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिए निकलता है। आज दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मकी जमा-पूंजी लेकर मरण-रूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है वही अगले जन्मकी शुरूआत होती है। अतः सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत और भी इसलिए है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके, उसका रास्ता निकाला जा सके।

एकनाथ महाराजकी एक बात है । एक सज्जनने उनसे पूछा—'महाराज, आपका जीवन कितना सीधा-सादा, कितना निष्पाप ! हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं ? आप कभी किसीपर गुस्सा नहीं होते, किसीसे लड़ाई-झगड़ा नहीं, टंटा-बखेड़ा नहीं । कितना शांत, कितना प्रेमपूर्ण, कितना पवित्र है आपका स्वभाव !" एकनाथने कहा—"फिलहाल मेरी बात रहने दो । तुम्हारे संबंधमें मुझे एक बात मालूम हुई है । आजसे सातवें दिन तुम्हारी मौत आ जायगी ।" अब एकनाथकी कही बात को झूठ कौन मानता ? सात दिनमें मृत्यु । सिर्फ १६८ ही घंटे बाकी रहे । हे भगवन्, यह क्या अनर्थ ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड़ा गया । कुछ सूझ नहीं पड़ता था । आखिरी समयकी, सबकुछ समेट लेनेकी बातें कर रहा था । बीमार हो गया । बिस्तरपर पड़ गया । छः दिन बीत गये—सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये । उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है ?" उसने कहा—"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छः दिनोंमें कितना पाप किया ?—पापके कितने विचार मनमें आये ?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला–"नाथजी, पापका विचार करनेकी तो बिलकुल फुरसत ही नहीं मिली । मौत एक-सी आंखोंके सामने खड़ी थी ।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है—इसका उत्तर अब मिल गया न ? मरण-रूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे तो फिर पाप सूझेगा किसे ? पाप करनेके लिए भी निश्चिन्तता चाहिए । मरण का सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय है । यदि मौत सामने दीखती रहे तो फिर मनुष्य किसके बलपर पाप करेगा ?"

परंतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है । पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है । उसकी एक पुस्तक है—'पांसे' । 'पांसे' का अर्थ है 'विचार' । उसने इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये हैं। उसमें वह एक जगह कहता है—"मौत सदा पीछे खड़ी है; परंतु मनुष्य-का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूले कैसे ? किंतु वह यह बात अपने सामने नहीं रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चले ?" मनुष्य-को 'मरण' शब्दतक बरदाश्त नहीं होता । खाते समय यदि मौतका नाम

किसीने ले लिया तो कहते हैं—"क्या अशुभ बात मुंहसे निकालते हो ?" परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मौतकी तरफ ही जा रहा है। बंबईका टिकट कटाकर जब एक बार हम रेलमें बैठ गये तो हम भले ही बैठे रहें, परंतु गाड़ी हमें बंबई ले जाकर छोड़ देगी। जन्म होते ही हमने मौतका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या दौड़ते रहिये। बैठे रहेंगे तो भी मौत आवेगी, दौड़ते रहेंगे तो भी आवेगी। आप मौतका विचार करें या न करें, वह आये बिना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हों। सूर्य अस्ताचलकी ओर गया कि हमारी आयु का एक अंश वह खा जाता है। जीवनके भाग यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूंद घट रहा है। तो भी मनुष्यको उसका कुछ सोच नहीं होता। ज्ञानेश्वर कहते हैं—"आश्चर्य दीखता है।" ज्ञानदेवको आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्यों कर इतनी निश्चिन्तता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय मालूम होता है कि उसे मरणका विचारतक सहन नहीं होता। वह सदा उसके विचार व खयाल तकसे बचना चाहता है। आंखों पर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लड़ाईमें जानेवाले सैनिक, मरणका खयाल न आने पावे इसलिए खेलते हैं, नाचते-गाते हैं, सिगरेट पीते हैं। पास्कल कहता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमें व गान-तानमें मस्त हो रहेगा।"

हम सब इस टामीकी तरह हैं। चेहरेको गोल हंसमुख बनानेका प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पाउडर लगाना, बाल सफेद हो गये हों तो खिजाब लगाना—आदि प्रयत्न मनुष्य करता है। छातीपर मौत नाच रही है—फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे हैं। और चाहे कुछ भी बातें करेंगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेंगे। मैट्रिक पास लड़केसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा है ?" तो कहता है —"अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट इयरमें हूं।" दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—"पहले इंटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।" यही सिल-सिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका पहलेसे विचार क्या नहीं करना चाहिए ? अगले कदमके बारेमें पहलेसे सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह खड्डेमें गिरा सकता है; परंतु विद्यार्थी इसको टालता है। बेचारे

की शिक्षा ही इतनी अंधकार-मय होती है कि उससे उस पारका भविष्य दिखाई ही नहीं देता। अतः आगे क्या करना है, यह सवाल ही वह सामने नहीं आने देता; क्योंकि उसे चारों ओर अंधकार ही दिखाई देता है। परंतु भविष्य टाला नहीं जा सकता है। वह तो सिरपर आकर सवार होता ही है।

कालेजमें प्रोफ़ेसर तर्क-शास्त्र पढ़ाता है—"मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।" यह अनुमान वह सिखाता है—वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यों नहीं देता? प्रोफ़ेसर भी मर्त्य है। वह यों नहीं सिखावेगा कि "सब मनुष्य मर्त्य हैं, अतः मैं प्रोफ़ेसर भी मर्त्य हूं और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।" वह उस मरणको सुकरात पर ढकेल देता है; क्योंकि सुकरात तो मर चुका है। वह शिकायत करनेके लिए हाजिर नहीं है। शिष्य व गुरु, दोनों सुकरातको मरण सौंपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप', 'मेरी भी चुप' वाली गति करते हैं। मानो वे यह समझे बैठे हैं कि हम तो बहुत सुरक्षित हैं।

इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परंतु इससे मृत्यु कहीं टल सकती है? कल मां मर गई तो मौत सामने आ गई। मनुष्य निर्भयता-पूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नहीं करता कि उसमेंसे रास्ता कैसे निकाला जाय। किसी हिरनका पीछा एक शेर कर रहा हो। चपल होने से हिरन खूब चौकड़ी भरता है, परंतु उसकी शक्ति कम पड़ती जाती है व अखीरमें वह थकता है। पीछेसे वह शेर-मृत्यु दौड़ा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है? वह उस शेरकी ओर देख भी नहीं सकता। वह मिट्टीमें सींग व मुंह, घुसेड़कर खड़ा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता है—"ले, अब आ व मुझे हड़प जा।" हम मरणको अपने सामने नहीं देख सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारों तरकीब निकालेंगे तो भी उस मृत्यु का जोर इतना होता है कि अंतमें वह हमारी गर्दन धर दबाता ही है।

और फिर जब मौत आती है तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड़ बाकी देखता है। परीक्षामें बैठा हुआ आलसी—मंद विद्यार्थी दवातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परंतु सफेद पर काला करनेकी हिम्मत नहीं होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नहीं? सरस्वती आकर

थोड़े ही जवाब लिख जायगी ? तीन घंटे खतम हो जाते हैं—वह कोरा कागज दे देता है या अखीरमें कुछ-न-कुछ घिस-घिसाकर दे जाता है। सवालको हल करना है, जवाब लिखना है, यह सूझता ही नहीं ! इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमें चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर, कि जीवनका सिरा मौतकी ओर गया हुआ है, अंतिम क्षणको पुण्य-मय, अत्यंत पावन व मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहें। आजसे ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर ऊंचे-से-ऊंचे सुंदर-से-सुंदर संस्कार कैसे पड़ें। परंतु अच्छे संस्कारोंके अभ्यासकी पड़ी किसे है ? इससे उलटा, बुरी बातोंका अभ्यास अलबत्ते दिन-रात होता रहता है। जीभ, आंख व कानको हम चटोरापन सिखा रहे हैं। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमें लगाना चाहिए। अच्छी बातोंकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उसमें उसे रंग जाना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जाने पर भी क्या उसे वैसी ही करते रहेंगे ? जिस क्षण हमें अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नवीन प्रभात, समझो। अब तुम सचमुचमें जगे हो। अब दिन-रात जीवनकी जांच-पड़ताल करते रहो व सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

बहुत साल पहले मैं अपनी दादीसे मिलने गया था। बहुत बूढ़ी हो गई थी। मुझसे कहती—"विन्या, अब इधर मुझे याद नहीं रहता। घीकी हंडिया लेने जाती हूं, और वैसे ही लौट आती हूं।" परंतु पचास साल पहलेकी गहनोंकी एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहलेकी बात याद नहीं रहती, मगर पचास साल पहलेके बलवान् संस्कार अखीरतक सतेज थे। इसका कारण क्या ? वह गहनेवाली बात उसने हरेकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चार होता रहा। अतः वह जीवन-से चिपककर बैठ गई। जीवनके साथ एक-रूप हो गई। मैंने मनमें कहा—"भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोंकी याद न आये तो भर पाये।"

(३८)

जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते हैं, वह हमसे क्यों चिपकी न रहेगी ? उस अजामिलकी कथा पढ़कर भ्रममें न पड़ जाना। वह ऊपरसे पापी था; परंतु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा वह रही थी। वह पुण्य अंतिम क्षण में जग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अंतमें राम-नाम अचूक याद आ जायगा---इस धोखेमें मत रह जाना। बचपनसे से ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी चिंता रखो कि हमेशा अच्छे ही संस्कार संगृहीत हों। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा, व उससे क्या हवेगा ? चार बजे ही क्यों उठें ? सात बजे उठें तो उससे क्या बिगड़ा ? ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। यदि मनको बराबर ऐसी आजादी देते चले गए तो अखीरमें फंस जाओगे। फिर सच्चे संस्कार अंकित नहीं होने पावेंगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी---संपत्ति जुटानी पड़ती है। एक-एक क्षणको व्यर्थ न जाने देते हुए विद्यार्जनमें लगाना पड़ता है। इस बातका ध्यान रक्खो कि प्रत्येक क्षण संस्कार अच्छा ही पड़ रहा है न? खराब बात कही, तो पड़ गया उसी समय बुरा संस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छैनी बनकर हमारे जीवन-रूपी पत्थरको आकार देती है। दिन अच्छी तरह बीत गया, तो भी सपनेमें बुरे खयाल आ जाते हैं। दस-पांच दिनके ही विचार सपनेमें आते हों, सो बात नहीं। कितने ही बुरे संस्कार गफलत में पड़ जाते हैं। नहीं कह सकते कि वे कब जग पड़ेंगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोंमें भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा लग जाता है। हम संसार-सागरमें डूब रहे हैं। यदि हम थोड़ा भी अच्छा बोलें तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नहीं जाता। वह तुमको तार देगा। लेश-मात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिएं। सर्वदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आंखें पवित्र रहें, कान निन्दा न सुनें, अच्छा बोलें। यदि ऐसी सावधानी रखोगे तो आखिरी समय पर हुक्मी पासा पड़ेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी हो रहेंगे।

पवित्र संस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें दौड़ाते रखने चाहिएं। हाथ पवित्र कर्म करनेमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण व बाहरसे स्वधर्माचरण। हाथोंसे सेवा-रूपी कर्म, मनमें विकर्म। ऐसा

नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजीको देखो, रोज चरखा चलाते हैं। वे रोज कातनेपर जोर देते हैं। रोज क्यों कातें ? कपड़ेके लिए कभी-कभी कात लिया करें तो क्या काम नहीं चलेगा ? परंतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमें आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-न-कुछ करना है, इस बातका वह चिंतन है। वह सूत हमें नित्य दरिद्र-नारायणसे जोड़ता है। वह संस्कार दृढ़ होता है।

डाक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें तो ? तो वह बेतुकी बात हो जायगी। औषधिका उद्देश्य उससे सफल न होगा। दवाका संस्कार रोज-ब-रोज पड़कर प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शंकरपर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पड़ता है। मेरा यह प्रिय दृष्टांत है। बचपनमें मैं नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घंटे मिलाकर बहुत हुआ तो वह पानी दो बालटी होता होगा। फिर एक साथ दो बालटी शिवजी पर एकदम क्यों न उंडेल दी जाय ? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उंडेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूंद-धारा पड़ना ही उपासना है। समान संस्कारोंकी सतत धारा लगनी ही चाहिए। जो संस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज, व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें, वही अगले जन्ममें, जो जीवनमें वही अंतकालमें—ऐसी एक-एक सत्संस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखंड चालू रहेगा, तो ही हम अंतमें जीत सकेंगे। तभी हम जाकर मुकामपर अपना झंडा गाड़ सकेंगे। संस्कारोंका प्रवाह एक ही दिशामें बहना चाहिए। नहीं तो वह पहाड़पर गिरा पानी यदि बारह दिशामें बह निकला तो फिर उससे नदी नहीं बन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामें बहेगा, तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गंगा बनकर ठेठ समुद्र तक जा पहुंचेगी। जो पानी एक ही दिशामें बहा, वह जाकर समुद्रमें मिल गया; परंतु जो चारों दिशाओंमें बहा, वह कहीं आगे जाकर खतम हो गया। यही बात संस्कारोंकी है। संस्कार यदि आते गये व

जाते गये तो क्या फायदा ? यदि जीवनमें संस्कारोंका पवित्र प्रवाह सतत बहता रहा तो ही अंतमें मरण महाआनंदका विधान मालूम पड़ेगा। जो यात्री रास्तेमें ज्यादा न ठहरते हुए रास्तेके मोह व प्रलोभनसे बचते हुए कठिन चढ़ाई कदम जमा-जमाकर चढ़ता हुआ शिखरतक पहुंच गया, व ऊपर पहुंचकर छातीपरके सारे बोझ व बंधन हटाकर वहांकी खुली हवाका अनुभव करने लगा उसके आनंदका अंदाज क्या दूसरे लोग लगा सकेंगे ? पर जो मुसाफिर रास्तेमें ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कहीं रुकता है ?

(३९)

सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण व भीतरसे हरि-स्मरण रूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया; इस तरह जब ये अंतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे , तब मरण आनंददायी मालूम होगा। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च।

मेरा अखंड स्मरण करो, व लड़ते रहो। उसीमें रंग रहो सदा। सदा ईश्वरमें लीन रहो। ईश्वरी प्रेमसे जब अंतर्बाह्य रंग जाओगे, जब वह रंग सारे जीवनमें फैल जायगा, तभी पवित्र बातोंमें सदैव आनंद मालूम होने लगेगा। तब बुरी वृत्तियां सामने आकर खड़ी ही न रहेंगी। सुंदर बढ़िया मनोरथोंके अंकुर मनमें उगने लगेंगे। अच्छे कर्म अपने आप होने लगेंगे।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे ; परंतु भगवान्‌की यह भी आज्ञा है—सतत लड़ते रहो। तुकाराम महाराज कहते हैं—

"दिन रात हमें युद्धकी ही धुन।
अंतर्बाह्य जग और मन ॥"

भीतर व बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है। इस सृष्टिसे मनका सतत झगड़ा जारी रहता है। इस झगड़ेमें हर बार जय ही होगी, यह नहीं कह सकते। जो अंतको पा लेगा, वह सच्चा विजयी। अंतमें जो फैसला

हो वही सही। कई बार यश मिलेगा तो कई बार अपयश। अपयश—असफलता मिली तो निराश होनेका कोई कारण नहीं है। पत्थर पर उन्नीस बार चोट लगनेसे वह नहीं फूटा। बीसवीं बारकी चोटसे जरूर फूट गया समझो, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटें फिजूल ही गईं ? उस बीसवीं चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटें कर रही थीं।

निराश होने का अर्थ है नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढ़ानेके लिए मां उसे इधर-उधर जाने देती है; परंतु वह उसे गिरने नहीं देती। जहां गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुमपर सतत निगाह रखता है। तुम्हारे जीवन-रूपी पतंगकी डोरी उसके हाथमें है। कभी वह डोर खींच लेता है, कभी ढीली छोड़ देता है; परंतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमें। गंगाके घाटपर तैरना सिखाते हैं। घाट पर के वृक्ष में संकल या डोरी बंधी हुई होती है। उसे कमरसे बांधकर आदमीको पानीमें फेंक देते हैं। परंतु सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमें रहते ही हैं। वह नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डूबता-उतरता है, परंतु अंतमें वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमें जीवनकी कला सिखा रहा है।

(४०)

अतः परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि 'काया-वाचा-मनसा' दिन रात लड़ते रहोगे, तो अंतकी घड़ी अतिशय उत्तम हो जायगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायंगे, यही बात इस अध्यायके अंतमें एक रूपकके द्वारा बताई गई है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिए। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चंद्र बढ़ रहा है, उत्तरायणमें निरभ्र व सुंदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्ममें विलीन होता है। और जिसकी मृत्युके समय धुंआ फैल रहा हो, भीतर-बाहर अंधेरा हो रहा हो, कृष्ण पक्षका चंद्रमा क्षीण हो रहा हो, दक्षिणायनमें मलिन व अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा हो तो वह फिर से जन्म-मरणके फेरमें पड़ेगा।

बहुत से लोग इस रूपकको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं। यदि

यह चाहते हो कि पुण्य मरण हो तो अग्नि, सूर्य, चंद्र, आकाश इन देवताओं-की कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिन्ह है, यज्ञका चिन्ह है। अंत समयमें भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—"सतत कर्तव्यका पालन करते हुए यदि मौत आ जाय तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ़ रहे हैं, लिख रहे हैं, कोई काम कर रहे हैं—ऐसी हालतमें मैं मरूं तो भर पाया।" 'आग जल रही है' इसका अर्थ यह है। मरण समयमें भी कर्म करते रहें—यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अंततक चमकती रहनी चाहिए। चन्द्रकी कृपाका मतलब यह है कि मौतके समय पवित्र भावना सतत बढ़ती रहनी चाहिए। चंद्र मनका—भावनाका—देवता है। शुक्ल पक्षके चंद्रकी तरह मनके प्रेम, भक्ति, उत्साह, परोपकार, दया, इत्यादि शुद्ध भावनाओंका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमें आसक्ति-रूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गांधीजीने कहा—"मैं दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूं। चर्खेको बड़ी पवित्र वस्तु मानता हूं। परंतु अंत समयमें उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणा की है, वह खुद चरखेकी चिंता करनेमें पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोंके हाथमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोड़कर मुझे परमात्मासे मिलनेकी तैयारी करनी चाहिए।" मतलब यह कि उत्तरायणका अर्थ है हृदयमें आसक्ति रूपी बादल न रहना।

आखिरी सांसतक हाथसे कोई-न-कोई सेवा कार्य हो रहा है, भावना की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमें जरा भी आसक्ति नहीं है, बुद्धि सतेज है—इस तरह जिसकी मृत्यु होगी वह परमात्मामें जा मिला। ऐसा परम मंगल-मय अंत लानेके लिए, रात-दिन सावधान व दक्ष रहकर लड़ते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मनपर अशुभ संस्कार न पड़ने दीजिए। और ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुनः-पुनः करते रहना चाहिए।

रविवार, १०-४-३२

नवां अध्याय

(४१)

आज मेरे गलेमें दर्द है । मुझे संदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुंच सकेगी या नहीं ? इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अंत समयकी वात याद आ रही है । वह महापुरुष मरण-शय्यापर पड़ा हुआ था। कफ वहुत बढ़ गया था। कफका अतिसारमें पर्यवसान किया जा सकता है । अतः माधवरावने वैद्यसे कहा—"कोई ऐसी तजवीज कीजिए, जिससे मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे मुंह खुल जायगा व मैं राम-नाम ले सकूंगा।" मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्ने कहा—"जैसा गला हो, वैसा ही बोलता रह।" मैं जो यहां गीता सुना रहा हूं, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उससे लाभ होगा; परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूं। गीताका प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है ।

मैं जो यह कह रहा हूं उसका आजके नवें अध्यायसे संबंध है । इस अध्यायमें हरि-नामकी अपूर्व महिमा वताई गई है । यह अध्याय गीताके मध्य-भागमें खड़ा है । सारे महाभारतके मध्यमें गीता; व गीताके मध्य में यह नवां अध्याय है । अनेक कारणोंसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गई है । कहते हैं कि ज्ञानदेवने जव अंतिम समाधि ली, तो उन्होंने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरण-मात्रसे मेरी आंखें छल-छलाने लगती हैं व दिल भर आता है । व्यासदेवका यह कितना वड़ा उपकार है ! केवल भारतवर्षपर ही नहीं, सारी मनुष्य-जाति पर उनका यह उपकार है । जो अपूर्व वात भगवान्ने अर्जुनको बताई, वह शब्दों द्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परंतु दयाभावसे प्रेरित होकर

व्यासजीने इसे संस्कृत-भाषा द्वारा प्रकट किया । गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया । इस अध्यायके शुरूमें भगवान् कहते हैं --

"राज-विद्या महागुह्य उत्तमोत्तम पावन ।"

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है । भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते हैं । शब्दोंमें न समाने वाली परंतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटीपर कसी हुई यह बात इस अध्यायमें बताई गई है । इससे वह बहुत मधुर हो गया है । तुलसीदासजीने कहा है--

को जाने को जैहे जम-पुर को सुर-पुर पर-धामको ।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम-गुलामको ॥

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग व उसकी कथाओंसे यहां क्या काम चलेगा ? कौन कह सकता है कि स्वर्गमें कौन जाता है व यमपुरको कौन जाता है ? यदि संसारमें चार दिन रहना है तो रामका गुलाम बनकर रहनेमें ही मुझे आनंद है, ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं । राम का गुलाम होकर रहनेका मजा इस अध्यायमें है । प्रत्यक्ष इसी देहमें इन्हीं आंखोंसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बातें इस अध्यायमें बताई गई हैं । जब गुड़ खाते हैं तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है । उसी तरहका रामका गुलाम होकर रहनेका मजा यहां है । ऐसी इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली राज-विद्या इस अध्यायमें कही गई है । वह वैसे गूढ़ है, परंतु भगवान् उसे सबके लिए सुलभ व खोलकर रख रहे हैं ।

(४२)

गीता जिस धर्मका सार है उसे वैदिक धर्म कहते हैं । वैदिक धर्म-का अर्थ है, वेदोंसे निकला हुआ धर्म । इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख हैं, उनमें वेद सबसे पहले लेख माने जाते हैं । इसी कारण भावुक लोग उन्हें अनादि मानते हैं । इसीसे वेद पूज्यताको प्राप्त हुए और यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय, तो भी वह हमारे समाजकी प्राचीन भावनाओंके प्राचीनतम चिन्ह हैं । ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियोंके अवशेष---इत्यादिसे भी यह लिखित साधन बहुत ही

महत्वपूर्ण है । संसारमें पहला ऐतिहासिक प्रमाण अगर कोई है, तो वह वेद है। इन वेदोंमें जो धर्म बीज-रूपमें था, वह वृक्ष होते-होते अंतमें उसे गीता-रूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेड़का हम खावें भी क्या ? जब वृक्षमें फल लगते हैं, तभी हमारे खानेकी चीज उससे हमें मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका भी सार यह गीता है ।

यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ़ था, उसमें नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएं बतलाई गईं। यह जो सारा कर्मकांड है यद्यपि वह निरुपयोगी नहीं है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। वह कर्मकांड सबके लिए सुलभ न था। ऊंचे नारियलके पेड़पर चढ़कर फल कौन तोड़े, कौन छीले व कौन फोड़े ? मैं चाहे कितना ही भूखा होऊं, पर ऊंचे पेड़का वह नारियल मुझे मिले कैसे ? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूं, ऊपरसे नारियल मुझे देखता है । परंतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी । जबतक वह नारियल मेरे हाथमें न पड़े, तबतक सब फिजूल। वेदोंकी इन नाना क्रियाओंमें फिर बड़े बारीक विचार रहते थे । जन-साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो ? वेद-मार्गके सिवा मोक्ष नहीं, परन्तु वेदोंका तो अधिकार नहीं। तब दूसरोंका काम कैसे चले ? अतः कृपा-सागर संत लोग आगे बढ़े और कहा—"आओ, हम इन वेदोंका रस निकाल लें। वेदोंका सार थोड़ेमें निकालकर संसारको दें । ।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते हैं—

'वेद कहा है अनन्त--पर अर्थ इतना ही है चिंत्य !'

वह अर्थ क्या है ? तो हरिनाम। हरिनाम वेदोंका सार है । राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियां, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गंवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पंगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया । वेदोंकी अलमारी-में बंद मोक्षको भगवान्ने चौराहे पर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी, सादी, सरल तरकीब ! जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवाकर्म है, उसीको यज्ञरूप क्यों न बना दें । फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है ? तुम्हारा नित्यका जो सीधा-सादा सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञ समझकर करो। यही राज-मार्ग है ।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।

इस मार्गसे यदि आंखें मूंदकर दौड़ते चले जाओ तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नहीं। दूसरा मार्ग है--"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'; तलवारकी धार भी शायद थोड़ी भोंथरी होगी। वह वैदिक-मार्ग इतना विकट है । इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है । एक इंजीनियर रास्तेकी ऊंचाई धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमको ऊंचे शिखरपर ला बिठाता है। हमको सहसा पता भी नहीं लगता कि इतने ऊंचे चढ़ रहे हैं। इंजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है । मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खड़ा है, वहीं, उस सादे कर्म द्वारा, वह परमात्माको प्राप्त कर सकता है । ऐसा यह मार्ग है ।

परमेश्वर क्या कहीं छिप कर बैठा है ? किसी खोहमें, किसी गलीमें, किसी नदीमें, या किसी स्वर्गमें वह लुककर बैठ गया है ? लाल, नीलम, चांदी-सोना पृथ्वीके पेटमें छिपा रहता है । मोती-मूंगा रत्नाकर समुद्र में छिपे रहते हैं। वैसा परमेश्वर-रूपी 'लाल रतन' क्या कहीं छिपा हुआ है ? भगवान्को कहींसे खोदकर थोड़े ही बाहर निकालना है ? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खड़ा ही है । ये जितने लोग हैं सब परमात्माकी ही तो मूर्तियां हैं। भगवान् कहते हैं—?"इस मानव-रूपमें प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई।" ईश्वर ही सब चराचर रूपमें प्रकट हो रहा है । उसको खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोंकी क्या जरूरत ? उपाय तो सीधा सरल है । तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो, उन सबका संबंध भगवान्से जोड़ दो, बस काम बन गया । तुम रामके गुलाम हो जाओ । वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वे स्वाहा, वे स्वधा, वे श्राद्ध, वह तर्पण, सब हमें मोक्षकी ओर ले जायंगे । परंतु इसमें अधिकारी और अनधिकारीके भेदका टंटा खड़ा होता है । हमें उसकी जरूरत ही नहीं। सिर्फ इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरके अर्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका संबंध ईश्वरसे जोड़ दो । इस नवें अध्यायकी यह शिक्षा है । इसलिए वह भक्तोंको बहुत प्रिय है ।

(४३)

कृष्णके सारे जीवनमें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्ण-की ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोंके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हंसता-बोलता। इंद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले तो उसने उससे कहा—"इंद्रको किसने देखा है? उसने हमपर उपकार भी ऐसा क्या किया है? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहां गायें चरती हैं। इसमें पानीके सोते निकलते हैं। अतः तुम इसीकी पूजा करो।" ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन गोपालकोंमें खेला, जिन गोपियोंसे हंसा-बोला, जिन गाय-बछड़ोंमें रम गया, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खुला कर दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बतलाया है। बचपनमें उसका काम गाय-बछड़ोंसे पड़ा। बड़े होनेपर घोड़ोंसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गायें गद्गद् हो जातीं और कृष्णके हाथ फेरते ही घोड़े फुरफुराने लगते। वे गाय-बछड़े और वे रथके घोड़े कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओंको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्षपर केवल मनुष्यका ही अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इस बातका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्को हुआ, वही व्यासजीको भी। कृष्ण और व्यास, दोनों एक रूप ही हैं। दोनोंके जीवनका सार भी एक ही। मोक्ष न विद्वत्तापर अवलंबित है, न कर्म-कलापर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। मैं-मैं कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही रखे रहे व भोली-भावुक स्त्रियां उनसे आगे बढ़ गईं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नहीं है। महाभारतमें 'जनक-सुलभा-संवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें व्यासने एक ऐसे प्रसंगकी रचना की है, जिसमें जनक राजा ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये हैं। आप लोग भले ही बहस करते रहें कि स्त्रियोंको वेदोंका अधिकार है या नहीं; परंतु सुलभा तो यहां प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्म-विद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री। जनक कितना बड़ा सम्राट्!

कितनी विद्याओंसे संपन्न ! पर उस महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नहीं था। इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोंमें गिरनेके लिए भेजा है। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्यकी है । जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है । तुलाधार कहता है, "तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है।" वैसी ही कथा व्याध की है । व्याध तो कसाई। पशुओंको मारकर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहंकारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेके लिए कहा । ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा ? ब्राह्मण व्याधके यहां गया। व्याध क्या कर रहा था? मांस काट रहा था, धो रहा था। और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा, "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्ममय किया जा सकता है, उतना मैं करता हूं। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उंडेली जा सकती है, उतनी उंडेलकर मैं यह कर्म करता हूं और अपने मां-बापकी सेवा करता हूं।" ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खड़ी की है ।

महाभारतमें ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाएं आई हैं, उनका उद्देश्य यह है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला हुआ है । उन कथाओंका तत्व इस नवें अध्यायमें बतलाया गया है । उन कथाओंपर इस अध्यायमें मुहर लगाई गई है। रामका गुलाम होकर रहनेमें जो मजा है, वही व्याधके जीवनमें है। संत तुकाराम अहिंसक थे, परंतु उन्होंने बड़े चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाईने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकाराम ने एक जगह पूछा है, "भगवन्, पशुओंका वध करनेवालोंकी क्या गति होगी ?" परंतु 'सजना कसाईके साथ बेचता है मांस' यह चरण लिखकर उन्होंने कहा है कि भगवान् सजना कसाईकी मदद करते हैं। नरसी मेहता की हुंडी सिकारनेवाला, एकनाथके यहां कांवर भरके लानेवाला, दामाजी के लिए महार[1] होनेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाईको कूटने-पीसने

---

१. महाराष्ट्र की एक हरिजन जाति ।

में मदद करनेवाला भगवान् सजन कसाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता था, ऐसा तुकाराम कहते हैं। सारांश यह कि अपने सब कृत्योंका संबंध परमेश्वरसे जोड़ना चाहिए । कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवा-मय हो तो वह यज्ञ-रूप ही है ।

(४४)

नवें अध्यायमें यही विशेष बात कही गई है । इसमें कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर मिलाप है । कर्म-योगका अर्थ है, कर्म तो करना, परंतु फलका त्याग कर देना । कर्म ऐसी खूबीसे करो कि फलकी वासना चित्तको न छुए । यह अखरोटके पेड़ लगाने जैसा है । अखरोटके वृक्षमें पच्चीस वर्षमें जाकर फल लगते हैं। उसे लगानेवालेको अपने जीवनमें शायद ही उसके फल चखनेको मिलें । फिर भी पेड़ लगाना है और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है । कर्मयोगका अर्थ पेड़ लगाना, परंतु फलकी इच्छा न रखना । और भक्ति-योग किसे कहते हैं।? भाव-पूर्वक ईश्वरके साथ जुड़ जानेका अर्थ है भक्ति-योग । राज-योगमें कर्म-योग और भक्ति योग , दोनों एकत्रित हो जाते हैं। राज-योगकी कई लोगोंने व्याख्याएं की हैं, परंतु राजयोग यानी संक्षेपमें कर्म-योग व भक्ति-योगका मधुर मिश्रण, ऐसी मैं व्याख्या करता हूं।

हम कर्म तो करें परंतु फल फेंके नहीं, बल्कि उसे परमात्माके अर्पण कर दें । जब यह कहते हैं कि फल फेंक दो तो उसका अर्थ हो जाता है फलका निषेध, किंतु अपणमें ऐसा नहीं होता । कितनी सुंदर व्यवस्था है यह ! बहुत माधुरी है इसमें । फल छोड़नेका यह अर्थ नहीं कि फल कोई लेगा ही नहीं। कोई-न-कोई उसे अवश्य ग्रहण करेगा। किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही । फिर ऐसे तर्क खड़े हो सकते हैं कि जो इस फलको पायेगा, वह इसका अधिकारी भी है या नहीं । कोई भिखारी घर आ जाता है तो हम झट कहते हैं—"तू मोटा-ताजा है । भीख मांगना तुझे शोभा नहीं देता । चला जा।" हम इस बातका विचार करते हैं कि उसका भीख मांगना उचित था या नहीं ? भिखारी बेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है । हमारे दिलमें उसके लिए सहानुभूतिका पूर्ण अभाव है। फिर भीख मांगनेवालेकी योग्यता हम कैसे ठहरायेंगे ? मैंने बचपनमें

एकबार अपनी मांसे भिखारियोंके बारेमें ऐसे ही शंका की थी। उसने जो उत्तर दिया वह अभीतक मेरे कानोंमें गूंज रहा है । मैंने उससे पूछा—"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है । इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढ़ेंगे।" गीताका "देशे काले च पात्रे च" यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया —"जो भिखारी आया, वह परमेश्वर ही था। अब करो पात्रापात्रका विचार! भगवान्को क्या अपात्र कहोगे ? पात्रापात्रके विचार करनेका तुम्हें व मुझे क्या अधिकार है ? ज्यादा विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नहीं मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है ।" मांके इस जवाबका कोई माकूल जवाब मुझे अभीतक नहीं सूझा है ।

दूसरोंको भोजन कराते समय मैं उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हूं; परंतु अपने पेटमें रोटी डालते समय मुझे यह खयालतक नहीं होता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नहीं? जो हमारे दरवाजे आ जाता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यों समझा जाय? जिसे हम देते हैं वह भगवान् ही है—ऐसा हम क्यों न समझें ? राजयोग कहता है—"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान्को ही दे डालो। उसीके अर्पण कर दो।" राजयोग अपने अर्पणका उचित स्थान तुम्हें बता देता है। यहां फल त्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नहीं है, और क्योंकि सबकुछ भगवान् के ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रका भी सवाल हल हो जाता है । भगवान्को जो दान दिया गया है, वह सर्वदा शुद्ध ही है । तुम्हारे कर्ममें यदि दोष भी रहा हो तो उसके हाथोंमें पड़ते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करें तो भी दोष बाकी रहता ही है । फिर भी जितना शुद्ध होकर हम कर्म कर सकें, उतना करना चाहिए। बुद्धि ईश्वरकी देन है । उसको जितना शुद्ध-रूपमें हो सके, काममें लेना हमारा कर्त्तव्य ही है । ऐसा न करना अपराध होगा। अतः पात्रापात्र-विवेक भी करना ही चाहिए; किंतु भगवद्-भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है ।

फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय, वैसा ही उस भगवान् के अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-

जैसे होती जाय, वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्‌के अर्पण करके मनःतुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोड़ना नहीं है, उसे भगवान्‌के अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएं और काम क्रोधादि विकार भी परमेश्वरके अर्पण करके छुट्टी पाना है।

"काम-क्रोध मेरे, अर्पण प्रभुके।"

यहां न तो संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न मारना।

"जो गुड़ दीन्हें ते मरें, माहुर काहे देय।"

इंद्रियां भी साधन हैं। उन्हें ईश्वरार्पण कर दो। कहते हैं—कान हमारी नहीं सुनते। तो फिर क्या सुनना ही बंद कर दें? नहीं, सुनो जरूर, पर हरि-कथा सुनो। न सुनना बड़ा कठिन है। परंतु हरि-कथा-रूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक रुचिकर व हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इंद्रियां शत्रु नहीं हैं। वे हैं भी अच्छी। उनके सामर्थ्यका ठिकाना नहीं। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इंद्रियसे काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको राजयोग कहते हैं।

(४५)

यह बात नहीं कि हम कोई खास क्रिया ही भगवान्‌के अर्पण करें। कर्म-मात्र उसे सौंप दो। शबरीके वे बेर। रामने उन्हें कितने स्वादसे चखा! परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर बैठनेकी जरूरत नहीं है। तुम जहां जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरके अर्पण करो। मां बच्चेको संभालती है—मानो भगवान्‌को ही संभालती है। बच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वर पर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमेश्वरी कृपाकी देन है, ऐसा मानकर मांको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे बच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी व यशोदा कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थीं? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हें अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-संगोपन-क्रिया बहुत उच्च

है। वह बालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिकी सेवासे बढ़कर सद्‌भाग्य क्या हो सकता है ? यदि एक-दूसरेकी सेवा करते समय हम ऐसी ही भावनाको स्थान दें तो हमारे कामोंमें कितना परिवर्तन हो जाय ? जिसको जो सेवा मिल गई, वह ईश्वरकी ही सेवा है । ऐसी भावना करते रहना चाहिए ।

किसान बैलकी सेवा करता है । उस बैलको क्या तुच्छ समझना चाहिए ? नहीं, वेदोंमें वामदेवने शक्ति-रूपसे विश्व व्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है, वही उस किसानके बैलमें भी मौजूद है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगह बंधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओंमें व्याप्त है, उसी गर्जना करनेवाले विश्व-व्यापी बैलकी पूजा किसान करता है। टीकाकारोंने इस एक ऋचाके पांच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। यह बैल है भी विचित्र ! आकाशमें गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमें फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमें मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोंकी सेवा-चाकरी करेगा तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरके अर्पण हो जायगी ।

इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोंको पुष्टि-तुष्टिदायक हो तो उसका यह सारा कर्म यज्ञ-रूप ही है । चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञ ही जगाया है । परमेश्वरको तृप्त करनेकी भावना मनमें रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा, वह कितना स्वच्छ और पवित्र होगा; जरा इसकी कल्पना कीजिए । यदि उस गृह-लक्ष्मीके मनमें ऐसी उच्च भावना हो तो इसे फिर भागवतकी

ऋषि-पत्नियोंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएं सेवा करके तर गई होंगी, और 'मैं-मैं' करनेवाले पंडित और ज्ञानी कोनेमें ही पड़े रहे होंगे !

(४६)

हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन, मामूली दिखाई देता हो तो भी वह वास्तवमें वैसा नहीं होता। वह महान् अर्थ रखता है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोंको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे तो वह समाधि नहीं तो क्या होगी ? हम लोगोंमें स्नान करते समय पुरुष-सूक्तके पाठ करनेकी रूढ़ि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नान की क्रिया से इस पुरुष-सूक्तका क्या संबंध ? देखना चाहोगे तो जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आंखें हैं उसका मेरे इस स्नानसे क्या संबंध ? संबंध यह कि तुम जो लोटा भर जल सिरपर डालते हो, उसमें हजारों बूंदें हैं। वे बूंदें तुम्हारा मस्तक धो रही हैं—तुम्हें निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तकपर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोंसे सहस्र धारा ही मानो तुमपर बरस रही हैं। इन बूंदोंके रूपमें मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अंदरका मैल धो रहे हैं। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमें उंडेलो तो वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नानमें अनंत शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वर-का है तो मामूली होने पर भी पवित्र हो जाता है। यह बात अनुभव सिद्ध है। मनमें जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वर-रूप है। कोई मामूली बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है तो हम कितनी सफाई रखते हैं और कैसा बढ़िया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करें कि वह परमेश्वर है, तो भला बताओ, हमारी उस भावनामें कितना फर्क पड़ जायगा। कबीर कपड़े बुनता था। उसी में निमग्न होकर वह गाता—

"झीनी झीनी बिनी चदरिया।"

परमेश्वरको ओढ़ानेके लिए वह यह गाता हुआ झूमता जाता, मानो

चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी"

मैं अपना यह स्तोत्र सुंदर हाथोंसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको ग्रहण कराता हूं। कवि स्तोत्र बनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार!! यह भावना यदि जीवनमें एक बार आ जाय, तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अंधेरेमें जब बिजली चमकती है तो वह अंधेरा एक क्षण में प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नहीं, एक क्षणमें ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड़ देते ही जीवनमें एकदम अद्‌भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगेगी। जीवनमें उत्साह का संचार होगा। आज हमारे जीवनमें उत्साह है कहां? हम जी रहे हैं, क्योंकि मरते नहीं। उत्साहका चारों ओर अकाल पड़ा हुआ है। कला-हीन रोता जीवन। परंतु जरा यह भाव मनमें लाओ कि हमें अपनी सब क्रियाएं—ईश्वरके साथ जोड़नी हैं। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जायगा।

परमेश्वरके एक नाम-मात्रसे झट परिवर्तन हो जाता है। इसमें संदेह करनेकी जरूरत नहीं। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि संध्या समय किसान काम करके घर आ रहा है। रास्तेमें उसे कोई मुसाफिर मिल जाता है। वह उससे कहता है —

"भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आई। भगवन्, मेरे घर चलो।" उस किसानके मुंहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, और फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नहीं। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावना के कारण होता है। भावनामें ही सब-कुछ भरा हुआ है। जीवन भावना-मय है। एक बीस सालका पराया लड़का हमारे घर आता है, पिता उसको

अपनी कन्या देता है । वह लड़का तो बीस सालका है, परंतु पचास सालका वह लड़कीका पिता उसके पैर छूता है । यह क्या बात हुई? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है ? वह जिसे दी जाती है वह परमेश्वर ही मालूम होता है । यह जो भावना दामादके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ, और आगे बढ़ाओ।

कोई कहेंगे कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? मैं कहता हूं कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हें सच-झूठ मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमें कोरी शाब्दिक नहीं किंतु यह सच्ची भावना करो कि वह दामाद सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देख लोगे कि कितना फर्क पड़ जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमें जमीन आसमानका अन्तर पड़ जायगा। कुपात्र सुपात्र हो जायगा। जो दुष्ट है, वह सुष्ट हो जायगा। बाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न ? वीणा पर उंगलियां नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है, और मारनेके लिए दौड़ता है तब भी शांतिमें बाधा नहीं होती, बल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है—बाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नहीं देखा था। उसने उस क्षणतक दो ही प्रकारके प्राणी देखे थे, एक तो उसकी तीर-कमठी देखकर भाग जानेवाले, या उलटकर उसपर हमला करनेवाले। परन्तु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, , बल्कि शांत भावसे खड़े रहे। बाल्याकी तीर-कमान रुक गई। नारदकी न भौं हिलीं, न आंखें मुंदी—मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी था। नारदने बाल्यासे पूछा—"तुम्हारा तीर क्यों रुक गया ?" बाल्याने कहा—"आपके शांत भावको देखकर।" नारदने बाल्याका रूपांतर कर दिया। वह रूपांतर झूठ था या सच ?

सचमुच, संसारमें कोई दुष्ट है भी या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे ? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो संत हो जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें ? मैं कहता हूं, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है ? बाज़ लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हें

सबकुछ अच्छा दिखाई पड़ता है ; परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं होता। तो फिर तुमको जैसा दिखाई देता है, वह भी सच कैसे मानें ? सृष्टिके सम्यक् ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोंके ही पास है । यह क्यों न कहा जाय कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हें दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि क्या है, एक आइना है। तुम जैसे होओगे, वैसे ही सामनेकी सृष्टिमें तुम्हारा प्रतिबिंब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है । अपनी मामूली क्रियामें भी ऐसी भावनाका संचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है । भगवान् यही बात समझा देना चाहते हैं ––

जो-जो खाओ करो होमो तथा जो तब आचरो।
देओ जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण ॥

तुम, जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवान् के अर्पण कर दो ।

मेरी मां बचपनमें एक कहानी सुनाया करती थी । बात मजेदार है, परंतु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान् है । एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करे, सब कृष्णार्पण कर दे । वह करती क्या कि चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टीका गोला बनाकर बाहर फेंकती और कह देती––'कृष्णार्पणमस्तु' । होता क्या, कि वह गोबरका गोला वहांसे उठता और मंदिरमें भगवान्की मूर्तिके मुंहपर जाकर चिपक जाता। पुजारी बिचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर कुछ उपाय नहीं चलता था। अंतको मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जबतक वह स्त्री जीवित है, तबतक मूर्त्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती । एक दिन वह स्त्री बीमार हो गई। मरणकी अंतिम घड़ी नजदीक आ गई। उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मंदिरकी मूर्त्तिके टुकड़े-टुकड़े हो गये । मूर्त्ति टूटकर गिर पड़ी । ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। उसने विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मंदिरसे टकराया और वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्ण के ध्यानके सामने बेकार है ।

मतलब यह कि कुछ भला-बुरा कर्म हमसे हो, सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वारका दाना यों कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढ़िया फूली बन जाती है ? साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित व शानदार वह फूली, उस दानेके पास रखकर तो देखो कितना फर्क है ? मगर वह फूली है, उस दानेकी है, इसमें संदेह नहीं। यह फरक महज एक आगके कारण हो गया। इसी तरह उस सख्त दानेको चक्कीमें डाल कर पीसो तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। आगके संपर्कसे फूली बन गई, चक्कीमें डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरिस्मरण-रूपी संस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ़ जाता है। वह गुड़ेलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियां, तुलसीकी मंजरी और दूबके तिनके, इन्हें तुच्छ मत मानो—

'तुका कहे स्वाद पाया—राम-मिश्रित जो हो गया'

प्रत्येक बात में भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो। इस राम-रूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या ? इस दिव्य मसालेसे बढ़कर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे ? यही ईश्वर-रूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामें मिला दो, फिर सब-कुछ सुंदर और रुचिकर हो जायगा।

रातको आठ बजे जब मंदिरमें आरती हो रही हो, धूपकी सुगंध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हों, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माको देख रहे हैं। भगवान् दिन भर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते हैं—

सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।'

पर शंकाशील पूछता है—'चलो, भगवान् भी कहीं सोता है ?"

अरे, भगवान् क्या नहीं करता ? भले आदमी, अगर भगवान् सोता नहीं, जागता नहीं, तो क्या यह पत्थर सोयेगा, जागेगा ? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है, और भगवान् ही खाता-पीता है।

तुलसीदासजी प्रातःकालके समय भगवान्‌को जगाते हैं, विनय करते हैं—

'जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी वन बोले।'

अपने भाई-बहिनोंको, स्त्री-पुरुषोंको रामचंद्रकी मूर्त्ति मान कर वे कहते हैं—"मेरे रामचंद्रो अब उठो।' कितना सुंदर विचार है! नहीं तो किसी बोर्डिंग को लो। वहां लड़कोंको उठाते समय डांटकर कहते हैं—"अरे, उठते हो कि नहीं ?" प्रातःकालकी मंगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है ? विश्वामित्रके आश्रम में रामचंद्र सो रहे हैं । विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। वाल्मीकि-रामायणमें उसका इस प्रकार वर्णन है:—

"रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥"

"बेटा राम, उठो अब!" इस प्रकार मधुर स्वरसे विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। कितना मधुर है यह कर्म। और बोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश है! बेचारे सोये हुए लड़केको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका बैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परंतु कर्कशता, कठोरता बिलकुल न होनी चाहिए। यदि न जगे तो फिर दस मिनटके बाद जाओ। आशा रखो कि, आज नहीं तो कल उठेगा। उसके उठानेके लिए मीठे-मीठे गाने, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी मामूली क्रिया है, परंतु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुन्दर बना सकते हैं ? मानो भगवान्‌को ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्त्तिको ही धीरेसे जगाना है। नींदसे कैसे जगाना, यह भी एक शास्त्र है।

अपने सब व्यवहारोंमें इस कल्पनाका प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बहुत ही जरूरत है। लड़के क्या हैं, प्रभुकी मूर्त्तियां हैं। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मैं इन देवताओंकी ही सेवा कर रहा हूं। तब वह लड़कोंको ऐसे नहीं झिड़केगा—"चले जाओ अपने घर; खड़े रहो घंटे भर। हाथ लंबा करो। कैसे मैले कपड़े हैं? नाक-हाथ कितने गंदे हैं!" बल्कि हलके हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपड़े धो देगा और फटे कपड़ोंको सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करें तो

इसका कितना अच्छा परिणाम होगा ! मार-पीटकर कहीं नतीजा निकाला जा सकता है ? लड़कोंको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु यह समझे कि शिष्य हरि-मूर्ति है और लड़के भी गुरुको हरि-मूर्ति ही मानें। ऐसी भावना परस्पर रखकर यदि दोनों व्यवहार करें तो विद्या कितनी तेजस्वी हो जायगी । लड़के भी भगवान् और गुरु भी भगवान् ! यदि लड़कोंका यह खयाल हो गया कि यह गुरु नहीं, भगवान् शंकरकी मूर्त्ति है; हम उनसे बोधामृत पान कर रहे हैं; उनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; तो फिर बतलाओ , लड़के उनके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

(४७)

सब जगह प्रभु विराजमान है, ऐसी भावना चित्तमें पैठ जाय तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करें, यह नीति-शास्त्र हमारे अन्तःकरणमें अपने-आप स्फुरने लगेगा । शास्त्र पढ़नेकी जरूरत ही न रहेगी । तब सब दोष दूर हो जायंगे, पाप पलायन कर जायंगे, दुरितोंका तिमिर हट जायगा ।

तुकारामने कहा है—

हो लो स्वतन्त्र उद्दाम, ले लो हरदम विट्ठल हरिनाम ।
नहीं होगा कोई पाप, नाम लेते आता पास ।।

अच्छा चलो , तुमको पाप करनेकी छुट्टी । मैं देखता हूं कि तुम पाप
करनेसे थकते हो या हरिनाम पाप जलानेसे थकता है । ऐसा कौन-सा जबर-
दस्त और मगरूर पाप है जो हरिनामके सामने टिक सकता है? "करो जितने
चाहे पाप ।" करो, तुमसे जितने पाप हो सकें, करो । तुमको आम इजाजत
है । होने दो हरिनामकी और तुम्हारे पापोंकी कुश्ती ! अरे, इस हरिनाममें
इस जन्मके ही नहीं, अनंत जन्मोंके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेका
सामर्थ्य है । गुफामें अनंत युगका अन्धकार भरा हो तो भी एक दियासलाई
जलाई कि वह भागा । उस अन्धकारका प्रकाश हो जाता है । पाप जितने
पुराने, उतने जल्दी ही वे नष्ट होते हैं; क्योंकि वे मरनेको ही होते हैं ।
पुरानी लकड़ियां उसी क्षण खाक हो जाती हैं ।

बच्चे कहते हैं
राम-नामके नज़दीक पाप ठहर नहीं सकता ।

न, कि राम कहते ही भूत भागता है ? हम बचपनमें रातको श्मशान हो आते थे । श्मशानमें जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको सांप भी रहते; कांटे भी होते, बाहर चारों ओर अंधकार। तो भी कुछ नहीं मालूम होता। भूत कभी दिखाई ही नहीं दिया। कल्पना के ही तो भूत, फिर दिखने क्यों लगे ? एक दस वर्षके बच्चेमें रातको श्मशान में जाकर आनेका सामर्थ्य कहांसे आ गया ? राम-नामसे। वह सामर्थ्य सत्य-रूप परमात्माका था। यदि वह भावना ही हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनियाके उलट पड़नेपर भी हरिका दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? राक्षस उसके तन-बदन को खा भी डालें और पचा भी डालें, परंतु उसे सत्य नहीं पच सकेगा। सत्यको पचा डालनेकी शक्ति संसारमें कहीं नहीं। ईश्वर नामके सामने पाप जरा भी नहीं ठहर सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुंदर हो जायगा।

(४८)

'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो काफी है। कितना दिया, कितना चढ़ाया, यह भी मुद्दा नहीं; किस भावना, से दिया, यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी चर्चा चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्र-संबंधी थी। हम दोनोंके विचार मिलते नहीं थे। अंतको प्रोफेसरने कहा—"भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हूं।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परंतु ऐसा न करते हुए जब उन्होंने मुझसे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हूं, तो मैंने उनसे मजाकमें कहा—"अठारह साल तक बैल यदि यंत्रके साथ घूमता रहे तो क्या वह यंत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और चीज है और आंख मूंदकर चक्कर काटनेवाला बैल और चीज है। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और चीज है और शिक्षणका बोझा ढोनेवाला और चीज। जो शास्त्रज्ञ होगा, वह छः महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह साल

तक बोझा ढोनेवाले मजदूरकी अक्लमें भी नहीं आ सकेगा। मतलब यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी डाढ़ी दिखाई कि मैंने इतने साल काम किया है। किन्तु डाढ़ीसे सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसी तरह परमेश्वरके सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नहीं है। मुद्दा नामका, आकारका, कीमतका नहीं है; मुद्दा भावनाका है। कितना क्या अर्पण किया, इससे मतलब नहीं, बल्कि कैसे किया यह मुद्दा है। गीतामें कुल सात सौ ही श्लोक हैं। पर ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिनमें दस-दस हज़ार श्लोक हैं। लेकिन वस्तुका आकार बड़ा होनेसे उसका उपयोग भी बड़ा या ज्यादा होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। देखनेकी बात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है? जीवनमें क्रिया कितनी थी, इसका महत्त्व नहीं। ईश्वरार्पण बुद्धिसे यदि एक भी क्रिया की हो तो वही हमें काफी पूरा लाभ या अनुभव करा देगी। कभी-कभी किसी एक ही पवित्र क्षणमें हमें इतना अनुभव होता है, जितना बारह-बारह सालोंमें भी नहीं हो सकता।

आशय यह कि जीवनके सादे कर्मोंको और सादी क्रियाओंको परमेश्वरके अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोड़कर उसे ईश्वरके अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो, फल छोड़ो। फलकी आशा मत रखो।" यहां कर्म-योग खतम हो गया। राज-योग कहता है, "कर्मके फलोंको छोड़ो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरके अर्पण कर दो। वे फूल हैं, तुम्हें आगे ले जानेवाले साधन हैं, उन्हें उस मूर्तिपर चढ़ा दो।" एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुंदर बनाते जाओ। त्यागो मत फलोंको। फलोंको फेंकना नहीं, बल्कि भगवान्‌से जोड़ देना है। कर्म-योगमें छोड़ा फल राज-योगमें जोड़ दिया जाता है। बोने और फेंक देनेमें फर्क है। बोया हुआ थोड़ा भी अनंत गुना होकर मिलता है। फेंका हुआ योंही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरके अर्पण किया गया है, वह बोया गया है। उससे जीवनमें अनंत आनंद भर जायगा, अपार पवित्रता छा जायगी।

रविवार, १७-४-३२

दसवां अध्याय

(४९)

मित्रो, गीताका पूर्वार्द्ध खतम हो गया । उत्तरार्द्धमें प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम खतम कर चुके, उसका थोड़ेमें सार देख लें तो अच्छा रहेगा । पहले अध्यायमें यह बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए व स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए है । दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धांत, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमें हुआ । तीसरे, चौथे और पांचवें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्मकी समस्या हल की गई । कर्मका अर्थ है—स्वधर्माचरण करना । विकर्मका अर्थ है, वह मानसिक कर्म, जो स्वधर्माचरणका कर्म बाहरसे करते हुए उसकी मददके लिए किया जाता है । कर्म और विकर्म दोनों एक-रूप होकर जब चित्तकी शुद्धि हो जाती है, सब प्रकारके मल धुल जाते हैं, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शान्त हो जाते हैं, भेद-भाव मिट जाता है; तब अकर्म दशा प्राप्त होती है । यह अकर्म दशा फिर दो प्रकार-की बताई गई है । इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेश-मात्र कर्म न कर रहे हों ऐसा अनुभव होना । इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना । इस प्रकार अकर्म दशा दो प्रकारोंसे परिणत हो जाती है । ये दो प्रकार यों दिखाई अलग-अलग देते हैं, तथापि हैं पूर्ण-रूपसे एक ही । उनके नाम यद्यपि कर्म-योग और संन्यास इस तरह अलग-अलग बताये गए हैं, फिर भी भीतरकी सार-वस्तु दोनोंमें एक ही है । अकर्म-दशा अंतिम साध्य, आखिरी मंजिल है । इस स्थितिको मोक्ष संज्ञा दी गई है । अतः गीता के पहले पांच अध्यायोंमें जीवनका सारा शास्त्रार्थ समाप्त हो गया ।

उसके बाद छठे अध्यायसे अकर्म-रूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग हैं, मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन

हैं, उनमेंसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी शुरूआत की गई है। छठे अध्यायमें चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास व वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्यायमें विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया। तुम ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ, जिज्ञासु बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ, या व्यक्तिगत कामना से जाओ——किसी तरीकेसे जाओ, परंतु एक बार उसके दरबारमें पहुंच जरूर जाओ। इस अध्यायके इस विषयका नाम मैंने 'प्रपत्ति-योग', अर्थात् ईश्वरकी शरणमें जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवेंमें प्रपत्ति-योग बताकर आठवेंमें 'सातत्य-योग' बताया है। मैं जो ये नाम बता रहा हूं, वे तुम्हें पुस्तकमें नहीं मिलेंगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए, वही मैंने रख दिये। सातत्य-योगका अर्थ है—अपनी साधनाको अंत-कालतक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पड़े उसीपर सतत कदम बढ़ाते जाना चाहिए। कुछ दिन किया, कुछ दिन छोड़ दिया, इस तरह करनेसे मंजिलपर पहुंचनेकी कभी आशा नहीं हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह खयाल न करना चाहिए कि अब कहांतक साधना करते रहें। जबतक फल न प्रकट हो तबतक साधना जारी रखना चाहिए।

इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवें अध्यायमें बहुत मामूली परंतु जीवनका सारा रंग ही बदल देनेवाली एक बात भगवान्‌ने बताई है, और वह है राज-योग। नवां अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घड़ी होते हैं, वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बातसे सारे शास्त्र-साधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण-योगमें विलीन हो गई। समर्पण-योगको ही राज-योग कहते हैं। यहां सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पण-रूपी साधन यों बहुत सादा और मामूली दिखता है, परंतु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि बिलकुल अपने घरमें बैठकर एक गँवारसे लेकर विद्वान् तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालांकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बड़े भारी पुण्यकी जरूरत है।

'अनेक सुकृतोंका योग—इसोसे विट्ठलमें प्रेम।'

अनंत जन्मोंका पुण्य संचित हो जाता है, तभी ईश्वरमें रुचि उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो तो आंखोंसे आंसू बहने लगते हैं; परंतु भगवान्‌का नाम लेते ही आंखोंमें दो बूंद आंसू कभी नहीं आते। इसका उपाय क्या? मतोंके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है। परंतु दूसरे पहलूसे वह कठिन भी है। और वर्तमान समयमें तो और भी कठिन हो गई है।

आज तो जड़-वादका पटल हमारी आंखोंपर पड़ा हुआ है। आज तो शुरूआत यहांसे होती है कि ईश्वर कहीं है भी? वह कहीं भी किसीको प्रतीत ही नहीं होता। सारा जीवन विकारमय, विषय-लोलुप और विषमतासे परिपूर्ण हो रहा है। इस समय तो जो ऊंचे-से-ऊंचे तत्त्व-ज्ञानी हैं, उनके भी विचार इस बातसे आगे जा ही नहीं सकते कि सबको पेट भर रोटी कैसे मिलेगी। इसमें उनका दोष नहीं है; क्योंकि आज हालत ऐसी है कि कइयोंको खानेको भी नहीं मिलता। आजकी बड़ी समस्या है रोटीकी। इसी समस्याको हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्य ने रुद्रकी व्याख्या की है---

"बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते"

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार हैं। उनकी क्षुधा-शांतिके लिए अनेक तत्त्व-ज्ञान और विभिन्न राज-कारण बन गये हैं। भिन्न-भिन्न 'वाद' इसी रोटीके लिए खड़े हुए हैं। इन समस्याओंमेंसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नहीं मिलती। आज हमारे सारे भगीरथ प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे हैं कि परस्पर न लड़ते हुए सुख-शांतिसे व प्रसन्न मनसे रोटी कैसे खा लें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमें हो रही है, वहां ईश्वरार्पणता जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे तो क्या आश्चर्य! परंतु इसका उपाय क्या है? दसवें अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले हैं कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

(५०)

छोटे बच्चोंको पढ़ानेके लिए जो तदबीर हम करते हैं, वैसी ही तरकीब, परमात्माका दर्शन सर्वत्र हो, इसलिए, इस अध्यायमें की गई है। बच्चोंको

वर्णमाला दो तरहसे सिखाई जाती है । एक तरकीब पहले बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी । फिर इन्हीं अक्षरोंको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है । वही 'क' और वही 'ग', परंतु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये । यह एक विधि हुई । दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जायं और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर । ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए । पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें । समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आंखोंमें समा जाता है । यह स्थूल परमात्मा समझमें आ गया तो एक जल-बिंदुमें, मिट्टीके एक कणमें वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आजायगा । बड़े 'क' व छोटे 'क' में कोई फर्क नहीं । जो स्थूलमें, वही सूक्ष्ममें । यह एक पद्धति हुई । अब दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देख लें, फिर उसके जटिल रूपको । जिस व्यक्तिमें शुद्ध परमेश्वरी आविर्भाव सहज रूपसे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममें प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरंत मनपर अंकित हो जाता है । राम सरल अक्षर है । यह बिना झंझटका परमेश्वर है । परंतु रावण ? वह संयुक्ताक्षर है । इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है । रावणकी तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है । परंतु उसमें क्रूरता मिली हुई है । पहले राम-रूपी सरल अक्षर को सीख लो । जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरंत पकड़में आ जायगा । रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझने में जरा देर लगेगी । पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर । सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अंतको दुर्जनोंमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिए । समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूंदमें है । राम-चन्द्रके अंदरका परमेश्वर ही रावणमें है । जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी । जो सरलमें है, वही कठिनमें भी । इन दो विधियोंसे हमें यह संसार रूपी ग्रंथ पढ़ना सीखना है ।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है । आंखोंपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बंद हुई-सी जान पड़ती है । इस सृष्टि-रूपी पुस्तकमें सुन्दर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है । परंतु वह हमें दिखाई नहीं

देता । ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है । वह यह कि मामूली सरल नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नहीं होता । यदि उससे कहें कि अपनी मातामें ईश्वरको देखो, तो वह कहेगा क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है ? पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ तो उसका तेज तुम सह सकोगे ? कुंतीके मनमें हुआ—वह दूरवाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परंतु उसके नजदीक आते ही वह जलने लगी । उसका तेज उससे सहन न हुआ । ईश्वर यदि अपने सारे सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाय तो हमें पच नहीं सकता । यदि माताके सौम्य-रूपमें आकर खड़ा हो जाय तो वह जंचता नहीं । पेड़ा-बर्फी पचता नहीं, और मामूली दूध रुचता नहीं । ये लक्षण हैं—फूटी किस्मतके, मरणके । ऐसी यह रुग्ण मन:स्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है । इस मन:स्थितिको हटानेकी बड़ी भारी जरूरत है । पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्माको पढ़ लें और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढ़ें ।

(५१)

बिलकुल पहली परमेश्वरकी मूर्ति जो हमारे पास है, वह है खुद हमारी मां । श्रुति कहती है—"मातृ देवो भव ।" पैदा होते ही बच्चेको मांके सिवाय और कौन दिखाई देता है ? वत्सलताके रूपमें वह परमेश्वर-की मूर्ति ही वहां उपस्थित दिखाई देती है । उस माताकी ही व्याप्तिको हम बढ़ा लें और 'वन्दे मातरम्' कहकर राष्ट्र-माताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वीकी पूजा करें । परंतु प्रारंभमें सबसे ऊंची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा, जो बच्चेके सामने आती है, वह माताके रूपमें । माताकी पूजासे मोक्ष मिलना असंभव नहीं है । माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलता-से खड़े परमेश्वरकी ही पूजा है । मां तो एक निमित्त-मात्र है । परमेश्वर उसमें अपनी वत्सलता उंडेलकर उसे नचाता है । उस बिचारी-को मालूम भी नहीं होता कि यह इतनी माया-ममता भीतरसे क्यों मालूम होती है ? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चेका लालन-पालन करती है कि बुढ़ापेमें काम आयेगा ? नहीं-नहीं, उसने उस बालकको जन्म दिया

है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाएं उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रह ही नहीं सकती। वह मजबूर है। वह मां मानो निस्सीम सेवाकी मूर्त्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको मांके ही नामसे पुकारो। मांसे बढ़कर और ऊंचा शब्द है कहां ? मां यह पहला स्थूल अक्षर है। उसमें ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते हैं। वह हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने हैं उनके उपकार ! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु संत। अत्यन्त स्थूल रूपमें खड़े इस परमेश्वर-रूपको पहले देखो। अगर परमेश्वर यहां नहीं दिखाई दिया तो फिर दीखेगा कहां ?

माता, पिता, गुरु, संत—इनमें परमात्माको देखो। उसी तरह यदि छोटे बालकोंमें भी हम परमात्माको देख सकें तो कितना मजा आये ? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परंतु पुराणकारोंको, व्यासादिकको उनसे इतना प्रेम हो गया कि अब उन्हें कहां रखें कहां न रखें ? शुकदेव, शंकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेवका भी यही हाल था। सब-के-सब बालक। परंतु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमें प्रकट हुआ है, उतना कहीं अन्यत्र नहीं। ईसा-मसीह बच्चोंको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्योंने उनसे पूछा—"आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते हैं, तो इस ईश्वरके राज्यमें आखिर जा कौन सकेगा ?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसाने उसे मेजपर खड़ा करके कहा—"जो इस बच्चेकी तरह होंगे, वे ही वहां पहुंच सकेंगे।" ईसाका कहना बिलकुल सच था। रामदास स्वामी एक बार बच्चेके साथ खेल रहे थे। बच्चेके साथ समर्थ खेल रहे हैं, यह देखकर कुछ बड़े-बूढ़ोंको आश्चर्य हुआ। एकने उनसे पूछा—"आज आप यह क्या कर रहे हैं ?" समर्थने जवाब दिया—

हुए श्रेष्ठ वे, जो रहे हों कनिष्ठ।
रहे ज्येष्ठ जो, हो रहे चोर श्रेष्ठ॥

ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, त्यों-त्यों मनुष्यके मनमें सींग फूटते हैं—

वासनाएं बढ़ती जाती हैं। फिर परमेश्वरका स्मरण कहां ? छोटे बच्चोंके मनपर कोई लेप नहीं रहता। उनकी बुद्धि निर्मल रहती है। बच्चेको हम सिखाते हैं--"झूठ मत बोलो।" वह पूछता है--"झूठ किसे कहते हैं ?" तब उसे सिद्धांत बताते हैं--"बात जैसी हो वैसी ही कहना चाहिए।" लड़का उलझनमें पड़ता है कि क्या जैसा है वैसा कहनेके अलावा भी कहनेका कोई दूसरा तरीका है ? जैसा नहीं हो, वैसा कहें कैसे ? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो—ऐसा ही कहते जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे क्या हैं, विशुद्ध परमात्माकी मूर्त्ति हैं। बड़े लोग उन्हें गलत शिक्षा देते हैं। जो हो, मां, बाप, गुरु, संत, बच्चे--इनमें यदि हम परमात्माको न देख सकें तो फिर किस रूपमें देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नहीं है। परमेश्वरके इन सादे सौम्य रूपोंको पहले जानो। इनमें परमेश्वर स्पष्ट व मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ है।

(५२)

पहले हम मानवकी सौम्यतम व पावन मूर्त्तियोंमें परमात्माका दर्शन करना सीखें। उसी तरह इस सृष्टिमें भी जो-जो विशाल व मनोहर रूप हैं, उनमें उसके दर्शन पहले करें। उषाको ही लो। सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा। इस उषा-देवताके गान गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगते हैं, "उषे, तू परमेश्वरका संदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिम-कणोंसे नहाकर आई है। तू अमृतत्वकी पताका है।" ऐसे भव्य हृदयंगम वर्णन ऋषियोंने उषाके किये हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं---"तेरा दर्शन करके, जो कि परमेश्वरकी संदेश-वाहिका है, यदि परमेश्वरका रूप न दिखाई दे, न समझमें आये तो फिर मुझे परमेश्वरका परिचय कौन करायेगा।" इतनी सुंदरतासे सज-धजकर यह उषा सामने खड़ी है, परंतु हमारी निगाह वहांतक जाय तब न ?

उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन हैं। वह नाना प्रकारके रंग-बिरंगे चित्र आकाशमें खींचता है। चित्रकार महीनों कूंची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदयके चित्र बनाते और उनमें रंग भरते हैं। परंतु तुम सुबह उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो तो!

उस दिव्य कलाके लिए—उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला क्या उपमा दी जा सकेगी ? परंतु देखता कौन है ? उधर सुंदर भगवान् खड़ा है और इधर यह मुंहपर और भी रजाई ओढ़कर नींदमें खुर्राटे भरता है। सूर्य कहता है—"अरे आलसी, तू तो पड़ा ही रहना चाहता है, किन्तु मैं तुझे उठाऊंगा।" और ऐसा कहकर वह अपने जीवन-किरण खिड़कियोंमें भेजकर उस आलसीको जगा देता है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

सूर्य समस्त स्थावर-जंगमका आत्मा है। चराचरका आधार है। ऋषिने उसे 'मित्र' नाम दिया है--

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।"

"यह मित्र लोगोंको पुकारता है, उनको काम-धाममें लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वीको धारण किये है।" सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमें परमात्माके दर्शन करो।

और वह पावन गंगा ! जब मैं काशीमें था तो गंगाके किनारे जाकर बैठ जाया करता। रातमें, एकांत समयमें जाता था। कितना सुंदर और प्रसन्न उसका प्रवाह था। उसका वह भव्य गंभीर प्रवाह और उसके उदरमें संचित वे आकाशके अनंत तारे ! मैं मूक बन जाता। शंकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गंगा, जिसके तीरपर राज-पाठको तृणवत् फेंककर राजा लोग तप करने जाते थे, उस गंगाका दर्शन करके मुझे असीम शांति अनुभव होती। उस शांतिका वर्णन मैं कैसे करूं ? वाणीकी वहां सीमा आ जाती है। यह समझमें आने लगा कि हिन्दू यह क्यों चाहता है कि मरनेपर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गंगामें पड़ जाय ? आप हंसिये। आपके हंसनेसे कुछ बिगड़ता नहीं; परंतु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और संग्रहणीय मालूम होती हैं। मरते समय गंगाजलके दो बूंद मुंहमें डालते हैं। वे दो बूंद क्या हैं; मानो परमेश्वर ही मुंहमें उतर आता है। उस गंगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही

है, बहा ले जा रही है। गंगामातामें यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे तो कहां दिखाई देगा ? सूर्य, नदियां, धू-धू करके हिलोरें मारनेवाला वह विशाल सागर, ये सब परमेश्वरकी ही मूर्त्तियां हैं।

और वह हवा ! कहांसे आती है, कहां जाती है, कुछ पता नहीं। यह भगवान्‌का दूत ही है। हिन्दुस्तानमें कुछ हवा स्थिर हिमालयपरसे आती है, कुछ गंभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमें जाग्रत करती है, हमारे कानोंमें गुनगुनाती है; परंतु इस हवा का संदेश सुनता कौन है ? जेलरने यदि हमारा चार सतरोंका खत न दिया तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मंदभागी, क्या रखा है उस चिट्ठीमें ? परमेश्वरका यह प्रेम-संदेश, हवाके साथ हर घड़ी आ रहा है, उसे तू सुन !

और हमारे घरके नित्य काम-काजम आनेवाले इन पशुओंको देखो ! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता व प्रेमसे परिपूर्ण है ! दो-दो तीन-तीन मीलसे, जंगल-झाड़ियोंसे अपने बछड़ोंके लिए कैसी दौड़कर आती हैं ! वैदिक ऋषियोंको पहाड़ों-पर्वतोंसे स्वच्छ जलको लेकर कल-कल करती हुई आनेवाली नदियां देखकर अपने बछड़ोंके लिए दूध-भरे स्तनोंको लेकर रंभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोंकी याद हो आती है। वह ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि, दूध की तरह पवित्र पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय जंगलमें ही नहीं रह सकती, वैसे ही तुम नदियोंसे भी पर्वतोंमें नहीं रहा जा सकता। तुम सरपट दौड़ती हुई प्यासे बालकोंसे मिलनेके लिए आती हो।"

"वाश्रा इव धेनवः स्यंदमानाः"

वत्सल गायके रूपमें भगवान् ही दरवाजेपर खड़ा है।

और उस घोड़ेको देखो ! कितना ईमानदार, कितना वफादार। अरब लोग अपने घोड़ोंसे कितना प्यार करते हैं। उस अरबकी कहानी तुम्हें मालूम है न ? एक विपत्ति-ग्रस्त अरब एक सौदागर को घोड़ा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है। हाथमें मुहरों की थैली लेकर वह तबेलेमें जाता है, परंतु घोड़ेकी उन गंभीर और प्रेम-पूर्ण आंखोंपर उसकी निगाह पड़ती

है तो वह थली फेंक देता है और कहता है कि "मेरी जान चली जाय पर मैं घोड़ा नहीं बेचूंगा। मेरा जो कुछ होना होगा हो जायगा। खाना न मिले तो पर्वाह नहीं, परन्तु घोड़ा नहीं बेचूंगा। खुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेमसे फुरफुराता है, कैसी बढ़िया उसकी अयाल! सचमुच घोड़ेमें अनमोल गुण हैं। उस साइकिलमें क्या रखा है? घोड़ेको खुर्रा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोड़ेपर बैठना सीख रहा था। घोड़ा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—घोड़ा तो बैठने ही नहीं देता। मैंने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोड़ेपर बैठनेके ही लिए जाते हो, मगर उसकी खिदमत भी करते हो या नहीं? खिदमत तो करे दूसरा और उसकी पीठपर सवारी करो तुम, यह कैसा? तुम खुद उसे दाना-पानी दो, खुर्रा करो और फिर सवारी करो!" उसने वैसा ही किया। कुछ दिनों बाद मुझसे आकर कहा—अब घोड़ा गिराता नहीं है। घोड़ा तो परमेश्वर है, वह भक्तको क्यों गिरायेगा! उसकी भक्ति देखकर घोड़ा नरम हो गया। घोड़ा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान् श्रीकृष्ण खुद खुर्रा करते थे और अपने पीताम्बरमें दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आगई हो, नाला आगया हो, कीचड़ आगया हो, साइकिल रुक जाती है, मगर घोड़ा फांदता चला ही जाता है। यह सुन्दर प्रेममय घोड़ा मानो परमेश्वरकी मूर्त्ति ही है।

और उस सिंहको लो! बड़ौदेमें मैं रहता था। सुबह-ही-सुबह उसकी गर्जनाकी गंभीर ध्वनि कानोंमें पड़ती। उसकी आवाज इतनी गंभीर और उम्दा होती थी कि हृदय डोलने लगता। मंदिरोंके गर्भगृहोंमें जैसी आवाज गूंजती है, वैसी ही गंभीर उसके हृदय-गर्भकी वह ध्वनि थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढंग व शाही वैभव! वह भव्य सुन्दर अयाल, मानो चंवर ही उस वनराज पर ढल रहे हों। बड़ौदेके एक बागमें यह सिंह था। वहां वह आजाद नहीं था, पिंजड़ोंमें चक्कर काटता था। उसकी आंखोंमें जरा भी क्रूरता नहीं मालूम होती थी। उसकी मुद्रा व दृष्टिमें करुणा भरी हुई थी। मानो संसारकी उसे कुछ परवाह नहीं थी। अपने ही ध्यानमें वह मग्न दिखाई देता था।

सचमुच ही ऐसा मालूम होता है मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें मैंने एण्ड्रोक्लीज़ और सिंहकी कहानी पढ़ी थी। कितनी बढ़िया कहानी है वह! वह भूखा प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीज़के पहलेके अहसानको स्मरण करके उसका दोस्त हो जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। इसका क्या मर्म है? एण्ड्रोक्लीज़ने सिंहमें रहनेवाले परमेश्वर का दर्शन कर लिया था। भगवान् शंकरके पास सदैव सिंह रहता है। सिंह भगवान्‌की दिव्य विभूति है।

और शेरकी भी क्या कम मौज है। उसमें बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असम्भव नहीं। भगवान् पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योंको पाठ पढ़ा रहे थे। इतनेमें शेर आगया। लड़के डरसे चिल्लाने लगे—"व्याघ्रः, व्याघ्रः"। पाणिनिने कहा—"अच्छा, व्याघ्रका मतलब क्या है? 'व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः' अर्थात् जिसकी घ्राणेन्द्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोंको उससे कुछ डर लगा हो; पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनन्दमय शब्दमात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परन्तु बाघके खा जाने से क्या हुआ? पाणिनिके शरीर की मोठी गंध उसे लगी, उसका मन चल गया व उसने फाड़ खाया। परन्तु पाणिनि वहांसे भाग नहीं छूटे; क्योंकि वे तो शब्दब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सब कुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महानताके कारण ही भाष्योंमें जहां कहीं उनका नाम आया, वहां-वहां 'भगवान् पाणिनि' इस तरह पूज्य-भावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अत्यन्त उपकार मानते हैं—

अज्ञानांधस्य लोकस्य ज्ञानांजन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमें परमात्माका दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेवने कहा है—

घर आवे क्यों न स्वर्ग, या आ चढ़े व्याघ्र,
तो भी आत्म-बुद्धिमें भंग, न हो कभी।

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गई थी। वे इस बातको समझ गये थे कि वाघ एक दैवी विभूति है।

वैसे ही सांपको भी समझो। सांपसे लोग बहुत डरते हैं। परन्तु सांप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ! कितना सुन्दर! जरा भी गन्दगी उसे बर्दाश्त नहीं। गंदे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते हैं, परन्तु गन्दा सांप कभी किसीने देखा? मानो एकान्त-वासी ऋषि ही हो। निर्मल सतेज, मनोहर हार जैसा वह सांप। उससे डरनेकी क्या जरूरत? हमारे पूर्वजोंने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिये कि हिन्दू-धर्ममें न जाने क्या-क्या वहम फैले हुए हैं; परन्तु नाग-पूजाका विधान उसमें जरूर है। बचपनमें मैं अपनी मांके लिए उबटनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मैं मांसे कहता—"बाजार में तो अच्छा चित्र मिल जाता है मां!" वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नहीं चाहिए। अपने बच्चे का बनाया चित्र अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है? परन्तु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मासमें अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमें पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा? दूर एकांतमें रहनेवाला वह ऋषि आपको फिजूल तकलीफ न हो, इस खयालसे किसी छप्परके नीचे कहीं लकड़ियोंमें पड़ा रहता है। कम-से-कम जगह वह घेरता है। परन्तु हम डंडा लेकर जा पहुंचते है। संकट-ग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय तो क्या उसे मारना उचित है? संत फ्रांसिसके लिए कहा जाता है कि जब जंगलमें सांप दिखाई देता तो वह उससे बड़े प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ!" सांप उसकी गोदीमें खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढ़ जाते। इसे झूठ मत समझिए। प्रेममें अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। सांपको कहते हैं कि वह विषैला है। परन्तु मनुष्य क्या कम विषाक्त है? सांप तो कभी-कभी काटता है। खुद होकर नहीं काटता। सौ में नब्बे तो निर्विष ही होते हैं। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करनेवाले असंख्य कीड़ों और जन्तुओंको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकांत-प्रिय सर्प भगवान्का रूप है।

हमारे तमाम देवताओंमें कहीं-न-कहीं सांप जरूर आता है। गणेशजीकी कमरमें सांपका कमर-पट्टा बंधा हुआ है। शंकरके गलेमें सांप लिपटे रहते हैं और भगवान् विष्णु तो नाग-शय्या पर ही सोये हुए हैं। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह कि नागके द्वारा यह ईश्वरीय-मूर्त्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

(५३)

ऐसे कितने उदाहरण दूं? मैं तो सिर्फ खयाल दे रहा हूं। रामायणका सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामें ही है। रामायणमें पिता-पुत्रका प्रेम, मां-बेटोंका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, यह सबकुछ है; परंतु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नहीं है। मुझे वह पसंद इसलिए है कि रामकी मित्रता वानरोंसे हुई। आजकल कहते हैं कि वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोंका काम ही है, पुरानी बातोंकी छानबीन करना। उनके इस कार्यपर मैं आपत्ति नहीं उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोंसे मित्रताकी हो तो इसमें असंभव क्या है? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमें है कि राम और वानर मित्र हो गये। इसी तरह कृष्णका और गायोंका संबंध। सारी कृष्ण पूजाका आधार यही कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिये तो आपको इर्द-गिर्द गायें खड़ी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोंको अलग कर दो तो फिर कृष्णमें बाकी क्या रहा? रामसे यदि वानर हटा दिये तो फिर उस राममें भी क्या राम बाकी रहा? रामने वानरोंमें भी परमात्माके दर्शन किये व उनके साथ प्रेम और घनिष्ठताका संबंध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुंजी! इस कुंजीको आप भूल जायंगे तो रामायणकी मधुरता खो देंगे। पिता-पुत्रका, मां-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परंतु नर-वानरकी यह अनन्य मधुर मैत्री सिर्फ रामायणमें ही मिलेगी, और कहीं नहीं। वानरमें स्थित भगवान्को रामायणने आत्मसात् किया। वानरोंको देखकर ऋषियोंको बड़ा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तटतक जमीनपर पैर न रखते हुए

वे वानर एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदते-फांदते और क्रीड़ा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वनको और उसमें क्रीड़ा करनेवाले वानरोंको देखकर उन सहृदय ऋषियोंके मनमें कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आंखें कैसी होती हैं, यह बताते हुए उपनिषदोंने बंदरोंकी आंखोंकी उपमा दी है। बंदरकी आंखें बड़ी चंचल, चारों ओर उनकी निगाह। ब्रह्मकी आंखें ऐसी ही होनी चाहिए। ईश्वरका काम आंखें स्थिर रखनेसे न चलेगा। हम आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते हैं। परंतु यदि ईश्वर ही ध्यानस्थ हो जाय तो फिर दुनियाका क्या हाल हो। अतः बंदरोंम ऋषियोंकी सबकी चिंता रखनेवाली ब्रह्मकी आंखें दिखाई देती हैं। वानरोंमें परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

और वह मोर—महाराष्ट्रमें मोर बहुत नहीं हैं; परंतु गुजरातमें उनकी विपुलता है। मैं गुजरातमें था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाश में बादल छा रहे हों, मेह बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रंग गहरा श्याम हो गया हो तब मोर अपनी ध्वनि सुनाता है। हृदयसे खिंचकर निकलनेवाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो तो मालूम हो। हमारा सारा संगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज—"षड्जं रौति"। यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला फिर घटा-बढ़ाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गड़ी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघकी गड़गड़ गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पूंछकी छत्री! अहा हा! छत्रीके उस सौन्दर्य-के सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते हैं, परंतु मोर-पुच्छकी छत्रीके सामने वे क्या सजेंगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! वे हजारों आंखें, वे रंग-बिरंगी अनन्त छटाएं, वह अद्भुत सुन्दर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा! जरा देखिए तो उस छत्रीको और उसमें परमात्मा भी देखिए! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खड़ा है; परंतु उसे न देखनेवाले हम अभागे! तुकाराम ने कहा है—

'प्रभुका सर्वत्र सुकाल, अभागीको है अकाल।'

संतोंके लिए सर्वत्र सुकाल है। परंतु हम अभागोंके लिए सब जगह अकाल है।

वेदोंमें अग्निकी उपासना बताई गई है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्ति! दो लकड़ियोंको रगड़िए, वह प्रकट हो जाता है। क्या जाने पहले कहां छिप रहा था। कितना गरम, कितना तेजस्वी! वेदोंकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।"

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोंका आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाएं देखनेसे मुझे जीवात्माके उखाड़-पछाड़की याद आ जाती है। वे ज्वालाएं, वे लपटें चाहे घरके चूल्हेकी हों, चाहे जंगलकी दावाग्निकी हों—वैरागीके घरबार जैसा तो होता ही नहीं। वे ज्वालाएं जहां होंगी, वहां उनकी वह दौड़-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती रहती हैं। वे ज्वालाएं और ऊपर जानेके लिए आतुर रहती हैं। आप—विज्ञान-वेत्ता—लोग कहेंगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाएं हिलती हैं, हवाके दबावके कारण हिलती हैं। परंतु कम-से-कम मेरा अर्थ यह है। वह ऊपर जो परमात्मा है, वह तेज-समुद्र सूर्य-नारायण जो ऊपर है, उससे मिलनेके लिए वे निरन्तर उछल रही हैं। जन्मसे लेकर मरनेतक उनकी यह दौड़-धूप जारी रहती है। सूर्य अंशी है और ये ज्वालाएं अंश हैं। अंश अंशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटें बुझ जायंगी तभी वह दौड़-धूप बंद होगी, वरना नही। सूर्यसे हम बहुत दूरीपर हैं, यह विचार भी उनके मनमें नहीं आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्ति भर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जायं। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—'अग्निमीळे'।

और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊं? किसे पुकारती है वह? गर्मियोंमें नदी-नाले सूख गये, परंतु वृक्षोंमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं।

वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उसे यह वैभव प्रदान किया, कहां है वह वैभवदाता ? कैसी उत्कट मधुर कूक ! हिंदूधर्ममें कोयलके व्रत का तो विधान ही है। स्त्रियां व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नहीं करेंगी। कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुंदर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् ही गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोंको सुनाई देती है, परंतु वह दिखाई नहीं देती। वह अंग्रेजी कवि वर्ड्स्वर्थ उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है। इंग्लैण्डका महान् कवि कोयल को खोजता है, परंतु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियां कोयल न दिखाई दे तो खाना भी नहीं खातीं। इस कोकिला-व्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियोंने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनंदकी मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुंदर परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है।

कोयल तो सुंदर और वह कौआ क्या भद्दा है ? कौवेका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज ! वह आवाज क्या बुरी है ? नहीं, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता-हुआ आता है तो कितना सुन्दर लगता है । छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बन्द घरमें खाना नहीं खाता। बाहर आंगनमें बैठकर उसे जिमाना पड़ता है और चिड़िया, कौवे दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौवेके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है ? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौवेके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा फौरन एकरूप हो जाता है। माता चावलपर चाहे दही परोसे, दूध परोसे या शक्कर परोसे, उस बच्चेको उसमें कोई रस नहीं। उसे आनंद है कौवेके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुंह बिचकानेमें। सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोंको जो इतना कौतुक मालूम होता है, उसीपर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गई है। ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तकोंकी सूचीमें मैं ईसप-नीतिका नाम सबसे पहले रखूंगा, भूलूंगा नहीं। ईसपके राज्यमें दो हाथोंवाला, दो पावोंवाला वह मनुष्य प्राणी ही अकेला नहीं है। उसमें सियार, कुत्ते, कौवे, हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केंचुए सभी

बातचीत करते हैं, हंसते हैं। एक प्रचंड सम्मेलन ही समझिए न! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है। रामायण भी इसी तत्त्व पर, इसी दृष्टिपर रची है। तुलसीदासने रामकी बाल-लीलाका वर्णन किया है। राम आंगनमें खेल रहे हैं। एक कौवा पास आता है, राम उसे आहिस्तासे पकड़ना चाहते हैं। कौवा पीछे फुदक जाता है। अंतमें राम थक जाते हैं। परन्तु उन्हें एक तरकीब सूझती है। मिठाईका एक टुकड़ा लेकर राम कौवेके पास जाते हैं। राम टुकड़ा जरा आगे बढ़ाते हैं, कौवा कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमें तुलसीदास कई पृष्ठ खर्च कर जाते हैं; क्योंकि वह कौवा परमेश्वर है। रामकी मूर्तिका अंश ही उस कौवेमें भी है। राम और कौवेकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है।

(५४)

सारांश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमें विविध रूपोंमें—पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गंभीर सागरके रूपमें, वत्सल गोमाताके रूपमें, उम्दा घोड़ेके रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुंदर मोरके रूपमें, स्वच्छ व एकांतप्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौवेके रूपमें, दौड़-धूप करनेवाली ज्वालाओंके रूपमें, प्रशान्त तारोंके रूपमें सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है। आंखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे तबतक पढ़नेमें प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर कदम-कदम पर आयंगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमें आता है, परंतु रावण भी समझमें आना चाहिए। प्रह्लाद जंचता है, परंतु हिरण्यकशिपु भी जंचना चाहिए। वेदमें कहा है—

"नमोनमः स्तेनानां पतये नमोनमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः"

"ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः ।"

"उन डाकुओं के सरदारों को नमस्कार! उन क्रूरोंको, उन हिंसकोंको नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू, सब ब्रह्म ही हैं। इन सबको नमस्कार।"

इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोंको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमें नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहां शुद्ध परमात्मा नहीं है, मिश्रण है; परन्तु इस परमेश्वरको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी भक्त कहा है। हां, इस भक्तके रंग-ढंग जरा भिन्न हैं। आगसे जल जानेपर पांव सूज जाता है, परन्तु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही; पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया तो भी वह है एक ही परमेश्वर का।

स्थूल व सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर व संयुक्ताक्षर, सब सीखो और अंतमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवाय एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर सारे ब्रह्मांडतक सर्वत्र परमात्मा ही से व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता रखनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर, परमात्मा हमारे चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।

रविवार, २४-४-३२

ग्यारहवां अध्याय

(५५)

भाइयो, पिछली बार हमने इस बातका अभ्यास किया कि इस विश्व की अनंत वस्तुओंमें व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचानें और हमारी आंखों-को जो यह विराट् प्रदर्शनी दिखाई देती है, उसे आत्मसात् कैसे करें ? पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म, पहले सरल, फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोंमें भगवान्को देखें, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखें—यह हमने पिछले अध्यायमें देख लिया।

अब, आज ग्यारहवें अध्यायपर नजर डालना है। इस अध्यायमें भगवान्ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा दिखलाई है। अर्जुनने भगवान्से कहा—"प्रभो, मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूं, जिसमें आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आंखोंसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह मांग विश्व-रूप दर्शनकी थी।

हम 'विश्व', 'जग'—इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं। यह 'जग' विश्वका एक छोटा-सा भाग है। इस छोटे-से टुकड़ेको भी हम समझ नहीं पाते। सारे विश्वकी दृष्टिसे देखें तो यह जग, जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ वस्तु है ऐसा मालूम होगा। रातके समय आकाशकी ओर जरा दृष्टि डालें तो अनन्त गोल दिखाई देते हैं। आकाश-के आंगनकी वह रंगावलि, वे छोटे-छोटे सुन्दर फूल, वे लुक-लुक करने-वाली लाखों तारिकाएं, इन सबका स्वरूप आप जानते हैं ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएं, महान् प्रचंड हैं। उनके अन्दर अनंत सूर्योंका समावेश हो जायगा। वे रसमय तेजोमय ज्वलंत धातुओंके गोल पिंड हैं। ऐसे इन अनंत पिंडोंका हिसाब कौन लगावेगा ? न इनका अंत है न पार।

खाली आंखोंसे ही ये हजारों दीखते हैं। दूरबीनसे देखें तो करोड़ों दिखाई देते हैं। उससे बड़ी दूरबीन हो तो परार्धों दीखने लगेंगे। और यह समझमें आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अंत कहां है, कैसा है ? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकड़ा 'जग' कहलाता है; परंतु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है।

यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू हुआ। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह है काल। यदि हम पिछले काल पर निगाह दौड़ावें तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस हजार सालतक पीछे जा सकेंगे, आगेका काल तो ध्यानमें ही नहीं आता। इतिहास-काल दस हजार वर्षोंका और खुद हमारा जीवनकाल तो मुश्किलसे सौ सालका है ! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि व अनंत है। कितना काल बीता है इसका कोई हद-हिसाब नहीं। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नहीं होती। हमारा 'जग' जैसे विश्वकी तुलनामें बिलकुल तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनंतकालकी तुलनामें कुछ भी नहीं हैं। भूतकाल अनादि है, व भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूतकालमें चला जाता है। वर्तमान-काल सचमुच कहां है यह बताने जाते हैं तबतक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूं, परंतु मुंहसे शब्द निकला नहीं कि वह भूतकालमें विलीन हुआ नहीं ! इस तरह यह महान् काल-नदी एक-सी बह रही है। न उसके उद्गमका पता है न अंतका ! बीचका थोड़ा-सा प्रवाह-मात्र हमें दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचंड विस्तार और दूसरी ओर कालका जबरदस्त प्रवाह, इन दोनों दृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखें तो समझ जायंगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खींचनेपर भी इसका कोई अंत नहीं आ सकता। तीनों काल व तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एवं ऊपर, नीचे तथा वहां सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर एकसाथ एकबारगी दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवां अध्याय प्रकट हुआ है।

अर्जुन भगवान्‌को बहुत ही प्यारा था। कितना प्यारा था ? इतना कि दसवें अध्यायमें किन किन स्वरूपोंमें मेरा चिंतन करो, यह बताते हुए भगवान् कहते हैं—"पांडवोंमें जो अर्जुन है उसके रूपमें मेरा चिंतन करो।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"पांडवोंमें धनंजय !" इससे अधिक प्रेमका पागलपन प्रेमोन्मत्तता, कहां होगी ? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है। अर्जुनपर भगवानकी अपार प्रीति थी। यह ग्यारहवां अध्याय उस प्रीतिका प्रसाद रूप है। दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्‌ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया। अर्जुनको उन्होंने प्रेमका प्रसाद दिया।

(५६)

उस दिव्य-रूपका सुंदर वर्णन, भव्य वर्णन इस अध्याय में है। यद्यपि यह सब सच है तो भी इस विश्वके विषयमें मैं खास लोभ नहीं दिखा सकता। मैं छोटेसे रूपपर ही संतुष्ट हूं। जो छोटा-सा सादा सुंदर रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मैं सीख गया हूं। परमेश्वर टुकड़ोंमें विभाजित नहीं है। मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता कि परमेश्वरका जो रूप हम देख पाते हैं, वह उसका एक टुकड़ा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है; बल्कि मैं देखता हूं कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमें व्याप्त है, वही संपूर्ण रूपमें जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमें, मिट्टीके एक कणमें भी व्याप्त है, कम किसी कदर भी नहीं। अमृतके सिंधुमें जो मिठास है, वही एक बिंदुमें भी होती है। मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूंद मुझे मिल गई है, उसीकी मिठास मैं चखता रहूं। अमृतका दृष्टांत मैंने जान-बूझकर लिया है। पानी या दूधका नहीं लिया है। एक प्याले दूधमें जो स्वाद होगा वही एक लोटे भर दूधमें होगा; परंतु स्वाद चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नहीं हो सकती। एक बूंद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमें पुष्टि अधिक है; परंतु अमृतके उदाहरणमें यह बात नहीं है। अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूंदमें हुई है, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है। बूंद भर अमृत भी गले के नीचे उतर गया तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा।

उसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता परमेश्वरके विराट् स्वरूपमें है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमें भी है। यदि एक मुट्ठी भर गेहूं मुझे नमूनेको लाकर दिये, उसपरसे यदि मुझे गेहूंकी पहचान न हुई तो फिर बोरी भर गेहूं भी यदि मेरे सामने रख दिये तो वह कैसे होगी ? छोटे ईश्वरका जो नमूना, मेरी आंखोंके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैंने नहीं पहचाना तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मैं कैसे पहचानूंगा ? छोटे-बड़े इनमें क्या है ? छोटे रूपको पहचान लिया तो बड़ेकी पहचान हो ही गई। अतः मुझे यह आकांक्षा नहीं होती कि ईश्वर अपना बड़ा रूप मुझे दिखावें। अर्जुन-की तरह विश्वरूप दर्शनकी मांग करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है। फिर जो-कुछ मुझे दीखता है, वह विश्व-रूपका कोई टुकड़ा है, ऐसी बात नहीं। किसी तस्वीरका कोई टूटा टुकड़ा ले आवे तो उससे सारे चित्रका खयाल हमें नहीं हो सकता; परन्तु परमात्मा इस तरह टुकड़ोंसे बना हुआ नहीं है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खंड-खंड किया हुआ है। एक छोटेसे स्वरूप-शक्लमें भी वह अनंत परमेश्वर सारा-का-सारा ही समाया हुआ है। छोटे फोटो व बड़े फोटोमें क्या फर्क है ? जो बातें बड़े फोटो में होती हैं, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फोटो में भी होती हैं। छोटा फोटो बड़े फोटो-का टुकड़ा नहीं है। छोटे टाइपके अक्षर हों तो भी वही अर्थ होगा व बड़े टाइपके अक्षर हों तो भी वही होगा। बड़े टाइपमें बड़ा अर्थ व छोटेमें छोटा होता हो, सो बात नहीं।

मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजापर अबतक अनेक लोगोंने हमले किये हैं। बाहरके और यहांके भी कुछ विचारकोंने मूर्ति-पूजाको अनुचित बताया है; परंतु मैं ज्यों-ज्यों विचार करता हूं, त्यों-त्यों मूर्ति-पूजाकी दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट खड़ी हो जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ क्या है ? एक छोटी-सी चीजमें सारे विश्वको अनुभव करने-की विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटे-से गांव में सारे ब्रह्मांडको देखनेकी विद्या सीखना, यह बात क्या गलत है ? यह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट् स्वरूपमें जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमें है, वही एक मृत्कणमें है। उस मिट्टीके ढेलेके नीचे आम, केले, गेहूं, सोना, तांबा, चांदी सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके अंदर है। जिस तरह

किसी छोटी नाटक-मंडलीमें वेही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंगभूमि पर आते हैं, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमें काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनंत नाटक लिखता है व खुद अनंत पात्रोंके रूपमें सजकर रंग-भूमि पर अभिनय करता है। इस अनंत नाटकका एक पात्र पहचान लिया तो फिर सारे पात्रोंको पहचान लिया जैसा होगा।

काव्यकी उपमा, दृष्टांत आदिके लिए जो आधार है, वही मूर्ति-पूजाके लिए भी है। किसी गोल वस्तुको हम देखते हैं तो हमें आनंद होता है; क्योंकि उसमें एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग सुन्दर है। उसमें व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु याने व्यवस्थित ईश्वरकी मूर्ति। परंतु जंगलमें उपजा टेढ़ा-तिरछा पेड़ भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमें ईश्वरकी स्वच्छंदता है। उस पेड़को कोई बंधन नहीं है। ईश्वरको कौन बंधनमें डालेगा? वह बन्धनातीत परमेश्वर उस टेढ़े-मेढ़े पेड़में है। कोई सीधा-सरल खंभा देखते हैं, तो उसमें ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खंभा देखें तो उसमें आकाशमें नक्षत्रोंके बेल-बूटे काढ़नेवाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छंटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयम रूप दिखाई देता है, तो किसी विशाल बनमें ईश्वरकी भव्यता व स्वतन्त्रताके दर्शन होते हैं। जंगलमें भी आनन्द मिलता है व व्यवस्थित बागमें भी। तो फिर क्या हम पागल हैं? नहीं, आनंद दोनोंमें ही होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमें प्रकट हुआ है। चिकने शालग्रामकी बट्टीमें जो तेज है, वही एक ऊबड़-खाबड़ नर्मदाके 'शंकर' में है। अतः मुझे वह विराट् स्वरूप अलहदा न भी दिखाई दे तो हर्ज नहीं।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमको आनंद होता है—उस वस्तुके विषयमें आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनंद होता है, वह अकारण नहीं। आनंद होता क्यों है? उससे कुछ-न-कुछ नाता होता है, इसीसे आनंद होता है। बच्चेको देखते ही मांका हिया उछलने लगता है; क्योंकि वह नाता जानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोड़ो। मुझमें जो

परमेश्वर है वही उस वस्तुमें है। इस प्रकार संबंध बढ़ाना ही आनंद बढ़ाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेमका संबंध सब जगह जोड़ने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है। फिर अनन्त सृष्टिमें व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखाई देगा। एक बार वह दृष्टि प्राप्त हुई है तो फिर क्या चाहिए? परंतु इसके लिए इंद्रियोंको संस्कारकी, अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी तो फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोंमें इस बातका बड़ा सुन्दर वर्णन है। आत्माका रंग कैसा होता है। आत्माका रंग कौन-सा बताया जाय? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं—

"यथा अयं इंद्रगोप:"

यह जो लाल-लाल रेशम का मुलायम मृगका कीड़ा—बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस मृगके कीड़ेको देखते हैं तो कितना आनंद होता है। यह आनंद क्यों होता है? मेरा अपने प्रति जो भाव है, वही उस इंद्रगोपमें है। मुझसे उसका कुछ संबंध न होता तो आनंद होता? मेरे अन्दर जो सुन्दर आत्मा है वही इंद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यों देते हैं? उससे आनंद क्यों होता है? हम उपमा इसलिए देते हैं कि उन दो वस्तुओंमें साम्य होता है और इसीसे आनंद होता है। यदि उपमेय और उपमान बिलकुल भिन्न-भिन्न हों तो आनंद नहीं होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्च की तरह है तो हम उसे पागल कहेंगे। पर यदि कोई यह कहे कि तारे फूलों की तरह हैं तो उनमें साम्य दिखाई देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्च की तरह है ऐसा कहनेसे सादृश्य अनुभव नहीं होता; परंतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गई हो, जो परमात्मा नमकमें है, वही मिर्चमें है, ऐसा दर्शन जिसको हुआ हो, वह 'नमक कैसा? तो मिर्च की तरह' है, इस कथन में भी आनंद अनुभव करेगा। सारांश यह कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें लबालब भरा हुआ है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नहीं।

(५७)

फिर वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्व-रूप देखनेमें कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुनकी हो गई। वह थर-थर कांपते हुए अंतमें कहता है, "भगवन् अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। ईश्वर, जो तीनों कालों और तीनों स्थलोंमें व्याप्त है, यही अच्छा है। वह तारा सिमिटकर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आकर खड़ा हो जाय तो मेरी क्या दशा होगी ? ये तारे कितने शांत दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे बातें कर रहे हों। परंतु दृष्टिको शांत करनेवाली वही तारिका यदि नजदीक आ जाय तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मैं खाक ही होकर रहूंगा। ईश्वरके ये अनंत ब्रह्मांड जहां हैं वहां वैसे ही रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या आनंद है ? बंबईके उस कबूतरखानेमें हजारों कबूतर रहते हैं, वहां उन्हें क्या आजादी है ? वह दृश्य बड़ा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमें है, जो यह सृष्टि, ऊपर, नीचे, यहां इन तीनों स्थलोंमें विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कलात्मक सृष्टिके लिए भी है। हमें भूतकालकी स्मृति नहीं रहती और भविष्यका ज्ञान नहीं होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफमें पांच ऐसी वस्तुएं बताई गई हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्यप्राणीकी सत्ता बिलकुल नहीं है। उनमें एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अंदाज जरूर लगाते हैं, परंतु अंदाजका अर्थ ज्ञान नहीं है। भविष्यका जो ज्ञान हमें नहीं होता, इसीमें हमारा कल्याण है। वैसे ही भूतकालकी जो स्मृति हमें नहीं रहती, यह भी सचमुच बड़ी शुभ बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आवे तो भी उसके भूतकालकी स्मृति मुझे होकर उसके प्रति मनमें आदर नहीं होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोंको मैं सहसा भूल नहीं सकता। संसार उसके पापोंको उसी अवस्थामें भूल सकेगा, जब कि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

पूर्व स्मरणसे विकार बढ़ते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो गया तो फिर सब खतम। पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह तरकीब है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएं असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोंके कूड़े करकटकी खोज क्यों करें ? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूड़ा-करकट है ? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते हैं। यह विस्मति लाभदायी ही है। हिंदू-मुस्लिम ऐक्यके लिए भूतकालका विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरंगजेबने बड़ा जुल्म ढाया, इसको कितने दिनोंतक रटते रहोगे ? गुजराती में रतनबाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत बहुत बार यहां सुनते हैं। उसके अंत में कहा है—"संसारमें सबकी कीर्ति ही अंतमें रह जायगी। पापको लोग भूल जायंगे।" यह काल छननी कर रहा है। इतिहासमें जितना कुछ अच्छा हो उतना ले लेना चाहिए। जो कुछ पाप हो, उसे फेंक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोड़कर सिर्फ अच्छाईको ही याद करे तो क्या बहार हो ? परंतु ऐसा नहीं होता। इसलिए विस्मृतिकी बहुत आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्ने मृत्यु-का निर्माण किया है।

मतलब यह कि यह जग जैसा है वैसा ही मंगलरूप है। इस काल-स्थलात्मक जगको एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नहीं है। अति-परिचय-में मजा नहीं है। कुछ चीजोंसे घनिष्ठता बढ़ानी होती है, तो कुछ चीजोंसे दूर रहना होता है। गुरु होगा तो नम्रता-पूर्वक दूर बैठेंगे। परंतु मांकी गोदीमें जाकर बैठेंगे। जिस मूर्तिके साथ जैसा व्यवहार करने-की जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम नजदीक लें, परंतु आगसे बचकर रहें। तारे दूरसे ही सुन्दर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लानेसे हमें अधिक आनंद होगा, सो बात नहीं। जो चीज जहां है, उसे वहीं रहने देने में मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, उसको नजदीक लानेसे वह सुखदायी ही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। उसे वहीं दूर रखकर ही उसके रसको चखना चाहिए। ढीठ बनकर बहुत घनिष्ठता बढ़ाकर अति परिचय कर लेनेमें कुछ सार नहीं है।

सारांश यह कि तीनों काल हमारे सामने खड़े नहीं हैं, सो अच्छा ही है। तीनों कालका ज्ञान होनेसे आनंद अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड़ ली, प्रार्थना की, तो भगवान्‌ने उसको मंजूर कर लिया। उन्होंने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया; परंतु मुझे तो भगवान्‌का छोटा-सा रूप ही काफी है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकड़ा तो है नहीं और यदि टुकड़ा भी हो तो उस अपार व विशाल मूर्तिका एक पैर या एक पैरकी अंगुली ही मुझे दीख गई तो भी मैं कहूंगा—"धन्य है मेरा भाग्य !" अनुभवसे मैंने यह ज्ञान पाया है। जमनालालजीने जब वर्धा में लक्ष्मीनारायणका मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया तो उस समय मैं दर्शनके लिए गया था। पंद्रह-बीस मिनट तक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने जैसी स्थिति मेरी हो गई। भगवान्‌का वह मुख, वह छाती, वे हाथ-पांव देखते-देखते पांवोंतक पहुंचा, व अंतमें चरणोंपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गई। 'मधुर तेरी चरण-सेवा' यही भावना अन्तमें रह गई। यदि एक छोटे-से रूपमें वह महान् प्रभु न समा जाता हो तो फिर उस महापुरुषके चरण ही दीख जाना काफी है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बड़ा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था ! मेरी क्या योग्यता है ? मुझे तो चरण ही बस है, मेरा अधिकार इतना ही है।

(५८)

उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है उसमें बुद्धि चलानेकी मेरी इच्छा नहीं। उसमें बुद्धि चलाना पाप है। उस विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोंको हम पढ़ते रहें व पवित्र हों। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकड़े किये जायं यह मुझे नहीं भाता। वह अघोर उपासना हो जायगी। अघोरपंथी लोग श्मशानमें जाकर मुर्दे चीरते हैं व तंत्रोपासना करते हैं। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥"

ऐसा वह विशाल व अनंतरूप ! उसके वर्णनात्मक श्लोकों को गावें, गाकर अपना मन निष्पाप, पवित्र बनावें ।

परमेश्वरके इस सारे वर्णनमें सिर्फ एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, ये सब मरने ही वाले हैं—तू तो निमित्त-मात्र हो जा, करने-धरनेवाला तो सब-कुछ मैं हूं।" यही ध्वनि मनमें गूंजती रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमें ईश्वरके हाथका एक हथियार बनाना है तो बुद्धि विचार करने लगती है। ईश्वरके हाथका औजार बनें कैसे ? क्या उसके हाथकी मुरली बनूं ? वह अपने होठसे मुझे लगा लें व मधुर सुर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह कैसे होगा ? मुरली बनना यानी पोला बनना। पर मुझमें तो विकार व वासनाएं ठसा-ठस भरी हुई हैं ऐसी दशामें मुझमें से मधुर स्वर कैसे निकलेगा ? मेरा सुर तो है भद। मैं घन वस्तु हूं। मुझमें अहंकार भरा हुआ है। मुझे निरहंकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊंगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा; परंतु परमेश्वरके होठोंकी मुरली बनना है बड़े साहसका काम। यदि उसके पैरोंकी जूतियां बनना चाहूं तो भी वह आसान नहीं है। वह ऐसी मुलायम जूती होनी चाहिए कि परमेश्वरके पांवमें जरा भी छाले न होने पावें। परमेश्वरके पांव व कांटे-कंकर, इनके बीचमें मुझे पड़ जाना है। मुझे अपनेको कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा—मुलायम बनाना होगा। अतः परमेश्वर-के पांवोंकी जूती बनना भी आसान नहीं है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नहीं बनना चाहिए। तपश्चर्या की सानपर अपने को चढ़ाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वर-के हाथमें मेरी जीवन-रूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह गुंजार मेरी बुद्धिमें होने लगता है। भगवान्‌के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमें निमग्न हो जाता हूं। अब वह कैसे हो, इसकी विधि खुद भगवान्‌ने अंतिम श्लोकमें बता दी है। श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको 'सर्वार्थसार—सारी गीताका सार' कहा है। वह श्लोक यह है—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"

• • • •

मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो।
जो अनासक्त निर्वैर सो आके मिलते मुझे ॥

जिसका संसारमें किसीसे बैर नहीं, जो तटस्थ रहकर संसारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो कुछ करता है सो सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है, क्षमावान्, निःसंग, विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है, ऐसा यह सार है।

रविवार, १-५-३२

बारहवां अध्याय

(५९)

गंगाका प्रवाह यों तो सभी जगह पावन व पवित्र है; परन्तु हरद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थान अधिक पवित्र हैं। उन्होंने सारे संसारको पवित्र कर दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता शुरूसे अखीर-तक सभी जगह पवित्र है। परन्तु बीचमें कुछ अध्याय ऐसे हैं, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्यायके संबंधमें हमें कहना है वह बड़ा पवित्र, तीर्थ-जैसा बन गया है। खुद भगवान् ही इसे 'अमृतधारा' कहते हैं—"ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।" यह छोटा-सा बीस श्लोकोंका अध्याय; परन्तु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, संजीवन है। इस अध्यायमें भगवान्ने स्वमुखसे भक्ति-रसकी महिमा-का तत्त्व बताया है।

यों तो वास्तवमें छठे अध्यायसे भक्ति-तत्त्व प्रारम्भ हो गया है। पांचवें अध्यायके अन्ततक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्माचरण-रूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधना-रूप विकर्म, इन दोनोंकी साधनासे संपूर्ण कर्मोंको भस्म करनेवाली अन्तिम अकर्मकी भूमिका—इतनी बातोंका विचार पहले पांच अध्यायोंतक हुआ। यहांतक जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्त्वका ही विचार ग्यारहवें अध्याय के अन्ततक चला। एकाग्रतासे शुरूआत हुई। छठे अध्यायमें यह बताया गया कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन हैं व उसकी क्यों आवश्यकता है? ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई है। अब देखना यह है कि एकाग्रता से लेकर समग्रता तककी लंबी मंजिल हमने कैसे तय की?

चित्तकी एकाग्रता से शुरूआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होनेपर किसी भी

विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रता का उपयोग—मेरा प्रिय विषय यदि लें तो—गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे अवश्य फल-लाभ होगा; परन्तु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नहीं है। गणितके अध्ययन से एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नहीं होती। गणित में अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्रान्तमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परन्तु यह सच्ची परीक्षा नहीं है। इसलिए सातवें अध्यायमें यह बताया कि हमारी दृष्टि भगवान्‌के चरणोंकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमें कहा गया कि भगवान्‌के चरणोंमें एकाग्रता सतत रहे—हमारी वाणी, कान, आंखें सतत उसीमें लगे रहें, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी तमाम इंद्रियोंको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। "सब इंद्रियोंको आदत पड़ गई—अब दूसरी भावना नहीं रही," ऐसा हो जाना चाहिए। सब इंद्रियोंको भगवान्‌की धुन लग जानी चाहिए। हमारे पास चाहे कोई विलाप कर रहा हो, या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरक्त सज्जनोंका, संतोंका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अन्धकार हो, मरण-कालमें परमेश्वर चित्तके सामने खड़ा रहेगा—इस तरहका अभ्यास जिंदगीभर सब इंद्रियोंसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवें अध्यायमें दी गई है। छठे अध्यायमें एकाग्रता, सातवेंमें ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति,' आठवेंमें सातत्ययोग व नवेंमें समर्पणता दिखलाई है। दसवेंमें क्रमिकता बताई है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदयंगम किया जाय, चींटीसे लेकर ब्रह्मदेवतकमें व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई। विश्व-रूप-दर्शनको ही मैं समग्रता-योग कहता हूं। विश्व-रूप दर्शनका अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रज-कणमें भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवेंतक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छननी की गई है।

(६०)

अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने

समाप्ति-संबंधी प्रश्न पूछा। पांचवें अध्यायमें जीवन-संबंधी सर्वशास्त्रोंका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था वैसा ही यहां भी पूछा है। अर्जुन पूछता है कि भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं, तो अब बताओ कि इन दोमें आपको कौन प्रिय है?

भगवान् इसका क्या उत्तर दें? किसी मांके दो बच्चे हों व उससे उनके बारे में प्रश्न पूछा जाय, वैसा ही यह है। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह मांको बहुत प्यार करता हो, मांको देखते ही आनंदित होता हो, और मांके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो। वह मांसे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। मां न हो तो उसे सारा संसार सूना। ऐसा यह छोटा बच्चा है। दूसरा बड़ा बेटा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। मांसे दूर रह सकता है। पांच-छः मास भी मांसे मुलाकात न हो तो भी वह रह सकता है। वह मांकी सेवा करता है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे मांका बिछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर मांको बड़ा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। इस तरहके दो लड़कोंके बारेमें मांसे प्रश्न पूछिए—"हे माता, इन दो लड़कोंमें से सिर्फ एक ही लड़का आपको दिया जायगा, आप जो चाहें पसन्द करें?" तो वह क्या उत्तर देगी। किस लड़केको वह पसन्द करेगी? क्या वह दोनों लड़कोंको तराजूमें रखकर उनको तौलेगी? माता की भूमिकापर गौर कीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा? वह निरुपाय होकर कहेगी—"यदि बिछोह ही होना है तो बड़े लड़केको ले जाओ। उसकी जुदाई मैं बर्दाश्त कर लूंगी।" छोटे लड़केको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नहीं हटने देगी। छोटे लड़केके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह इस तरहका कोई जवाब देगी कि "बड़ा दूर गया तो हर्ज नहीं।" परन्तु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह जवाब नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ जवाब देना ही था, इसलिए कुछ शब्द उसके मुंहसे निकल गये। परन्तु उन

शब्दोंके पेटमें घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगेंगे तो वह उचित न होगा।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस मांको दुविधा होगी ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्‌के मनकी हो गई है। अर्जुन कहता है—"भगवन्, दो तरहके भक्त आपके हैं। एक आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका सतत स्मरण करता है। उसकी आंखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पांव आपकी सेवा पूजाके लिए उत्कंठित। दूसरा है स्वावलंबी, इंद्रियोंको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूत-हितमें मग्न, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवामें ऐसा रत कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइए कि इन दोनोंमें आपका प्रिय भक्त कौनसा है ? अर्जुनका भगवान्‌से यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस मांने जवाब दिया था, हूबहू उसी तरह भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया है—"वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती—भक्त भी मेरा ही है।" इस तरह भगवान् दुविधामें पड़ गये हैं—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरशः दोनों भक्त एक-रूप हैं। दोनोंकी योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादाका अतिक्रमण करना है। पांचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भक्तिके संबंधमें पूछा है। पांचवें अध्यायमें कर्म व विकर्मकी सहायता से मनुष्य अकर्म दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोंमें प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते रहते हुए भी लेश-मात्र भी कर्म नहीं करता, व दूसरा चौबीस घंटे में एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनिया-भरकी उखाड़-पछाड़ करता है। इन दो रूपों में अकर्म-दशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? किसी वर्तुलके एक पहलूसे दूसरे पहलूकी तुलना कीजिए—एक ही वर्तुलके दो पहलू—इनकी तुलना करें कैसे ? दोनों पहलू एक-सी योग्यता—गुण रखते हैं, एक ही रूप हैं। अकर्म भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्‌ने एकको संन्यास व दूसरेको योग कहा है। शब्द भले ही दो हों, पर अर्थ एक ही है। संन्यास व योग, दोनों का हल आखिर सरलता, सुगमताके आधारपर ही

किया है । सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है । एक सगुण भक्त, इंद्रियों के द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है । दूसरा, निर्गुण भक्त, मनसे विश्वके हितकी चिन्ता करता है । पहला बाह्य सेवामें मग्न दिखाई देता है, परन्तु भीतरसे उसका चिन्तन सतत जारी ही है । दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परन्तु भीतरसे उसकी महासेवा चल ही रही है । इस प्रकारके इन दो भक्तोंमें अब श्रेष्ठ कौनसा ? रात-दिन कर्म करके भी लेश-मात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है । निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चिन्तन, सबकी चिन्ता करता है । ये दोनों भक्त भीतरसे एक रूप ही हैं, अलबत्ते बाहरसे भिन्न दिखाई देते हैं । परन्तु दोनों हैं एकसे ही, दोनों भगवान्‌के प्यारे हैं । फिर भी इनमें सगुण भक्ति ज्यादा सुलभ है । इस तरह भगवान्‌ने जो उत्तर पांचवें अध्यायमें दिया, वही यहां भी दिया है ।

(६१)

सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे काम लिया जा सकता है । इंद्रियां या तो साधन हैं, या विघ्न-रूप हैं, या दोनों हैं । वे मारक हैं या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलंबित है । मान लो कि किसीकी मां मृत्यु-शैय्यापर पड़ी हुई है, व वह अपनी मांसे मिलना चाहता है । रास्ता दूर—पन्द्रह मीलका है । उसपर मोटर नहीं जा सकती । टूटी-फूटी पगडंडी है । ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा "कहांका यह अभद्र मार्ग बीचमें आगया, नहीं तो मैं कबका मांसे ज़ाकर मिल लेता !" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है । किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है । वह रास्तोंको कोस रहा है; परन्तु मांको देखनेके लिए उसे हर हालतमें जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है । रास्तेको शत्रु समझकर वह वहीं नीचे बैठ जायगा तो फिर उस दुश्मन-से लगनेवाले रास्तेकी विजय हो जायगी । वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है । दूसरा व्यक्ति कहता है—"इस भारी जंगलमें भी इतना रास्ता तो किसी तरह बना हुआ है ही । यही गनीमत है । किसी तरह मांतक जा पहुंचूंगा । यह न होता तो इस दुर्गम पहाड़ परसे कैसे आगे जा

पाता ?" यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजी-से आगे कदम बढ़ाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अन्तर टालनेवाला कहिये या कम करनेवाला कहिये जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है, या साधनरूप, यह तो मनुष्यकी अपनी-अपनी मनोभमिका या दृष्टि जैसी कुछ हो, उसपर अवलंबित है। यही बात इंद्रियोंकी है। वे विघ्न-रूप हैं या साधक हैं, यह आपकी अपनी दृष्टिपर अवलंबित है।

सगुण उपासकके लिए इंद्रियां एक साधन हैं। इंद्रियां मानो फूल हैं जिन्हें उसे परमात्माको चढ़ाना है। आंखोंसे हरिका रूप देखें, कानोंसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पांवसे तीर्थ-यात्रा करें, हाथोंसे सेवा-कार्य करें, इस तरह समस्त इंद्रियोंको वह परमेश्वरके अर्पण कर देता है। इंद्रियां भोगके लिए नहीं रह जातीं। फूल तो भगवान्‌पर चढ़ानेके लिए होते हैं। फूलकी माला खुद अपने गले में डालनेके लिए नहीं होती। इसी तरह इंद्रियोंका उपयोग ईश्वरकी सेवामें किया जाय। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि; परन्तु निर्गुणोपासकको इंद्रियां विघ्न-रूप मालूम होती हैं। वह उन्हें संयममें रखता है। बन्द करके रखता है, उनका खाना बन्द कर देता है, उनपर पहरा बिठा देता है। परन्तु सगुणोपासकको यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। वह सब इंद्रियोंको हरिचरणोंमें चढ़ा देता है ये दोनों विधियां इंद्रिय-निग्रहकी ही हैं—इंद्रिय-दमनके ही ये दोनों प्रकार हैं। आप किसी भी विधिको लेकर चलिए, परन्तु इंद्रियोंको अपने काबूमें रखिये—ध्येय दोनोंका एक ही है—उन्हें विषयोंमें न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी मुश्किल है।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता है। यह कोई मामूली बात नहीं है। 'सारे विश्वका कल्याण करना' कहनेमें आसान है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिन्ता है वह उस चिन्तनके सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए निर्गुण-उपासना कठिन कही गई है। सगुण उपासना अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटे-से-देहातकी, जहां हमारा

जन्म हुआ, सेवा करना, अथवा मां-बापकी सेवा करना सगुण पूजा है। बस इसमें इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत्के हितकी विरोधक न हो। आपकी सेवा कितनी छोटी क्यों न हो, वह यदि दूसरोंके हितमें बाधा न डालती हो तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुंच जायगी, नहीं तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। हमारे मां-बाप हों, दुखी बन्धु-बांधव हों, साधु-संत हों, इन्हें परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन प्रत्येकमें परमेश्वरकी मूर्त्तिकी कल्पना करके संतोष मानो। यह सगुणपूजा सुलभ है; परन्तु निर्गुणपूजा कहीं कठिन है। यों दोनोंका अर्थ—सार एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस।

सुलभता के अलावा एक और मुद्दा भी है। निर्गुण उपासनामें भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें जरा खतरा है। एक समय ऐसा था जब ज्ञानपर मैं अधिक निर्भर था; परन्तु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नहीं चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है; परन्तु सूक्ष्म मैलको मिटानेका सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलंबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनों को ले लीजिए, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नहीं मिट सकते। भक्ति-रूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नहीं धुल सकते। भक्ति-रूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलंबन कह दीजिए। परन्तु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए व उसका अवलंबन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। पर-परमात्माका सहारा लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नहीं होते।

कोई यह कहेंगे कि यहां 'ज्ञान' शब्द का अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि ज्ञानसे चित्तके मैल नहीं धुल सकते तो, मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हूं, कि फिर ज्ञानका दर्जा कम हो जाता है; परन्तु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इस देहमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, कुछ कम असल, विकृत ही रहेगा। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित

ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका हृदय हो गया तो उससे सारे मैल भस्म हो जायेंगे, इसमें मुझे तिल-मात्र संदेह नहीं है। चित्त-सहित सारे मलोंको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य ज्ञानमें है; परन्तु इस विकारवान् देहमें ज्ञान-का बल कम पड़ता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलोंका मिटना शक्य नहीं है। अतः भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मलोंको मिर्मूल नहीं किया जा सकता। इसीलिए भक्तिमें मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी तरफका समझ लीजिए। सगुण भक्ति सुलभ है। इसमें परमेश्वरावलंबन । निर्गुणमें स्वावलंबन है। इसमें 'स्व'का भी क्या अर्थ है ? "अपने अन्तस्थ परमात्माका आधार"—यही उस स्वाव-लंबनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलंबनसे, अर्थात् आंतरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। सारांश, निर्गुण भक्तिके स्वावलंबनमें भी आत्माका ही आधार है।

(६२)

जैसे सगुण उपासनाके पक्षमें मैंने सुलभता व सुरक्षितता-रूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी मैं डाल सकता हूं। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। जैसे हम भिन्न-भिन्न कामोंके लिए, सेवाके लिए संस्था स्थापित करते हैं। संस्थाएं जो स्थापित होती हैं, सो पहले व्यक्तियोंके कारण; वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। संस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जायगा, वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठ न रह कर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो उसे स्फूर्त्ति देनेवाले व्यक्तिके लोप होते ही उस संस्थामें अंधेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूं। चरखेकी माल टूटते ही सतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत भी लपेटना कठिन होता है। वैसी ही दशा उस व्यक्तिका आधार टूटते ही संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्व-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर ऐसा नहीं हो सकता। सगुणको निर्गुणकी मदद चाहिए। कभी-

न-कभी तो व्यक्तिसे—आकारसे—निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयसे—शंकरके जटाजूटसे निकली, परन्तु वहीं नहीं थम गई। उस जटाजूटसे निकलकर वह हिमालयकी गिरि-कंदराओं, घाटियों, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल, छल-छल बहती हुई जब आई तभी वह विश्व-जनोंके काम आ सकी। इस प्रकार संस्थाको व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्त्वके मजबूत खंभोंपर खड़ा रहनेके लिए तैयार रहना चाहिए। जब मकानमें कमान बनाते हैं तो पहले उसे सहारा लगाते हैं, परन्तु बादमें उसे निकालना होता है। उस सहारेके निकाल डालनेपर जब कमान टिक रहती है, तभी समझा जाता है कि वह आधार सही था। इसी परह पहले स्फूर्त्तिका प्रवाह सगुणमें-से चला तो ठीक, परन्तु अन्तमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका उदय होना चाहिए। भक्ति-रूपी लतामें ज्ञानके फूल लगने चाहिए।

बुद्धदेवके ध्यानमें यह बात आ गई थी। इसलिए उन्होंने तीन प्रकार-की निष्ठाएं बताई हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो तो भी उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो तो कम-से-कम संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पन्द्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमें अनबन होने लगेगी, झगड़े-टंटे शुरू हो जायंगे। व्यक्ति-शरणता जाकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बुद्ध-धर्ममें तीन शरणताएँ बताई गई हैं:—

"बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि।"

प्रथम व्यक्तिके प्रति, फिर संघके प्रति प्रीति; परन्तु ये दोनों निष्ठाएं कमजोर ही हैं। अतः जब अन्तमें सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होगी, तभी संस्था टिकेगी और तभी लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्त्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सदोष हो जाता है। निर्गुणकी मर्यादा सगणको समतौल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

क्या हिन्दू, क्या ईसाई व क्या इस्लाम इत्यादि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्त्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जेकी मानी गई हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परन्तु जबतक मूर्त्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामें रहती है, तभीतक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। सारे धर्मोंके सगुण निर्गुण-रूपी मर्यादाके अभावमें अवनतिको प्राप्त हो गये हैं। पहले यज्ञ-याग में पशु-हत्या होती थी। आज भी शाक्त देवीको बलि चढ़ाते हैं। यह मूर्त्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोड़कर मूर्त्ति-पूजा गलत दिशामें चली गई। पर यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहे तो फिर यह अन्देशा नहीं रहता।

(६३)

सगुण सुलभ व सुरक्षित है; परन्तु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणकी बढ़ती होकर उसमें निर्गुण-रूपी, तत्त्वनिष्ठा-रूपी फूलकी बहार आनी चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरुद्ध नहीं। सगुणसे निर्गुणतककी मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनोंकी एक-दूसरेसे शोभा है। यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमें बड़े उत्तम ढंगसे दिखाई गई है। अयोध्याकांडमें दोनों भक्तियोंके प्रकार आ गये हैं। इन्हीं दो भक्तियोंका विस्तार रामायणम है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी व लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण भक्ति व सगुण भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायगा।

राम जब वनवासके लिए जाने लगे तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नहीं थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मैं वनको जा रहा हूं। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घरपर रहो। मेरे साथ चलकर अपने दुःखी माता-पिताको अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी व प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे तो मैं निश्चिन्त रहूंगा। बतौर मेरे प्रतिनिधिके तुम रहो। मैं वनमें जा रहा हूं, इसका

अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हूं। बल्कि ऋषियोंके आश्रमोंमें जा रहा हूं।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे; परन्तु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें चटसे एक ही शब्दमें उड़ा दीं। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं—"आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताई है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परन्तु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हूं।"

"दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई।
लागि अगम अपनी कदराई॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीति के ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेंहि मराला॥"

"हंस क्या मेरु मंदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मैं तो आज-तक आपके प्रेमसे पोषित हुआ हूं। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मैं तो अभी बालक हूं।" यह कह लक्ष्मणने सारी बात ही खतम कर दी।

मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वैसे ही लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेका बल उसमें नहीं था। उसके रोम-रोममें सहानु-भूति भरी थी। राम सो जायं, तब भी खुद जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमें उसे आनन्द मालूम होता था। हमारी आंखपर कोई कंकर मारे तो जैसे फौरन हाथ उठकर आंखपर आ जाता है व कंकरकी मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टांत दिया है। झंडा ऊंचा फहराता रहता है। गान-वन्दना सब झंडेकी करते हैं। उसके रंग-आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परन्तु उस सीधे खड़े डंडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका उड़ रही है, उसका दंडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना

खड़ा रहता। झंडेका डंडा कभी झुक नहीं सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मण-रूपी डंडा कभी झुका नहीं। यश किसका? तो रामका! संसारको पताका दीखती है। डंडेको कोई नहीं गिनता। शिखर दीखता है, नींव—पाया किसीको नहीं। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परन्तु लक्ष्मणका कहीं पता नहीं। चौदह सालतक यह दंड सीधा ही तना रहा, जरा भी नहीं झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बड़े-बड़े दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको बनमें छोड़नेका काम अन्तको लक्ष्मणको ही सौंपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीता को पहुंचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह गया था। रामकी आंखें, रामके हाथ-पांव, रामका मन वह बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गई थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदास ने खूब खींचा है। जब राम वनको गये तब भरत अयोध्यामें नहीं था। जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे कि तुम राज करो। पर भरतने कहा—"मुझे रामसे मिलना है।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छटपटा रहा था; परन्तु साथ ही राजका प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, उसका प्रबंध करना रामका ही काम करना है। सारी संपत्ति मालिककी है, सिर्फ उसका इन्तजाम करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है—रामका काम करना चाहिए, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने वनमें आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप—" इतना ज्योंही वह कहता है, त्योंही राम उससे कहते हैं—"भरत, तुम्हीं राज करो।" भरत संकोचसे खड़ा हो जाता है। वह कहता है—"आपकी आज्ञा सिर आंखोंपर।" राम जो कहें वह मंजूर। उसने अपना सब कुछ रामपर निछावर कर रक्खा था। वह जाकर राज-काज करते

लगा। परन्तु उसमें भी तारीफ यह कि अयोध्यासे दो मील दूर तप करते हुए रहा। तपस्वी रहकर राज-काज चलाया। अन्तको राम जब भरतसे मिले हैं तब यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि इनमें बनमें रहकर तप करनेवाला वास्तविक तपस्वी कौन है? दोनोंके एकसे चेहरे, थोड़ा उम्रमें फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्या, दोनोंको देखकर पहचान नहीं पाते कि इनमें राम कौन व भरत कौन। यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले तो वह कितना पावन चित्र होगा? इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षण भरके लिए भी दूर नहीं था। यद्यपि एक ओर वह राज-काज कर रहा था तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहां वियोगकी भाषा मुंहसे निकले ही कैसे? इसलिए भरतको रामका वियोग नहीं मालूम था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

आजकल के युवक कहते हैं—'रामका नाम, रामकी भक्ति, रामकी उपासना—ये सब हमारी समझमें नहीं आते। हम तो भगवान्‌का काम करेंगे।' तो भगवान्‌का काम कैसे करना चाहिए। इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्‌का काम करके भरतने वियोग को आत्मसात् किया है। भगवान्‌का काम करते हुए भगवान्‌के वियोगका अनुभव करने जितना भी समय न रहना एक बात है, व जिसका भगवान्‌से कुछ देना-लेना नहीं, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवान्‌का कार्य करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करनेकी थी, तो भी वहां सगुणका आधार टूट नहीं गया था। "प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कुछ कहेंगे उसमें मुझे संदेह न होगा।" ऐसा कहकर भरत ज्योंही लौटने लगा, तो पीछे फिरकर रामकी ओर देखा, कहा—"भगवन्, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला-हुआ-सा मालूम होता है।" रामने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—"यह पादुका ले जाओ।" अन्तको सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अन्तमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुका लेनेसे समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछ पीकर मिटाने जैसा हो गया होता।

भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। वह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था तो भी उसे पादुकाकी आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभावमें वह राजकाज नहीं कर सकता था। उन पादुकाकी आज्ञाके रूपमें वह अपना कर्त्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा रामका भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनोंकी भूमिकाएँ बाहरसे भिन्न-भिन्न थीं। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

(६४)

हरिभक्ति-रूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे वार-बार कहा है—"मय्यासक्तमनाः पार्थ" अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख, मेरे रसका सहारा ले व फिर कर्म करता रह। जिस भगवद् गीता को 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, रागद्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो, 'अनासक्ति', 'निःसंगता' जिसका ध्रुपद या पालुपद ह, वही कहती है—"अर्जुन, मुझमें आसक्ति रखो।" पर यहां याद रखना चाहिए कि भगवान् में आसक्ति रखना बड़ी ऊंची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति नहीं है। सगुण व निर्गुण दोनों एक दूसरेमें उलझे हुए हैं। सगुण निर्गुणका आधार निःशेष नहीं कर सकता। व निर्गुणको सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्तव्य कर्म करता है वह उस कर्म-रूप में पूजा ही कर रहा है; परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। **'मामनुस्मर युद्ध्य च।'** मेरा स्मरण रखके कर्म करो। कर्म खुद भी एक पूजा ही है, परन्तु मनमें भावना सजीव रहनी चाहिए। महज फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना, पूजाका एक प्रकार है, सत्कर्मों द्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है। परन्तु दोनोंमें भावना रूपी रस आवश्यक है। फूल चढ़ा दिये पर भावना मनमें नहीं है तो वे फूल मानो पत्थरपर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण व निर्गुण, कर्म व प्रीति,

ज्ञान व भक्ति, ये सब चीजें एक रूप ही हैं। दोनोंका अन्तिम अनुभव एक ही है।

उद्धव व अर्जुनकी बात लो। रामायणसे मैं एकदम महाभारतमें आ कूदा। इसका मुझे अधिकार भी है। क्योंकि राम व कृष्ण दोनों एक-रूप ही हैं। जैसे भरत व लक्ष्मण, वैसे उद्धव व अर्जुन हैं। जहां कृष्ण, वहां उद्धव मौजूद ही हैं। उद्धवको कृष्णका क्षणभर का वियोग सहन नहीं हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामें निमग्न रहता है। कृष्णके विना सारा संसार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्णका सखा था। परन्तु वह दूर दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था। परन्तु कृष्ण द्वारकामें, तो अर्जुन हस्तिनापुरमें। ऐसा दोनोंका सम्बन्ध था। जब कृष्णको देह छोड़नेकी आवश्यकता मालूम हुई तो उन्होंने उद्धवसे कहा—"ऊधो, अब मैं जा रहा हूं।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलोगे? हम दोनों साथ ही चलेंगे।" परन्तु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसन्द नहीं। सूर्य अपना तेज अग्निमें रख जाता है। उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझमें छोड़ जाता हूँ।" इस तरह भगवान्ने अन्त-कालीन व्यवस्था की व उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये; किन्तु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ। मानों कुछ हुआ ही नहीं। 'गुरु मरा तो चेला रोया—दोनोंने बोध व्यर्थ खोया।' ऐसा हाल उनका नहीं था। मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने सारे जीवन भर सगुण उपासना की थी। परमेश्वरके पास ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनन्द होने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मंजिल तय करनी पड़ी। सगुण पहले, परन्तु उसके बाद निर्गुणकी सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था? अपने बाद सब स्त्रियोंकी रक्षाका भार उन्होंने अर्जुनपर सौंपा था। अर्जुन दिल्लीसे आया व द्वारकासे श्रीकृष्णको स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमें हिसारके पास पंजाबके चोरोंने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय अकेला ही नर कहलाता था, उत्कृष्ट वीरके नामसे

प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था, व इसलिए 'जय' नामसे ही मशहूर हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकरसे मुकाबला किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका बड़ा असर उसके मनपर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया व केवल निस्त्राण व निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। मतलब यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अंतमें यह वियोग दुःसह व भारी हो गया। उसके निर्गुणको अन्तमें वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो खतम हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। सारांश, सगुणको निर्गुणमें जाना पड़ता है व निगणको सगुणमें जाना पड़ता है। इस तरह दोनोंमें एक दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

(६५)

इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक व निर्गुण-उपासकमें क्या भेद है तो वाणीकी गति कुंठित हो जाती है। सगुण व निर्गुण अन्तमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे निकला हो तो भी अन्तमें वह निर्गुणतक जा पहुंचता है। पुरानी बात है। मैं वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मालाबारके किनारे शंकराचार्यका जन्म-ग्राम है; यह भूगोलकी बात मैंने ध्यानमें रखी थी। जिधर होकर मैं जा रहा था वहीं कहीं पासमें भगवान् शंकराचार्यका कालड़ी ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा व मैंने साथके मलयाली व्यक्तिसे पूछा। उसने कहा— यहांसे १०–१२ मील पर ही वह है। आप जाना चाहते हैं क्या ? मैंने इन्कार कर दिया। मैं जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कहीं जाना उचित न जान पड़ा व उस समय उस गांवको देखनेके लिए न गया। मुझे अब भी ऐसा लगता है कि ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया है। परन्तु रातको जब मैं सोने लगा तो वह कालड़ी गांव, शंकराचार्यकी वह मूर्ति, मेरी आंखोंके सामने बार-बार आने लगती। मेरी नींद उड़ जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ज्यों-का-त्यों हो रहा है। शंकराचार्यका वह ज्ञानका प्रभाव, उनकी वह दिव्य

अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक व ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा व मुझपर हुए उनके अनंत उपकार—इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगी। रातको ये सब भाव सामने खड़े हो जाते। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह निर्गुणमें सगुण कैसे लबालब भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना प्रेम नहीं होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष गहरा भरा हुआ है। मैं प्रायः अधिक कुशलपत्र वगैरा नहीं लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखनेपर भी भीतरसे उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण व निर्गुण दोनों एक-रूप ही हैं। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, प्रकट रूपसे सेवा करना, व भीतरसे, सतत संसारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया न दिखाई देना—इन दोनोंका समान मूल्य व महत्त्व है।

(६६)

अंतमें मुझे कहना यह है कि सगुण क्या, व निर्गुण क्या, इसका निश्चय करना भी आसान नहीं है। एक दृष्टिसे जो सगुण है वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण ठहर सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवान् की कल्पना कर लेते हैं। हमारी मातामें, व संतोंमें भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकटित हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमें परमात्मा मानकर पूजा नहीं करते। ये चैतन्यमय लोक सबको दिखाई देते हैं। अतः उनकी सेवा करनी चाहिए, उनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिएं; परन्तु ऐसा न करके लोग पत्थरमें परमेश्वर देखते हैं। अब एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, मां-बाप, पड़ौसी, इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकारबुद्धि व्यक्त हुई है। उनमें ईश्वर मानना तो सरल है। परन्तु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके कंकरको हम शंकर मानते हैं। यह क्या निर्गुण-पूजा नहीं है? बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाय तो फिर कहां की जाय?

भगवान्‌की मूर्ति होनेके लायक वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शांत है। अंधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा-का-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकारी पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। मां-बाप, जनता, अड़ौसी-पड़ौसी ये सब विकारसे युक्त हैं। अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरको पूजा करनेकी बनिस्बत उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

मतलब यह कि सगुण निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है। परन्तु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है, व निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पांचवें अध्यायमें जैसा बताया है, चौबीसों घंटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला व चौबीसों घंटे कुछ भी कर्म न करके सर्व-कर्म-कर्त्ता ऐसे योगी व संन्यासी दोनों एक-रूप ही हैं, वैसे ही यहां भी है। सगुण कर्म-दशा व निर्गुण संन्यास-योग दोनों एक रूप ही हैं। संन्यास श्रेष्ठ है या योग—इसका उत्तर देनेमें जैसे भगवान्‌को कठिनाई पड़ी वैसे ही दिक्कत यहां भी हुई है। अंतमें सुलभता व कठिनताके तारतम्यसे उत्तर देना पड़ा है। नहीं तो क्या योग व क्या संन्यास, क्या सगुण व क्या निर्गुण, दोनों एकरूप ही हैं। अन्तमें भगवान् कहते हैं—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर मत रहो।" यह कहकर अन्तमें भक्तके लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परन्तु हमें उसकी माधुरी-को चखनेका अवसर नहीं मिला। किन्तु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमें कल्पनाकी जरूरत नहीं है। इन लक्षणोंको हम अनुभव करें। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण, स्थित-प्रज्ञके लक्षणोंकी तरह, हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए व उन्हें थोड़ा-थोड़ा अपने जीवनमें लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-३२

तेरहवां अध्याय

(६७)

व्यासदेवने अपन जीवनका सार भगवद्गीतामें डाल दिया है। उन्होंने विस्तार-पूर्वक दूसरा भी बहुत-कुछ लिखा है। अकेली महाभारत संहिता ही लाख सवालाखकी है। संस्कृतमें व्यास-शब्द का अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है। परंतु भगवद्गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धांत बता दिये हैं, तत्त्व दिखला दिये हैं, उसी प्रकार जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें व्यासदेव एकके बाद एक लिख रहे हैं। भगवद्गीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गई हैं, उनको प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें जांच-पड़ताल सकता है; बल्कि वे इसलिए कही गई हैं कि लोग उन्हें जांच-पड़ताल सकें। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी हैं उतनी ही गीतामें कही गई हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए उन्होंने थोड़ेमें तत्त्व बताकर संतोष मान लिया है। उनकी इस संतोष-वृत्तिमें उनका सत्य तथा आत्मानुभव-संबंधी महान् विश्वास हम दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है उसके समर्थनके लिए अधिक युक्ति काममें लानेकी जरूरत नहीं रहती।

हम जो गीताकी तरफ दृष्टि लगाये रहते हैं उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें हमें जब-जब कुछ सहायताकी, सहारेकी आवश्यकता मालूम हो तब-तब वह गीतासे हमें मिलती रहे। और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता एक जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनका बड़ा पाया अगर कोई है तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणपर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा, इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणको गीतामें 'कर्म' कहा है। इस स्वधर्मा-

चरण-रूप कर्मके इर्द-गिर्द गीतामें बहुतेरी चीजें खड़ी की गई हैं। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गए हैं। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुंदर बनानेके लिए, उसे सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोंकी और मददकी जरूरत है वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अबतक ऐसी बहुतेरी चीज़ें हमने देखीं। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थीं। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है वह भी स्वधर्माचरणमें बहुत उपयोगी है। उसका संबंध है विचार-पक्षसे।

गीतामें यह बात प्रधान-रूपसे सर्वत्र कही गई है कि स्वधर्माचरणीको फलका त्याग करना चाहिए। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड़ दें। पेड़को पानी पिलाओ, उसकी परवरिश करो; परन्तु उसकी छायाकी, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरण-रूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ महज इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नहीं है; परन्तु स्वधर्माचरण रूप कर्म—कोरा कर्म नहीं—भलीभांति करके उसका फल छोड़ देना। यह बात कहनेमें, समझनेमें बड़ी सरल मालूम होती है, परन्तु पालनमें कठिन है; क्योंकि किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही फल-वासना मानी गई है। फल-वासनाको छोड़कर कर्म करना उलटा पंथ है। व्यवहार या संसारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो कोई बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोग-मय है, ऐसा हम कहते हैं; परन्तु इस प्रयोगमें भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार यह कर्मयोग नहीं है, लाखों कर्म करनेवालोंमें, केवल कर्म ही नहीं बल्कि स्वधर्माचरण-रूप कर्म करनेवाले लाखों लोगोंमें भी गीताका कर्मयोग आचरनेवाला बिरला ही मिलेगा। कर्मयोगके सूक्ष्म व सच्चे अर्थमें देखा जाय तो ऐसा सपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कहीं मिले। कर्म तो करना, परन्तु उसके फलको छोड़ देना बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करं और उसके फलकी

आसक्ति छोड़दें', इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह व आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमें उपस्थित किया गया है। आंखोंसे हम जिस रूपको देखते हैं, उसे हम मूर्त्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्तिका परिचय हमारी आंखोंको हो गया तो भी वस्तुके अंतरंगमें हमें प्रवेश करना पड़ता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पड़ता है। नारियलको भी फोड़कर ही भीतरसे देखना पड़ता है। कटहलपर कांटे लगे रहते हैं, तो भी भीतर बढ़िया व रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोंकी ओर, यह भीतर व बाहरका पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुका भीतरी गूदा व बाहरी रूप इसका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह व भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यही बात है। बाहरी फल कर्मका देह है। और कर्मके बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है वह उस कर्मकी आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फल-रूप देह छोड़कर भीतरी चित्त-शुद्धि-रूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें समा लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सार-ग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आंखोंको, मनको, विचारोंको ऐसी तालीम, आदत, अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। हमारे विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

(६८)

यह सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल लें तो कितना अच्छा हो ! यह विषय हजम कर लेने जैसा—यह दृष्टि अंगीकार करने जैसी है। बहुतोंको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई संबंध नहीं ! कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई संबंध हो भी तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके तो वह बड़ी खुशीकी बात होगी। यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। आज-

कल कुशिक्षणके फलस्वरूप बड़े-बुरे संस्कार बच्चोंके मनपर पड़ रहे हैं। 'मैं केवल देहरूप हूं', इसके बाहर यह शिक्षण हमें लाता ही नहीं। सब देहके ही चोचले चल रहे हैं; किंतु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गई है। इस तरह देहकी मूर्ति-पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

बल्कि ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कहीं पांवमें ठोकर लग गई तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतने भरसे काम निपट जाता है, या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत नहीं मालूम होती। थोड़ी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह परवाह भी नहीं करेगा; परन्तु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नहीं चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर पुचकारकर कहेगा—"अच्छा, चोट लग गई! कैसे लगी, कहां लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून निकल आया।" ऐसा कहकर वह, बच्चा न रोता हो तो उलटा उसे रुला देते हैं। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेके इन लक्षणोंके लिए अब क्या कहा जाय? उन्हें, कूद-फांद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पड़ोगे, चोट लग जायगी, आदि देहपर ही ध्यान देनेवाला एकांगी शिक्षण दिया जाता है।

अच्छा, बच्चेका यदि लाड़-प्यार भी करना हो तो वह भी उसके देह-पक्षको लेकर ही। उसकी निन्दा भी देहपक्षको ही लेकर करते हैं। 'कैसा गंदा है रे'—कहते हैं। इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है, यहां गंदगी है यह सही है और उसे साफ करना चाहिए यह भी सही है, लेकिन इस गंदगीको अनायास साफ न करके उस बच्चेपर कितना आघात किया जाता है? बच्चा उसे सहन नहीं कर सकता। वह बड़ा दुःखी हो जाता है। उसके अंतरंगमें, आत्मामें स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गंदे रहनेका यह कितना वृथा आरोप! वास्तवमें वह लड़का गंदा नहीं है; बल्कि जो अत्यंत सुंदर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है; परन्तु उसे कहते हैं गंदा।

उस गन्दगीसे उसका लेना-देना क्या है ? बच्चेको इसका पता भी नहीं चलता । और इसीलिए वह इस आघातको सहन नहीं कर पाता। उसके चित्तमें क्षोभ होता है और जब क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तो फिर सुधार नहीं हो सकता । अतः उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए ।

इसके विपरीत कृति करके उस लड़केके मनपर यह अंकित करते हैं कि वह देह है । शिक्षण-शास्त्रमें यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त समझना चाहिए । गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हूं वह सर्वांग सुन्दर है । हिसाबमें, सवालमें भूल हो गई तो गालपर चांटा लगाते हैं । अब उस चाँटेसे व सवालके भूलनेसे क्या सम्बन्ध ? मदरसेमें देरसे आया तो लगाया चांटा । इससे उसके चेहरेपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह जल्दी आयेगा ? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं ? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशुताको ही बढ़ाते हैं । 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते हैं । उसका जीवन भयकी भीतपर खड़ा कर रहे हैं । सचमुच यदि हमें सुधार करना है तो वह इस तरह ज़बरदस्ती करके देहासक्ति बढ़ानेसे कभी नहीं हो सकता । जब मैं यह समझ लूंगा कि मैं देहसे भिन्न हूं, तभी मेरा सुधार हो सकेगा ।

देहमें अथवा मनमें स्थित किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नहीं । इससे उस दोषको दूर करनेमें सहायता मिलती है । परन्तु हमें यह बात साफ-तौरसे मालूम रहनी चाहिए कि मैं देह नहीं हूं । 'मैं' जो हूं सो इस देहसे बिलकुल भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर, उज्ज्वल, त्रुटि-रहित हूं । अपने दोषोंको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षा करता है वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ऐसा करता है । अतः जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो वह बुरा नहीं मानता, गुस्सा नहीं होता । बल्कि इस शरीर-रूपी, इस मनोरूपी-यन्त्रमें क्या दोष है, इसका विचार करके दोष दूर करता है । इसके विपरीत जो देहको अपनेसे जुदा नहीं मानता वह सुधार कर ही नहीं सकता । यह देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं— ऐसा जो मानेगा वह अपना सुधार कैसे करेगा ? सुधार तभी हो सकेगा

जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधन-रूपमें मुझे मिला है। चरखे-में यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई कमी होती है तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी समझिए। जैसे खेतीके औजार वैसे ही यह देह समझो। यह देह भग-वान्‌के घरकी खेती करनेका एक औज़ार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधन के रूपमें प्रस्तुत है। अतः इस देहसे अपनेको अलहदा रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देहरूपी साधन से मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना जाग्रत करनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले त्रयस्थ या तटस्थ जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं—"इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइये न?" जब मनुष्य ऐसा कहता है तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गई है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है पर कोई खुद नहीं खो जाता। अन्तमें मरते समय भी उसका देह ही सब तरहसे नष्ट होता है, बेकार हो जाता है, वह खुद तो भीतरसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह निर्दोष निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने जैसी है और यदि समझमें आ जाय तो इससे बहुतेरी झंझटों व उलझनोंसे छुटकारा हो जायगा।

(६९)

देह ही 'मैं' हूं, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फलस्वरूप मनुष्यने बिना विचारे ही देहपुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है।

मनुष्यकी यही धारणा सतत रहती है कि यह देह पुराना हो गया, जीर्ण-शीर्ण हो गया तो भी येन-केन प्रकारेण इसे टिका ही रखना चाहिए। परन्तु आखिर इस देहको, इस छिलकेको आप कबतक टिका रक्खेंगे ? मरनेतक ही। जब मौतका वारंट आ जायगा तो क्षणभर भी देह कायम नहीं रख सकते। मौतके आगे सारा गर्व ठण्डा हो जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। अब कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मांस खानेमें कोई हर्ज नहीं है। मानो मनुष्यका देह बड़ा ही कीमती है जो उसे बचानेके लिए मांस खावें। पशुकी देह कीमतमें कम है। सो क्यों ? मनुष्य-देह क्यों कीमती हुआ ? क्या कारण है ? अरे, पशु जो चाहे खा सकते हैं, सिवा स्वार्थके उन्हें दूसरा कोई विचार ही नहीं आता ! मनुष्यकी बात ऐसी नहीं। मनुष्य अपने आस-पासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अतः मनुष्य देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है। परन्तु जिस कारणसे मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई उसीको हम मांस खाकर नष्ट कर देते हैं। भले आदमी, तुम्हारा बड़प्पन तो इसी बातपर अवलम्बित है न, कि तुम संयमसे रहते हो, दूसरे जीवोंकी रक्षा-भलाईके लिए उद्योग करते हो, अपनी सार-संभाल रखनेकी भावना तुममें है ? पशुसे भिन्न जो कुछ यह विशेषता तुममें है उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है, इसीसे मानव-देहको दुर्लभ कहा गया है। परन्तु जिस आधारपर मनुष्य बड़ा—श्रेष्ठ हुआ है उसीको यदि वह उखाड़ने लगा तो फिर उसके बड़प्पनकी इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु जो अन्य प्राणियोंके मांस खाकर जीवित रहते हैं वही क्रिया यदि मनुष्य निःसंकोच करने लगे तो फिर उसके बड़प्पनका आधार ही खींच लेने जैसा होगा। यह तो वैसा ही है जैसा कि जिस डालपर मैं बैठा हूं उसीको काटनेका प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है। पशुको टोचकर उसके शरीरमें—उस जीवित पशुके शरीरमें—रोग-जंतु उत्पन्न करते हैं व देखते हैं कि उन रोगोंका उसपर क्या-क्या असर हुआ। सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग किया जाता है इस क्षुद्र मानव देहको बचानेके लिए ! और यह सब

चलता है भूत-दयाके नामपर। पशुके शरीरमें जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्यके शरीरमें टोंचते हैं! ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो एक कच्चे कांचकी तरह है, जो पल भरमें ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं किया जा सकता। यद्यपि मनुष्यके देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर भी अंतमें अनुभव क्या आता है? ज्यों-ज्यों इस नाज़ुक देहको संभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों उसका नाश अधिकाधिक होता जाता है। यह प्रतीति हमें होती रही है, फिर भी इस देहको मोटा-ताज़ा करनेका, इसकी महिमा बढ़ानेका, प्रयत्न जारी ही है।

हमारा ध्यान कभी इस बातकी तरफ नहीं जाता कि किस प्रकारका आहार करके बुद्धि सात्विक होगी। मनुष्य इस बातको बिलकुल ही नहीं देख रहा है कि मनको अच्छा बनानेके लिए, बुद्धिको निर्मल रखनेके लिए क्या करना चाहिए, किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसीकी चिंता करता दीखता है कि जमीन परकी मिट्टी उठकर उसके शरीरपर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लौंदे उसके शरीरपर कैसे थुप जायं। पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कंडा सूखनेपर, फिर नीचे गिर पड़ता है, उसी तरह शरीरपर चढ़ाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अंतको गल जाती है, व शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या, जो हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढ़ा लें, इतना वजन बढ़ा लें, कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके? शरीरको इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यों जाय? हां, यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः उसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यंत्रसे काम लेना चाहिए। कोई 'यंत्राभिमान' जैसा भी कहीं हो सकता है? फिर इस शरीर-रूपी यंत्रके संबंधमें भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें?

सारांश, यह देह साध्य नहीं, बल्कि एक साधन है। यदि यह भाव हमारा दृढ़ हो जाय, तो फिर शरीरका जो इतना तूमार बांधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमको और ही तरहसे दीखने लगेगा। फिर इस

देहको सजानेमें हमें गौरव अनुभव न होगा। सच पूछिए तो इस देहके लिए एक सादा कपड़ा हो तो काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुंदर छपाई हो, अच्छे किनारे-बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो, आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों? उस भगवान्‌को क्या अक्ल नहीं थी? यदि इस देहके लिए सुंदर बेल-बूटों व नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे शेरके शरीरपर उसने अपनी कारीगरीकी करामात दिखाई है, वैसे क्या तुम्हारे हमारे शरीरपर नहीं दिखा देता? उसके लिए क्या यह असंभव था? मोरकी तरह सुंदर पूंछ हमें भी लगा दे सकता था; परंतु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। जरा उसमें दाग पड़ जाता है तो उलटा उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुंदर है! परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय सृष्टिमें क्या सामान्य सौंदर्य है? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आंखोंसे इसको निहारता रहे; परन्तु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंगका शौक लगा! उसीकी बदौलत तुम परावलंबी हो गये। बिला वजह ही तुम इस शरीर श्रृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सिंगारना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुंदर बनाना तो एक तरफ ही रह गया!

(७०)

इसलिए भगवान्‌ने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' "तत् त्वमसि—वह आत्म-रूप तू ही है।" यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्‌गार है, पावन व उदात्त उच्चार है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान विचार समाविष्ट किया गया है—"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढांचा, तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल—गूदा—तू है।" जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं' यह भाव मनमें जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमें एक अननुभूत आनंद लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटानेका—नष्ट कर डालनेका

सामर्थ्य संसारकी किसी वस्तुमें नहीं। किसीमें भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गारमें समाया हुआ है।

इस देहसे परे अविनाशी व निष्कलंक जो आत्मतत्त्व है, सो मैं हूं। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरी तत्त्वके दूषित हो जानेकी संभावना होगी, तब-तब मैं उसको बचानेके लिए इस देहको फेंक दूंगा। परमेश्वरी तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूंगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हूं, सो क्या इसलिए कि अपनी फजीहत कराऊं? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका इस्तेमाल करूंगा व उसके द्वारा हित-मंगलकी वृद्धि करूंगा। 'भरूंगा आनंद त्रिलोकमें।' इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूंगा व ईश्वरका जय-जयकार करूंगा। रईस आदमी एक कपड़ेके मैले होते ही उसे फेंक देता है व दूसरा पहन लेता है, वैसे ही मैं भी करूंगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगा, उस समय उसे फेंक देनेमें मुझे क्या पसोपेश हो सकता है?

सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षण मिलता है। देह व आत्मा, ये अलग-अलग, चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी वास्तविक विकासकी शुरूआत होगी। उसी समय हमें सत्याग्रह सधेगा। अतः यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक इस भावनाको अपने हृदयमें अंकित कर लें। देह तो निमित्त-मात्र—साधन है, परमेश्वरका दिया एक औजार है। जिस दिन उसकी जरूरत खतम हो जायगी, उसी दिन इसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपड़े हम गर्मियोंमें फेंक देते हैं, रातको ओढ़े हुए कंबल सुबह हटा देते हैं, सुबहके कपड़े दोपहरको छोड़ देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो। जबतक देहका काम है, तबतक उसे रखेंगे, जिस दिन इससे काम न मिलेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमें बता रहे हैं।

(७१)

जबतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूं तबतक जालिम

लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें बंदा—गुलाम बनाते रहेंगे, हमको न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे। जुल्म भयके कारण ही शक्य हो सकता है। एक राक्षसने एक आदमीको पकड़ लिया था। वह उससे बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम नहीं करता तो राक्षस कहता—"खा जाऊंगा, तुझे खतम कर दूंगा।" शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहता, परंतु जब वह धमकी असह्य हो गई तो उसने कहा—"ले खा डाल, खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोड़े ही था। उसे तो एक बंदा—गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परन्तु ज्योंही यह जवाब मिला कि 'ले खा जा' तो उसका जुल्म बन्द हो गया। जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनके देहको जहां कष्ट पहुंचा नहीं कि ये गुलाम होकर दबकर बैठ जायंगे। परंतु जहां आपने देहकी आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट हो जायंगे, स्वतन्त्र हो जायंगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगा। कोई भी आपपर हुक्म नहीं चला सकता। फिर जुल्म करनेका आधार ही टूट जाता है। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मैं हूं।' वे समझते हैं कि इनके देहको सताया नहीं कि ये बसमें हुए नहीं, इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते हैं।

'मैं देह हूं'—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोंको मुझपर जुल्म करनेकी, सतानेकी इच्छा होती है। परंतु इंग्लैंडके हुतात्मा—ब्रलिवीर क्रेन्मर—ने क्या कहा था—"मुझे जलाते हो! अच्छा, जला डालो। लो पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लैटिमरने क्या कहा था—"हमें जलाना चाहते हो? हमें कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीर-रूपी इस मोमबत्तीको, इस चरबीको, जलाकर सत्तत्वोंकी ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है। देह मिट जायगा, वह तो मिटने ही वाला है।" सुकरातको ज़हर देकर मारनेकी सज़ा दी गई। तब उसने कहा—"मैं अब बूढ़ा हो गया हूं। चार दिनके बाद देह छूटने ही वाला था। जो मरने ही वाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी बहादुरी कर रहे हैं?

जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है। जो मर्त्य है उसे मारनेमें कौनसी तारीफ है।" जिस दिन सुकरातको जहर दिया जानेवाला था, उसके पहली रात वह शिष्योंको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था। शरीरमें विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाएं होंगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था। उसे कुछ भी फिक्र नहीं मालूम होती थी। आत्माकी अमरता-संबंधी यह चर्चा खतम होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—"मरनेपर आपकी अंत्येष्टि क्रिया कैसे की जाय?" उसने जवाब दिया—"खूब, मारेंगे तो वे गाड़ोगे तुम! तो क्या वे मारनेवाले मेरे दुश्मन, और तुम गाड़नेवाले मुझे बहुत चाहनेवाले हो? वे अक्लमन्दीसे मुझे मारेंगे, व तुम समझदारीसे मुझे गाड़ोगे? तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले? मैं तुम सबको पूरा पड़नेवाला हूं। तुम किसमें मुझे गाड़ोगे? मिट्टीमें या नासमें? मुझे न कोई मार सकता है न कोई गाड़ ही सकता है। अबतक मैंने क्या समझाया तुम लोगोंको? आत्मा अमर है, उसे कौन तो मार सकता है व कौन गाड़ सकता है?" और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान् सुकरात सबको गाड़कर बचा है।

(७२)

सारांश जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तबतक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती। तबतक एकसा डर लगता रहेगा। जरा नींद लगी नहीं कि यह खटका रहेगा, कहीं सांप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय। मनुष्य सिरहाने डंडा लेकर सोता है। क्यों? तो कहता है—"साथ रखना अच्छा है, कहीं चोर-वोर आ जाय तो।" अरे भले आदमी! कहीं चोर वही डंडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो? चोर यदि डंडा लाना भूल गया हो तो तुम उसके लिए पहले ही से तैयारी कर रखते हो। तुम किसके भरोसेपर सोते हो? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो। तुम जग रहे होगे तो ही बचाव करोगे न? नींदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा?

मैं किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हूं। जिस शक्तिपर भरोसा रखकर शेर, गाय, आदि जानवर सोते हैं, उसीके भरोसे मैं

भी सोता हूं । शेरको भी तो नींद आती है । सिंह भी, जो सारी दुनियासे बैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न हो तो कुछ सिंह सोते व कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर शेर, भेड़िया, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते हैं, उसी विश्व-व्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हूं। मांकी गोदमें बच्चा बेफिक्रीसे सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह ही होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास व ज्ञान-पूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधार पर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए । वह शक्ति मुझे उत्तरोत्तर प्रतीत होनी चाहिए । इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवें अध्यायमें इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

(७३)

जबतक देहस्थित आत्माका विचार मनमें नहीं आता है, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओंमें ही तल्लीन रहता है। भूख लगे तो खा लिया, प्यास मालूम हुई तो पानी पी लिया, नींद आई तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्ति-का लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरम्भ तो इसके बादसे होता है। इस समय तक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। मां जिस तरह कुंएकी ओर रेंगते हुए जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हमपर निगाह रखे खड़ा रहता है। शान्तिके साथ वह सब क्रियाओंको देखता है । इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षी रूपसे सब देखनेवाला कहा है।

इस अवस्थामें आत्मा देखता है, परन्तु अभी वह सम्मति, स्वीकृति नहीं देता है। परन्तु यह जीव जो अबतक अपनेको देह-रूप समझकर

सब क्रिया, सब व्यवहार करता है वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूं। जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है। तब कदम-कदमपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है। विवेकसे काम लेने लगता है। उसकी विश्लेषण-बुद्धि जाग्रत होती है। स्वैर क्रियायें रुकती हैं। स्वच्छंदताकी जगह संयम आता है। जब जीव इस नैतिक भूमिकामें आता है तब आत्मा केवल स्वस्थ रहकर नहीं देखता, वह भीतरसे अनुमोदन देता है---'शाबाश', 'खूब' ऐसी आवाज अन्दरसे आती है। अब वह केवल उपद्रष्टा न रहा, 'अनुमन्ता' हो गया।

कोई भूखा अतिथि दरवाजे आ जाय व आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें, व फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिए मनको कितना आनन्द होता है। भीतर से आत्माकी हल्की गुंजार कानोंमें होती है---'अच्छा काम किया।' मां जब बच्चेकी पीठपर हाथ फिराकर कहती है 'अच्छा किया बेटा' तो उसे ऐसा मालूम होता है मानो दुनियाकी सारी बख्शीश मुझे मिल गई। उसी तरह हमारे हृदयस्थ परमात्माके 'शाबाश बेटा' ये शब्द हमें प्रोत्साहन देते हैं। ऐसे समय जीव भोगमय जीवनको छोड़कर नैतिक जीवनकी भूमिकामें स्थित होता है।

इसके बादकी भूमिका यह है---नैतिक जीवनमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके तमाम मलोंको धोनेका यत्न करता है। परन्तु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य ऐसा काम करते-करते थकने लगता है। तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है---'हे भगवान्, मेरे उद्योगोंकी, मेरी शक्तिकी अब हद आ गई, मुझे अधिक बल दे। जबतक मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि उसके तमाम प्रयत्नोंके बावजूद वह अकेला कामयाब नहीं हो सकता, तबतक प्रार्थनाका रहस्य उसकी समझमें नहीं आ सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर जब वह काफी नहीं मालूम होती तब, आर्त्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा व सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेंसे पानी

पी सकता है। जिसे कमी पड़ती हो वह मांग ले। इस तरहका रिश्ता इस तीसरी भूमिकामें होता है। परमात्मा अधिक नजदीक आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबासी न देते हुए सहायता करनेके लिए आता है।

पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है, उसी तरह जबतक जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तबतक परमात्मा दूर खड़ा रहता है, वह कहता है—"ठीक है, चलने दो अपने कबाड़े।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा कोरा तटस्थ नहीं रह सकता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झांकता है और कहता है—'शाबाश', इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्तके स्थूल मल धुल जाते हैं और सूक्ष्म मल धुलनेका समय आता है और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब वह परमात्माको पुकारता है और वह 'आया' कह-कर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहां आ खड़ा हो जाता है। जगका सेवक सूर्यनारायण आपके दरवाजेपर सदैव खड़ा ही है। सूर्य बंद दरवाजेको तोड़कर भीतर नहीं घुसेगा; क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादा पालता है। वह दरवाजेपर धक्का नहीं देगा। भीतर मालिक सोया हुआ हो तो भी वह सूर्य-रूपी सेवक दरवाजेके बाहर रहता है। जरा दरवाजा खोलिए कि वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर अन्दर घुस आता है और अंधेरा दूर कर देता है। परमात्माकी स्थिति भी ऐसी ही समझो। उससे मदद मांगिये तो वह बाहु फैलाकर आया ही समझो। भीमाके किनारे (पंढरपुर) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है।

उठाके लो भुजा, कहे प्रभु आजा॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खोलो कि हवा भीतर आई ही। दरवाजा खोलो कि प्रकाश भीतर आया ही। हवा और प्रकाश-के दृष्टांत भी मुझे ना-काफी मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक सन्निध, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहते हुए 'भर्ता' सब तरह सहायक होता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए

अगतिक होकर जब हम पुकारते हैं—'मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु संभाळ जो रे।' हम प्रार्थना करते हैं—'तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।' तब फिर यह दयाधन कैसे दूर रहेगा ? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पड़ता है। तब रैदासके चमड़े धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीर की चादर बुनता है, व जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

इसके बादकी सीढ़ी है परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिला, उसे भी खुद न लेकर उसीके अर्पण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है—'अपना फल आप ही भोगो।' नामदेव धरना देकर बैठ गया कि 'प्रभु, दूध पीना ही पड़ेगा;' कितना मधुर प्रसंग है। वह सारा कर्मफल रूपी दूध नामदेव भगवान्के अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूंजी, सारी कमाई, जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई उसीको वह अर्पण कर देता है। धर्मराज ज्योंही स्वर्गमें कदम रखनेवाले थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ परमात्माके अर्पण कर देता है। उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्त्ता—इन स्वरूपोंमें प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामें आ जाता है जब परमात्मा ही, इस शरीरमें भोगोंको भोगता है।

इसके बाद अब संकल्प ही करना छोड़ देना है। कर्ममें तीन सीढ़ियां आती हैं। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादको फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीके अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर ! अब उस कर्मका संकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र प्रभु ही हो जाने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माली जिधर ले गया। उधर चुपचाप गया॥
यों पानी जैसा भैया। होओ सदा॥

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है उधर ही वह बिना चीं-चपड़ किये चला जाता है। माली जिन फूल और फलके पौधोंको चाहता है, उन्हें वह पानी पोसता और बढ़ाता है, इसी तरह मेरे हाथों जो कुछ होना है वह उसीको तय करने दो। मेरे चित्तके सभी संकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़ेपर डाल ही दिया है, तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिरपर क्यों लादकर बैठूं ? वह भी घोड़े-की पीठपर ही क्यों न लाद दूं ? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़ेपर बैठूंगा तो भी बोझ घोड़ेपर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठपर क्यों न लाद दूं ? इस तरह जीवनकी तमाम हलचलें, उठा-धरी, फलना-फलाना, सब वह परमात्मा ही अंतमें हो जाता है। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही हो जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, सिर्फ देहका पर्दा ही बाकी बच रहता है। वह जब हट जाता है, तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा, एक ही हो जाते हैं।

इस प्रकार—

"उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।"

इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरंभ होने-पर हमसे सत्कर्म होने लगते हैं, तब वह हमें शाबासी देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है, तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड़ पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवान्‌के अर्पण करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अंतमें तमाम संकल्प उसीके अर्पण करके सारा जीवन हरिमय कर देना है। यही मानवका अन्तिम साध्य है। 'कर्मयोग' व 'भक्ति-योग' रूपी दोनों पंखोंसे उड़ते हुए साधकको इस अंतिम मंजिलतक जा पहुंचना है।

(७४)

इस सबको साधनाके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद आवश्यक है। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना चाहिए।

सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको छोड़कर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनकी शुरुआत करना है। फिर आत्म-प्रयत्न व परमेश्वरी कृपाके बलपर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामें यदि हमने देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लिया होगा तो हमें बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे हजरत ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उन्हें कीलें ठोंक-ठोंककर मार रहे थे। कहते हैं, उस समय उनके मुंहसे ये उद्‌गार निकले---"भगवन्, इतनी यातनायें क्यों देते हैं?" किंतु फौरन भगवान् ईसाने अपने मनका तोल संभाला व कहा---"अच्छा, जो तेरी मर्जी, तेरी ही इच्छा पूर्ण होने दे। इन लोगोंको क्षमा कर---ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" हजरत ईसाके उस उदाहरणम बड़ा रहस्य भरा हुआ है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह चिह्न है। कहांतक मंजिल तय करना चाहिए, कहांतक वह तय की जा सकती है, यह ईसा-मसीहके जीवनसे मालूम हो जाता हैं। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रहा है---यहांतक मंजिल आ चुकी है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसा-मसीहका यह जीवन यह दृश्य मेरी आंखोंके सामने आ जाता है। देहसे अपनी साफ पृथक्ता-का, उसका संबंध टूटने जैसा हो जानेका नमूना ईसा-मसीहका जीवन है।

देह व आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नहीं है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न किया जाय। यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं 'जानना', परंतु, बुद्धिसे जानना ज्ञान नहीं है। मुंहमें कौर डाल लेना भोजन कर लेना नहीं है। मुंहका कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए व वहांसे पेटमें जाकर पचन होकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमें पहुंचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान, सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचारित होना चाहिए। हमारे हाथ, पांव, आंख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए

कि सारी ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां विचार-पूर्वक ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थित-प्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके ये लक्षण हैं।

'नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा'

आदि बीस गुण भगवान्‌ने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नहीं रुके कि इन गुणोंको ज्ञान कहते हैं, बल्कि यह भी साफ तौरपर बताया गया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बताई उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्‌गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूं। साधना व साध्य दोनों एक-रूप ही हैं।

गीताके इन बीस साधनोंको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होंने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे संबंध रखने-वाले केवल पांच ही श्लोक भगवद्‌गीता में हैं; परंतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इनपर सात सौ ओवियां (एक छंद) लिखी हैं। वे इस बातके लिए बहुत तृषित थे कि समाजमें सद्‌गुणोंका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोंका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोंमें उंडेल दिया है। मराठी भाषाके पाठकोंपर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैंसेको जो चाबुक लगाया गया उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठपर उठ आया। भूत-मात्रके प्रति इतनी समवेदना उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होंने विवेचन किया। उन्होंने जो गुण वर्णन किया है वह पढ़ने योग्य है, मनन करने व हृदयमें अंकित कर लेने योग्य है। ज्ञानदेवकी यह मधुर भाषा मैं चख सका—इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूं। उनकी मधुर भाषा मेरे मुंहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े तो मैं धन्यता ही अनुभव करूंगा। अस्तु। सार यह कि—

उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्माको देहसे पृथक् समझते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वर-मय बनानेका यत्न करें।

रविवार, १५-५-३२

चौदहवां अध्याय

(७५)

भाइयो, आजका चौदहवां अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयंपूर्ण है। अपनी आत्माकी गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; परंतु जैसे किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बांध दिया जाता है तो जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खींच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् निकलेगा। आत्माके पांवकी यह देह-रूपी बेड़ी यदि हम काट सकें तो हम बड़े आनंदका अनुभव करेंगे। फिर मनुष्य देहके दुःखसे दुःखी न होगा। वह स्वतन्त्र हो जायगा। यदि इस देह-रूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले तो फिर संसारमें कौन उसपर सत्ता चला सकता है? जो अपनेपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट हो जाता है। अतः देहकी सत्ता आत्मापर हो गई है, उसे हटा दो। देहके ये जो दुःख-सुख हैं सब विदेशी हैं, सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिल-मात्र भी संबंध नहीं है।

इन सब दुःखोंको किस अंशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरण द्वारा बताई है। उन्होंने दिखा दिया है कि देहके टूट पड़ते हुए भी किस तरह मनको शांत और आनंदमय रखा जा सकता है; परन्तु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहां एक ओर विवेकका काम है, तहां दूसरी ओर निग्रहका भी काम है।

"विवेकके साथ वैराग्यका बल।"

ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य दोनोंकी जरूरत है।

वैराग्य ही एक प्रकारका निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें निग्रह-की दिशा बताई गई है। नावको खेनेका काम तो बल्लियां करती हैं, परन्तु दिशा दिखानेका काम पतवार करता है। बल्लियां और पतवार, दोनों चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दुःखोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए, विवेक और निग्रह, दोनोंकी आवश्यकता है।

वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्‌ने चौदहवे अध्यायमें तमाम प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियां हैं, सो बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गए हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन-भेद किये जा सकें तो वह जल्दी पराजित किया जा सकता है। भगवानने यहां ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोंकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहां सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्हीं तीन गुणोंका मसाला भरा हुआ है। कहीं कम है तो कहीं ज्यादा। इतना ही फर्क है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तब देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलहदा करनेका तरीका ही है इन तीनों गुणोंकी परीक्षा करके उन्हें जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अंतको मुख्य वस्तुतक जा पहुंचना है।

(७६)

पहले हम तमोगुण को लें। वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है आलस्य। इसीसे फिर नींद व प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोंको जीत लिया तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमें आलस्य तो बड़ा ही भयंकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इस आलस्यसे बेकार हो जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटेसे बड़ेतक सबको बिगाड़ देता है। इस शत्रुने सबको

ग्रसित कर रखा है। वह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा ही। जरा खाना ज्यादा खाया कि उसने लेटनेपर मजबूर किया। जहां जरा ज्यादा लेटे कि मानो आंखोंसे आलस टपकता है; जबतक इसे न पछाड़ा तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ है। मगर हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं। इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें तो फिर जिन्दगी चैनसे कटेगी। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आमतौरपर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आरामकी जरूरत रहती है। परन्तु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहें तो बुढ़ापेमें भी काम करते रहेंगे। बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे। और उसी समय, कहते हैं कि आराम करेंगे!

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको बिल्कुल ही मौका न मिले। नल राजा इतना महान्, परन्तु पांव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया तो कहते हैं उसीमें कलि भीतर पैठ गया! नल राजा तो था अत्यन्त शुद्ध, सब तरह से स्वच्छ, परन्तु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा ही शरीर खुला पड़ा है। कहींसे भी आलस्य हमारे अन्दर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसा जाते हैं। आजके समाजकी रचना इस आलस्यपर ही खड़ी है। इससे अनन्त दुःख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें तो सब नहीं, तो बहुतेरे दुःखोंको हम दूर कर सकेंगे।

आजकल चारों ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए, और इसके लिए अमुक तरह की समाज-रचना होनी चाहिए आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख तो दूसरी ओर अतिशय दुःख है। एक ओर सम्पत्तिका ढेर तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो? तमाम आवश्यक सुख सहज तौर-पर प्राप्त करनेका एक ही उपाय है, और वह है, आलस्य छोड़कर सब

श्रम करनेको तैयार हों। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर लें तो यह दुःख दूर हो जाय।

परन्तु आज समाजमें हम देखते क्या हैं? एक ओर जंग चढ़-चढ़कर निरुपयोगी हुए लोग दीखते हैं। श्रीमानोंकी इंद्रियां जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिंसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पच कर काम करते हैं वे खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। बदर्जे मजबूरी करते हैं। पढ़े-लिखे, समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं—"फजूल क्यों शारीरिक श्रममें समय गवावें?" परन्तु कोई ऐसा नहीं कहता—'यह नींद क्यों फजूल लें?' 'भोजनमें समय क्यों बरबाद करें?' भूख लगती है तो खाते हैं। नींद आती है तो सो जाते हैं। परन्तु जब शारीरिक कामका सवाल आता है तो अलबत्ते हम कहते हैं—"फिजूल इसमें क्यों समय बरबाद करें? क्यों अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें? हम तो मानसिक श्रम जो कर लेते हैं।" तो जनाब, यदि काम मानसिक करते हैं तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिये व नींद भी मानसिक ले लीजिये। मनोमय नींद व मनोमय भोजन करने की तजवीज कर लीजिये न।

इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हो गये हैं। एक तो वे जो दिन-रात पिसते मरते हैं, दूसरे वे जिन्हें हाथतक हिलाना नहीं पड़ता। मेरे एक मित्रने एक रोज कहा—कुछ रुंड व कुछ मुंड। एक ओर सिर्फ धड़ है, दूसरी ओर सिर। धड़ सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुंड व मुंड दो प्रकारके हो गये हैं। परन्तु यदि सचमुच ही ये रुंड-मुंड होते तो कोई बात नहीं थी। तब अंध-पंगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अंधेको लंगड़ा रास्ता दिखावे, लंगड़ेको अंधा कंधेपर बिठा ले। परन्तु इन रुंड-मुंडोंके ऐसे अलग टुकड़े, समूह नहीं हैं। प्रत्येकमें रुंड व मुंड दोनों हैं। ये जुड़े रुंड-मुंड सब जगह हैं। इससे और मजबूरी है। अतः प्रत्येकको चाहिए कि आलस्यसे बाज आवे।

आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया तो इसकी सजा भी कुदरतकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पड़ेगी। जब कि शरीर हमको मिला है, तो श्रम हमें करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगाता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। इसका बदला जरूर मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। बहुतेरे विचारकोंके विचारोंमें भी उनके पेट-दर्द और सिरदर्दका प्रतिबिंब आ जाता है। विचार-शील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, कुदरतकी गोदमें मेहनत करेंगे तो उनके विचार भी तेजस्वी हो जायंगे। शारीरिक रोगका जैसे मन-पर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमें तपेदिक हो जानेपर भुवाली या और कहीं पहाड़पर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोंका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेड़ोंको पानी पिलाने और लकड़ी काटनेका काम करें, तो क्या बुरा ?

(७७)

आलस्यपर विजय प्राप्त करना एक बात हुई। दूसरी बात है, नींद-को जीतना। नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-संतोंकी नींद एक योग ही है। इस प्रकारकी शांत और गहरी नींद महा-भाग्यवानोंको ही मिलती है। नींद गहरी, गाढ़ी होनी चाहिए। नींद-का महत्त्व लम्बाई-चौड़ाईपर नहीं है। बिछौना कितना लम्बा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा, इस बातपर नींद अवलम्बित नहीं है। कुंआ जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो, पर यदि गहरी हो तो उससे उत्तम काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घंटा पठन, चंचलतासे किये गये तीन घंटेके पठनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लम्बी नींद अन्तमें हितकर ही होती है, ऐसा नहीं कह सकते। बीमार चौबीसों घंटे बिस्तर पर पड़ा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार

भेंट है, लेकिन नींदसे भेंट ही नहीं। सच्ची नींद वह जो गहरी व निः-स्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परन्तु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यम-यातना का हाल मत पूछिए। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दूःस्वप्न्यं सुव"

'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए।' नींद आरामके लिए होती है; परन्तु यदि उसमें भी तरह-तरहके सपने व विचार पिंड न छोड़ते हों तो फिर वहां आराम कहां रहा ?

तो गहरी व गाढ़ी नींद आवे कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नींदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर पड़ते ही मनुष्य मुर्देकी तरह सोयेगा। नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुन्दर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अंग्रेज़ कवि शेक्सपीयरने कहा है—"राजाके सिरपर तो मुकुट है, परन्तु सिरमें चिंता है!" उस राजाको नींद नहीं आती। उसका एक कारण यह है कि वह शारीरिक श्रम नहीं करता है। जो जागृतिमें सोता है, वह सोनेके समय जगता रहेगा। दिनमें बुद्धि व शरीरका उपयोग न करना नींद नहीं तो क्या है ? फिर नींदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है, और शरीर भी वास्तविक निद्रा सुखसे वंचित रहता है। फिर दीर्घ समयतक सोते पड़े रहते हैं। जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नींदने खा डाला तो पुरुषार्थकी नौबत आयगी कब? आधा जीवन यदि नींदमें ही चला गया तो फिर हम क्या हासिल कर सकेंगे ?

जब बहुत-सा समय नींदमें ही चला जाता है तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष—'प्रमाद' अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नींदसे फिर आलस्य बढ़ता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परन्तु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात

हो बैठी ह । विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसीको मालूम ही नहीं होता । किसीसे मिलना तय करते हैं, परंतु फिर जाते नहीं। पूछनेपर कहते हैं--"अरे भाई, मैं तो भूल ही गया।" ऐसा कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गई है ऐसा नहीं लगता । और सुननेवाला भी संतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नहीं ह ऐसा लोगोंका खयाल बना दीखता है । परन्तु यह गफलत क्या परमार्थमें व क्या प्रपंचमें दोनों जगह हानिकर ही है। वास्तवमें विस्मरण एक बड़ा रोग है। उससे बुद्धिमें घुन लग जाती है । जीवन खोखला हो जाता है ।

मनका आलस्य विस्मरणका कारण है । मन यदि जाग्रत रहे तो वह भूलेगा नहीं । लेटे रहनेवाले मनको विस्मरण-रूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती । इसलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"पमादो मच्चुनो पदं"

प्रमाद, विस्मरण याने मृत्यु ही है । इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य व निद्राको वशीभूत कीजिए । शरीर-श्रम कीजिए व सतत सावधान रहिए । जो-जो काम करने हो उन्हें विचार-पूर्वक कीजिए । यों ही बिना विचारे कोई काम नहीं होना चाहिए । कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार । आगे-पीछे सर्वत्र विचार-रूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधान-रूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बांधे रखिये । एक-एक क्षणका हिसाब रखिये। तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नहीं रहेगी । इस रीतिसे सारे तमोगुण-को जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए ।

(७८)

रजोगुणपर मोर्चा लगाना है । रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है । यह तमोगुणका ही दूसरा पहलू है । बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । जब शरीर बहुत सो चुकता है तो वह हलचल करने लगता है और जो शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है वह बिस्तरपर पड़ना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी व रजोगुणसे तमो-गुणकी प्राप्ति होती है । जहां एक है वहां दूसरा आया ही समझिए ।

जिस तरह रोटी एक ओर आग व दूसरी ओर भूभरमें फंस जाती है उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है--"इधर आओ, तुम्हें तमोगुणकी तरफ उड़ाता हूं।" तमोगुण कहता है--"मेरी तरफ आओ कि मैंने रजोगुणकी ओर धकेला।" इस प्रकार ये रजोगुण व तमोगुण परस्पर सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटवालका जन्म जैसे चारों ओरसे लात-ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुण व तमोगुणकी ठोकरें खानेमें ही जाता है।

रजोगुणका प्रधान लक्षण है नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा। अमानुष कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरंपार कर्म-संग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोंका वेग संभलने नहीं पाता। इधरका पहाड़ उधर ले जाकर उधर का खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। इधर समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे भर डालने व उधर सहारा के रेगिस्तानमें पानी छोड़कर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदूं, उधर पनामा नहर बनाऊं, ऐसी उधेड़-बुन शुरू होती है। जोड़-तोड़के सिवा चैन नहीं पड़ती। छोटा बच्चा जैसे एक कतरनको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यों उड़ाओ, इसे यों बनाओ--ऐसे ही अनन्त खेल रजोगुणके होते हैं। पंछी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमें क्यों न उड़ें? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यों न रहें? इस तरह, नरदेहमें आकर पशु-पक्षीकी बराबरी करनेमें हमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेश-की तथा दूसरे देहोंके आश्चर्योंका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है--चलो, मंगलकी सैर कर आवें व वहांकी आबादी देख आवें। चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है। मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहां है, वह वहां देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है--मैं इतना बड़ा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे? जैसे कोई पहलवान होता है--शक्ति उसके रोम-रोमसे फूटकर

निकलना चाहती है, उसे हजम करनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है, तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी उमंग होती है। इसके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है, उसके पेटमें से कुछ पत्थर निकलता है व उन्हें हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी उमंगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है व उसके तलेका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे मोती नाम देता है। परन्तु मोतीमें छेद नहीं होता, अतः उनमें छेद करता है। अब वे मोती पहनें कहां ? तो सुनार से नाक-कान छिदवाते हैं। मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है ? यह सारा रजोगुण का प्रभाव है।

रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण तत्काल फल चाहता है। अतः जरा-सी विघ्न-बाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड़, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है, इसका परिणाम अन्तमें यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

"राजसं चलमध्रुवम्"

रजोगुणीकी सारी कृति चंचल व अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूं बोते हैं और उसी समय खोदकर देखते हैं---वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झट-झट सब कुछ उसके पल्ले पड़ना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पांव जमाना वह जानता ही नहीं। जहां जरा-सा काम किया, वहां कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला तीसरी जगह। आज मदरासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें व परसों बम्बई-नागपुरमें। जितनी म्युनिसिपैलिटियां हों उतने ही मान-पत्र लेनेकी उसे लालसा रहती है। मान ही मान उसे सब जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्यकी स्थिति बड़ी भयानक हो जाती है।

रजोगुणके प्रभावसे मनुष्य विविध धंधों---कार्योंमें टांग अड़ाता रहता है। स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्मा-चरणका अर्थ है इतर नाना कर्मोंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका

रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सब कुछ चंचल है। पर्वतके शिखरपर गिर कर पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगा तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है। परन्तु वही यदि एक दिशामें बहेगा तो उसकी आगे चलकर एक नदी हो जायगी। उसमें एक शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुंचेगा। उसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगों में न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगावे तो ही उसके हाथसे कुछ कार्य होगा। इसलिए स्वधर्मका बड़ा महत्त्व है।

स्वधर्मका सतत चिन्तन करके उसीमें शारी शक्ति लगानी चाहिए, दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पावे। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई अति अथवा भारी कर्म नहीं है। केवल अमित कर्म करनेका नाम कर्मयोग नहीं है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना। नहीं तो यों सृष्टिमें एकसा कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगके माने हैं विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और योंही मुट्ठीभर अनाज लेकर कहीं फेंक देना—दोनों बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। हम जानते हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और यों ही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमें अमित शक्ति रहती है। वहां तमाम श्रम नाकाफी होते हैं। अतः उसमें भारी दौड़-धूपके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता।

(७९)

तो यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय ? ऐसा कोई प्रश्न करें तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य-के जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जन्मा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी

मां तलाश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी। हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही——ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन मां-बापके यहां मैंने जन्म लिया है उनकी सेवा, जिन अड़ोसी-पड़ोसीमें मेरा घर है उनकी सेवा ——ये दो कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है; अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना यह धर्म मुझे अपने-आप प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवा-रूप भूतदया-रूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहां कहीं स्वधर्मकी खोज हो रही हो वहां निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता। वह अपने-आप उसके पास आ जाती है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो वह सब सदा धर्म्य ही होता हो ऐसी बात नहीं है। किसी किसानने मुझे रातको कहा——"चलो वह बाड़ ४-५ हाथ आगे हटा दें। मेरे खेतकी सींव बढ़ जायगी। अभी कोई है नहीं, बिना गुल-गपाड़ेके ही सब काम हो जायगा।" यद्यपि यह काम मुझे अपने पड़ोसीने बताया है, वह सहज प्राप्त है, तो भी उसमें असत्यका आश्रय होनेके कारण वह मेरा कर्त्तव्य नहीं ठहरता।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता व धर्म दोनों हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता। जो मां-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं वेही मेरे मां-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूं कि वे मुझे पसन्द नहीं हैं, तो कैसे काम चलेगा? मां-बापका पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है। जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है वह यदि नीति-विरुद्ध न हो, तो उसीको करना, उसी काम या उद्योगको जारी रखना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है। यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गई है। उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है; परन्तु यदि यह ठीक ढंगपर लाई जा सके, तो

बहुत अच्छा होगा। नहीं तो आज शुरूके पच्चीस तीस साल तो नये काम, नये पेशेको सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र कार्य-क्षेत्र तलाशता है। इस तरह शुरूके २५ साल तक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जगता ही न हो। जीना बादमें है। कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना। मानो जीना व सीखना ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गई हों। जहां जीनेका सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे! हिंदुस्तानकी औसत उम्र २३ साल है। और पच्चीस सालतक तो यह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नवीन काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं; तब कहीं उस काम धंधेकी शुरूआत होती है। इससे उमंगके व महत्त्वके साल फजूल ही चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चले जाते हैं। जीवन कोई हंसी-खेल नहीं है। पर दुःखकी बात है कि जीवनका पहला बेशकीमती भाग तो जीवनका काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्म की तरकीब निकाली है।

परन्तु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहां यह व्यवस्था नहीं है वहां भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जन्मे हैं; इसी-लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्त्तव्य अपने-आप ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्ती कर्त्तव्य हैं—उन्हें वास्तवमें कर्त्तव्य कहना ठीक नहीं—उन्हें उनके कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करना चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोंपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहां खड़ा है वहां भी गहरा कुहरा फैला रहता है, परन्तु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अंगुली दिखाकर कहता है—"वहां बड़ा कुहरा फैला है," उधर का आदमी इसकी ओर अंगुली बताकर कहता है कि, "उधर घना कुहरा है।" कुहरा सब जगह है, परन्तु पासका दिखाई नहीं देता। मनुष्यको दूरकी बातोंमें आकर्षण दिखाई देता है। नजदीकका

कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है। परन्तु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त मालूम होता हो, नीरस प्रतीत होता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है वही भला है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्रमें डूब रहा हो उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा हाथ आ जाय, वह पालिश किया हुआ चिकना व सुन्दर न हो तो भी वही बचानेवाला है। बढ़ईके कारखानेमें बहुतसे बढ़िया चिकने और बेल-बूटेदार टुकड़े पड़े रहते हैं, परन्तु वे तो हैं कारखानेमें, और यह यहां समुद्रमें डूब रहा है। अतएव जैसे वह बेढंगा लकड़ीका टुकड़ा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए। उसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गई है, वह कम दर्जेकी मालूम होनेपर भी वही मेरे कामकी है। उसीमें मगन हो रहना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है। उसको छोड़कर यदि मैं दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पड़ूंगा तो यह पहली भी चली जायगी और दूसरी हाथ लगनेकी नहीं। इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। इसलिए स्वधर्म-रूप कर्त्तव्यमें ही हमें मगन रहना चाहिए।

जब हम स्वधर्ममें मगन रहने लगते हैं तो रजोगुण फीका पड़ जाता है। क्योंकि तब चित्त एकाग्र हो आता है। वह स्वधर्मको छोड़कर कहीं जाता ही नहीं, इससे चंचल रजोगुणका सारा जोर ही कम पड़ जाता है। नदी जब शान्त और गहरी होती है तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्म-रूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति पचा सकती है। स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्ममें आप सब शक्ति लगा देंगे तो फिर रजोगुणकी दौड़-धूप करनेवाली वृत्ति नहीं-सी हो जायगी, मानो आपने चंचलताका मुंह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको वशीभूत करनेकी।

(८०)

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत संभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है। सत्त्वगुण

को एकदम निर्मूल नहीं करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है, परन्तु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है। जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई हो और उसे तितर-बितर करना हो तो सिपाहियोंको यह हुक्म दिया जाता है, कि कमरके ऊपर नहीं, पांवकी तरफ, गोलियां चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्त्वगुणको घायल कर देना है, मार नहीं डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है, तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें—अवस्थामें रहना ही पड़ेगा। तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा उससे अलग रहनेके मानी आखिर क्या हैं?

जब सत्त्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्माको अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खींच लाता है। लालटेनकी ज्योतिकी प्रभाको स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अन्दरका सारा काजल पोंछ ही देना पड़ता है; परन्तु यदि कांचपर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुण-रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालनी चाहिए, उसके बाद रजोगुण-रूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुणको धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला, तो अब सत्त्वगुण-रूपी कांच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह लें कि उस कांचको भी फोड़ डालें? नहीं। यदि कांच ही फोड़ डालेंगे तो फिर लालटेनका कार्य नहीं होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए कांचकी तो जरूरत रहेगी ही। अतः इस शुद्ध चमकदार कांचको फोड़ें तो नहीं, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगादें जिससे आंखें चकाचौंध न हो जायं। जरूरत सिर्फ आंखोंको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुणपर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान—हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुण के काम तो ले लेना है, परन्तु ढंगसे, तरकीबसे। सत्त्वगुणको निरहंकारी बना देना चाहिए।

तो इस सत्त्वगुणके अहंकारको कैसे जीता जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुणको हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका

अभिमान चला जाता है । सत्त्वगुणी कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें । सत्त्वगुण हमारे यहां घड़ी भरके लिए आया हुआ मेहमान ही नहीं रहे, बल्कि वह घरका आदमी हो जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमें अभिमान होता है। सोते हम रोज हैं, परन्तु उसकी चर्चा दूसरों से नहीं करते । लेकिन जब किसी बीमारको पन्द्रह दिन नींद न आई हो और फिर जरा-सी नींद लगी हो तो वह सबसे कहता है—"कल जरा झपकी लगी थी ।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है । इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास क्रियाका लें। सांस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नहीं करते । क्या कभी कोई किसीसे अभिमानके साथ कहता है कि "मैं एक सांस लेनेवाला प्राणी हूं?" हरद्वारसे फेंका तिनका यदि गंगामें बहता-वहता १५०० मील दूर कलकत्तामें पहुंच गया तो क्या वह उसपर गर्व करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे वहता चला आया। परन्तु यदि कोई बाढ़की उल्टी धारामें दस-बीस हाथ तैर गया तो वह कितनी शेखी बघारेगा ? मतलब यह कि जो बात स्वाभाविक है उसका हमें अहंकार नहीं मालूम होता।

जब कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है । क्यों ? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नहीं हुई । मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो गया तो मां उसकी पीठ ठोंकती है । वरना यों तो मांकी छड़ीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेंट होती है। रातके घने अंधकारमें कोई एकाध जुगनू हो तो फिर देखिये उसकी ऐंठ। वह एक बार भी अपनी सारी चमक नहीं दिखाता । बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है; फिर लुक-लुक करता है । प्रकाशको ढांकता और खोलता रहता है । परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे तो फिर उसकी ऐंठ नहीं रहेगी । सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती । इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओं में सतत प्रकट होने लगे तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिंहको अपने शौर्यका अभिमान नहीं रहता । बल्कि भान भी नहीं रहता । इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पावे।

प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नहीं रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय तो वह कहेगा—"इसमें मैंने विशेष क्या किया? मैं प्रकाश देता हूं तो अधिक क्या करता हूं? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूं तो मैं मर जाऊंगा। मैं दूसरी कोई चीज ही नहीं जानता।" ऐसी स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोममें पैवस्त हो जाना चाहिए। जब ऐसा स्वभाव ही हमारा सत्त्वगुणमय हो जाय तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी—उसे जीतनेकी यह एक तरकीब हुई।

अब दूसरी तरकीब है सत्त्वगुणकी आसक्ति तक छोड़ देना। अहंकार व आसक्ति ये दो अलग-अलग चीजें हैं। यह भेद ज़रा सूक्ष्म है। अतः दृष्टांतसे जल्दी समझमें आजायगा। सत्त्वगुणका अहंकार चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। सांस लेनेका अभिमान तो नहीं होता है, परंतु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पांच मिनटतक सांस रोके रहो तो नहीं बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अतः लोग उसे देखकर हंसा करते; परन्तु हंसोड़ सुकरात कहता "मेरी नाक सबसे बढ़िया है। जिस नाकके नासापुट बड़े हों, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुंदर है।" मतलब यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नहीं, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणोंके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यंत उपयोगी है, परन्तु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरेके लिए मार्ग-दर्शक होते हैं। उनका देह भूत-दयाके कारण सार्वजनिक हो जाता है। मक्खियां जिस प्रकार गुड़की भेलीको ढांक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया संतों-पर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। संतोंके अंदर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपने देहकी

आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसारकी आसक्ति उनमें हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिंता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह जो महान् फल है, इसमें भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूं—ऐसा उन्हें कभी न मालूम होना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें पचा डालना चाहिए।

पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहंकार जीत लिया जायगा और फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फल-को भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्तिपर विजय हो सकती है। जीवनमें जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है, तो कभी सिद्धिके रूपमें व कभी कीर्तिके रूपमें फल सामने आता है। परन्तु उस फलको भी तुच्छ मानिए। आम-का पेड़ अपने एक भी फलको खुद नहीं खाता। फल कितना ही बढ़िया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर होता है। उपभोगकी बनिस्बत त्याग अधिक मधुर है। धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अंतमें ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोंपर उन्होंने कलश चढ़ा दिया। उन मधुर फलोंको चखनेका उन्हें हक था, परन्तु यदि वह उन्हें चख लेते तो वे (फल) खतम हो जाते। "क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति।" यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना जबरदस्त यह त्याग! यह सदैव मेरी आंखोंके सामने खड़ा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरण द्वारा उसके अहंकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वरको सौंपकर उसकी आसक्ति-से छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त हो गई।

(८१)

अब आखिरी बात। भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहंकारको जीत लीजिए, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिए, फिर भी जबतक यह शरीर कायम है तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देरके लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोंको जीत लिया तो भी वे फिर

फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुस-घुसकर जिस तरह बड़ी खाड़ियां बना लेता है उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाड़ियां बना लेते हैं। अतः जरा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इंतजाम व पहरा रखिए। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए जबतक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्म-दर्शन नहीं हो गया है तबतक खतरा ही समझिए। अतः हर तरहसे उद्योग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लीजिए।

आत्म-ज्ञान कोरी जागृतिकी कसरतसे नहीं होगा। तो फिर होगा कैसे ? क्या अभ्याससे ? नहीं—उसका एक ही उपाय है। वह है "सच्चे हृदयसे, हार्दिक व्याकुलतासे भगवान्‌की भक्ति करना।" आप रज, तम इन गुणोंको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी छोड़ देंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नहीं चलेगा। जबतक आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है तबतक गुजर न होगी। अतः अंतमें भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता। इस अध्यायके अंतमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है व भगवान्‌ने उत्तर दिया है—

"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है वह मायाके उस पार जा सकता है। नहीं तो इस गहन मायाको तर जाना आसान नहीं है।" यह भक्तिका सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग उसके लिए है।

रविवार, २२-५-३२

पन्द्रहवां अध्याय

(८२)

आज एक अर्थमें हम गीताके छोर पर आ पहुंचे हैं । पंद्रहवें अध्यायमें सब विचारोंकी परिपूर्णता हो गई है । सोलह-सत्रह अध्याय परिशिष्ट-रूप हैं व अठारहवां उपसंहार है । यही कारण है जो भगवान्‌ने इस अध्यायके अंतमें इसे 'शास्त्र' संज्ञा दी है ।

"कहा निष्पाप है, मैंने गूढ़ अत्यन्त शास्त्र ये"

ऐसा अंतमें भगवान्‌ने कहा है । यह इसलिए नहीं कि यह अंतिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धांत बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गई है । इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोंका सारा सार इसमें आ गया । परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोंका कार्य है । वह इस अध्यायमें किया गया है, अतः इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है ।

तेरहवें अध्यायमें देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्संबन्धी प्रयत्नवादकी छान-बीन की । रजोगुण व तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करें, इस तरह यह प्रयत्न करना है । अंतमें कहागया कि इन प्रयत्नोंके सोलहों आने सफल होनेके लिए आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है । और आत्म-ज्ञान बिना भक्तिके शक्य नहीं ।

परंतु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यही सूचित करनेके लिए इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें ही संसारको एक महान् वृक्षसे उपमा दी गई है ! त्रिगुणोंसे पोषित प्रचंड शाखाएं इस वृक्षकी हैं । आरम्भमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति व वैराग्य-रूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। यह साफ है कि पिछले अध्यायमें जो साधन मार्ग बताया

गया है, वही फिर आरंभमें यहां दुहराया गया है। रज-तमको मिटाना व सत्त्वगुणकी पुष्टि-द्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोंको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना व बीज बोना—दोनों एक ही क्रियाके भिन्न-भिन्न अंग हैं। वैसी ही यह बात है। रामायणमें रावण, कुंभकरण, विभीषण ये तीन भाई हैं। कुंभकरण तमोगुण है, रावण रजोगुण व विभीषण सत्त्वगुण है, हमारे शरीरमें इन तीनोंकी रामायण रची जारही है। इस रामायणमें रावण व कुंभकरणका तो नाश ही विहित है। एक विभीषण-तत्त्व, यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक व पोषक हो सकेगा। और इसलिए वह अपनाने जैसा है। हमने चौदहवें अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पंद्रहवें अध्यायके आरम्भमें फिर वही बात आई है। सत्त्व-रज-तमसे भरे संसारको असंग-रूपी शस्त्रसे छेद डालो। रज-तमका विरोध करो। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र होओ व उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमलपुष्पका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय संस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओंकी, उत्तमोत्तम वस्तुओंकी कमलकी उपमा दी गई है। कमल भारतीय संस्कृतिका प्रतीक है।। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ व पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता व अलिप्तता ऐसी दुहरी शक्ति कमलके पास है। भगवान्के भिन्न-भिन्न अवयवोंकी कमलसे उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिरः-कमल आदि इनके द्वारा यह भाव हमारे हृदयमें अंकित किया है कि सर्वत्र सौंदर्य व पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्यायमें बताई साधनाको पूर्णतापर पहुंचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमें जब आत्म-ज्ञान व भक्ति मिल जाय तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्ग का ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान व भक्ति, ये उसी साधनाके अंग हैं। वेदों में ऋषि कहते हैं—

"यो जागार तं ऋचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति"

"जो जाग्रत रहते है, उनसे वेद प्रेम करते हैं, उनसे भेंट करनेके लिए

वे आते हैं।" अर्थात् जो जाग्रत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान व भक्ति अलग नहीं हैं। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्र चित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

(८३)

जीवनके मैं टुकड़े नहीं कर सकता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इनको मैं जुदा-जुदा नहीं कर सकता, न ये जुदा ही हैं। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोई बनानेके कामको ही देखिए। पांच-सात सौ मनुष्योंकी रसोई वनानेका काम अपनेमें से कुछ लोग करते हैं। यदि इनमें कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई बनानेका ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो तो वह रसोई खराब कर देगा। रोटियां कच्ची रह जायंगी या जल जायंगी। परंतु यहां हम यह मानकर चलें कि रसोई वनानेका उत्तम ज्ञान है। फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, ये रोटियां मेरे भाइयोंको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना व सेंकना चाहिए, यह प्रभुकी सेवा है, ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह इस कामके लिए योग्य नहीं साबित होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस जबतक हृदयमें न हो तबतक वह रसोई स्वादिष्ट नहीं हो सकती। इसीलिए तो बिना मांकी रसोई फीकी रहती है। मांके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेमभावसे करेगा? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना यह काम कैसे होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल बनानेके लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म, तीनों चीजोंकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोंपर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पांव भी टूट जाय तो वह खड़ी नहीं रह सकती। तीनों पांव चाहिए। उसके नाममें ही उसका स्वरूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान; भक्ति व कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य ये जीवनके तीन पांव हैं। इन तीनों खंभोंपर जीवन-रूपी द्वारका खड़ी करनी है।

ये तीन पांव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। तिपाई का दृष्टांत अक्षरशः इसपर चरितार्थ होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान, कर्मको अलग-अलग मानिए, परंतु प्रत्यक्षतः इनको अलग नहीं किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होनेपर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ मालूम होगा। 'सुलभ मालूम होगा' का मतलब यह नहीं कि कष्ट नहीं होंगे, परन्तु यह कि वे कष्ट, 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उलटे आनन्द-रूप मालूम होंगे। शूल फूल-जैसे प्रतीत होंगे। हां, तो भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी आखिर क्या? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसा-मसीह एक जगह कहते हैं—"यदि तू उपवास करता है, तो चेहरेपर उपवासकी थकान न मालूम होनी चाहिए; उलटा तेरे गाल व चेहरा सुगंधित द्रव्य लगा-सा आनंदित, प्रफुल्लित दिखाई देना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।" सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्ति-मय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट भूल जायं। हम कहते हैं न कि फलां बहादुर, देश-भक्त हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ गया। सुधन्वा तेलकी कढ़ाईमें हंस रहा था। मुंहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्दकी ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पड़नेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पड़ी हुई नावको धकेलना कठिन नहीं है; परन्तु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोंपरसे खींचकर ले जाना हो तो कितनी मेहनत पड़ेगी? नावके नीचे यदि पानी होगा तो हम आसानीसे पार कर जायंगे—सहज ही तर जायंगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्ति-रूपी पानी होगा तो वह आनंदसे खेई जा सकेगी; परन्तु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेता पड़ा होगा, कंकड़-पत्थर होंगे, खड्डे खाई होंगे तो इस नौकाको खींचकर ले जाना बड़ा विकट काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देगा है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है। परन्तु आत्मज्ञानके

बिना सदाके लिए त्रिगुणोंके उस पार जानेकी आशा नहीं। तो फिर आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या ? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्व गुणको आत्मसात् करके उसका अहंकार व भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्तिको जीतनेका प्रयत्न। इस साधनाके द्वारा सतत, अखंड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्म-दर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अन्त नहीं आ सकता। यह परम-पुरुषार्थकी बात है। आत्म-दर्शन कोई हंसी-खेल नहीं है। रास्ते चलते यों ही आत्म-दर्शन हो जायगा—ऐसा नहीं है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गकी शर्त ही यह है कि "मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दूं। क्षणभर भी मैं निराश होकर न बैठूं।" इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है वह कहने लगता है—

"तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहां लौं कीजै"

—"भगवन, मैं तुम्हारे लिए कहांतक तप करता रहूँ ?" परन्तु यह कहना गौण है। तप व संयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायं। 'कहांतक साधना करते रहें', यह भाषा भक्ति-मार्गमें शोभा नहीं देती। अधीर-भाव, निराशा-भाव भक्ति, कभी भी पैदा नहीं होने देगी; जी ऊबने जैसी कोई बात उसमें न होनी चाहिए। भक्तिमें उत्तरोत्तर उल्लास व उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत उम्दा विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

(८४)

इस विश्वमें हमें अनंत वस्तुएं दिखाई देती हैं। इनके तीन भाग कर डालें। जब कोई भक्त सुबह उठता है तो तीन ही चीजें उसकी आंखों-के सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान्‌की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजाका साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक भक्त, सेव्य परमात्मा

व सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गई है। परन्तु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है, उसे सृष्टिके सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहींसे अगरबत्ती ले आता है वह कुछ नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर छांटकर ही चीजें लेना चाहता है; परन्तु पंद्रहवें अध्यायकी विशाल शिक्षाके अनुसार यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और किसीको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म हैं, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मता हट रही है और उसमें सुलभता ला रही है।

आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता—"मैं ही क्यों ज्यादा काम करूं?' इस बातमें बड़ा सार है। पूजकको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको मिले तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—"अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पड़ी!" बल्कि उससे उसे अधिक ही आनन्द मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर पुरुष हूं। अक्षर पुरुषका अर्थ है कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरम्भसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान रामके सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हें आलस छू तक नहीं गया है। हनुमानकी तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर-पुरुष है। 'परमात्मा'—यह संस्था जीवित है और मैं उसका सेवक भी सदैव कायम हूं। प्रभु कायम हैं तो मैं भी कायम हूं। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए? यदि उसने दस अवतार लिये हैं, तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं।

वह राम हुआ है तो मैं हनुमान, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार उतने ही मेरे भी। मीठी होड़ ही लग रही है। परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह जीव, अक्षर पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी व मैं उसका वंदा—सेवक। वह भावना एक-सी हृदयमें रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनन्त रूपोंसे सजनेवाली सृष्टि; इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

सेव्य परमात्मा—पुरुषोत्तम, सेवक जीव-अक्षर पुरुष; परन्तु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है। इस 'क्षर' होनेमें बड़ा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नहीं, भूषण है। इससे सृष्टिमें नित्य नवीनता आती है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान् है, यह बड़े भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज़ नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मैं यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूंगा। अपने साधनोंको मैं नित्य नवीन रूप दूंगा व उन्हींसे उसकी पूजा करूंगा। इस नाशवानताके कारण यह सौंदर्य है। चंद्रकी कला जो आज है वह कल नहीं। चंद्रका रोज नया लावण्य, दूजके उस बढ़ते हुए चान्दको देखकर कितना आनंद होता है? शंकरके ललाटपर यह दूजका चांद कैसा चमकता है? अष्टमीके चंद्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें चुनेहुए मोती ही दिखाई देते हैं। पूर्णिमाको चंद्रमाके तेजसे तारे नहीं दीखते। पूनोंको परमेश्वरका मुख-चंद्र दीखता है। अमावस्याका आनंद तो बड़ा गंभीर होता है। उस रातको कितनी निस्तब्ध शांति छाई रहती है। चंद्रमाके जालिम प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बड़े अगणित तारे बड़ी आजादीसे खुलकर चमकते रहते हैं। अमावस्याकी स्वतंत्रता पूर्ण-रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान रखनेवाला चन्द्रमा आज वहां नहीं है। अपने प्रकाशदाता सूर्यसे वह आज एक-रूप हो गया है। वह परमेश्वरमें मिल गया है। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह संसारको जरा भी दुःख न पहुंचाए। चन्द्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है; परन्तु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनन्द देता है।

सृष्टिकी जो नाशवानता, नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छलछल, बह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे तो उसका एक दह बन जायगा। नदीका पानी अखंड-रूपसे वहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूंद गया दूसरा आया। अतः वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनंद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। गर्मियोंमें परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते हैं। बरसातमें हरी-हरी दूब चढ़ाई जाती है। शरद ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प। तत्तत् ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजाकी जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग व नित्य नूतन मालूम होती है। उससे जी नहीं ऊबता। छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं, "इसपर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ," तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नहीं पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है! वह पेंसिल आड़ी करके उससे जल्दी मोटा बना देता है। लेकिन फिर वह नये अक्षरोंको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़ने लगता है। साहित्यिक नानाविध सुमनमालाका अनुभव उसे होता है। तब उसे अपार आनंद मालूम होता है। यही बात सेवा-प्रान्तकी है। साधनोंकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमंग बढ़ती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नाशवानता नित्य नये फूल खिला रही है। गांवके निकट स्मशान है। इससे गांव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है। बाहरका वह स्मशान यदि मिटा दोगे तो वह घरमें आकर बैठ जायगा। तुम ऊब उठोगे उन्हीं-उन व्यक्तियोंको रोज अखंड देख-देखकर। गर्मियोंमें गर्मी पड़ती है। धरती तप जाती है; परन्तु इससे तुम घबरा मत जाओ। यह रूप बदल जायगा। बरसातका सुख लेनेके लिए यह तपन जरूरी है। यदि जमीन खूब तपी न होगी, तो पानी बरसते ही वह कीचड़ हो जायगी। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं सजने पावेंगे। मैं एक बार गर्मियोंमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। बड़ा आनंद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा। फिर तकलीफ होगी।" मैंने कहा—

"नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी तो जरा तपने दो।" अहा––इधर सिर तपा हुआ हो, उधर पानीकी फुहारें पड़ने लगें–– कैसी बहार हो ! परन्तु जो गर्मियोंमें तपता नहीं, वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमें, उस कब्रमें ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खड़ा रहकर आनंदसे नाच न उठेगा; परन्तु हमारे वे महर्षि मनु बड़े रसिक व सृष्टि-प्रेमी थे। अपनी स्मृतिमें लिखते हैं––"जब पानी बरसने लगे तो छुट्टी कर दो।" जब बरसा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे रहकर संथा रटते रहें ? वर्षामें तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूप होना चाहिए। वर्षामें पृथ्वी व आकाश एक-दूसरेसे मिलते हैं। यह भव्य दृश्य कितना आनंददायी है ? यह सृष्टि स्वतः हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश, सृष्टिकी क्षरता, नाशवानताका अर्थ है साधनोंकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसके सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक व वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेम-मूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। तरह-तरहके प्रयोग मुझसे करा रहा है। यदि हमें जीवनमें ऐसी दृष्टि आजाय तो कितना आनंद मिले !

(८५)

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घंटा-आध-घंटा ईश्वरकी पूजा करते हैं सो तो ठीक ही है। प्रातःकाल व सायंकाल जब सुंदर सूर्य-प्रभा अपना रंग छिटकाती है तब चित्तको स्थिर करके थोड़ी देरके लिए संसारको भूल जाना और अनंतका चिंतन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोड़ना चाहिए। परन्तु गीताको इतनेसे संतोष नहीं है। सुबहसे शामतककी सारी क्रियाएं भगवान्‌की पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, चलते, झाड़ते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाड़ते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, मेरे जीवन-देवका आंगन साफ कर रहा हूँ। हमारे

समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ गई तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमें कितना अन्तर पड़ जायेगा। हम कितनी चितासे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हें जतनसे डलियामें संभालकर रखते हैं, वे दब न जायं, कुचल न जायं, कुम्हला न जायं इसका कितना ध्यान रखते हैं? कहीं मलिन न हो जायं, इस खयालसे उन्हें नाकके पास नहीं ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें हो जानी चाहिए। अपने इस गांवमें मेरे पड़ोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो रम रहा है। अतः इस गांवको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूंगा। गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है। हमारे तमाम कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायं इस बातका गीताको बड़ा शौक है। गीता जैसे ग्रंथराजको घंटा-आध-घंटा की पूजासे समाधान नहीं। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजा-रूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुंचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक व सेवाके साधन रूप यह सारी सृष्टि—यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाय तो फिर और क्या चाहिए? तुकाराम कह रहे हैं—

होयगा दर्शन तो करूंगा सेवा।
और कुछ नहें, चाहूं प्रभो॥

फिर तो अखंड सेवा ही हमसे होती रहेगी। तब 'मैं' जैसा कुछ रही नहीं जायगा। मैं मेरापन सब पोंछ डालूंगा, अब जो कुछ है, वह होगा सब परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नहीं रहेगा। गीता फिर-फिरसे यही कह रही है कि मैं अपनेमेंसे मैं-पनको निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊं, भक्तिमय जीवन रचूं। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक व साधन-रूप यह सृष्टि। परिग्रहका नाम ही कहां रहा? जीवनमें अब किसी बातकी चिन्ता ही नहीं रही?

(८६)

इस तरह अबतक हमने यह देखा कि कर्ममें भक्तिका योग करना चाहिए; परन्तु उसमें ज्ञानकी पुट भी जरूरी है। नहीं तो गीताको संतोष न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न

हैं, सिर्फ समझनेके लिए हम तीन जुदा-जुदा भाषा बोलते हैं। कर्मका मतलब ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नहीं पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा किसे ? गीता कहती है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे"। तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा पुरुष, वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष, और नाना रूपधारिणी, प्रवाहमयी, नाना साधनदायिनी वह सृष्टि, वह भी पुरुष ही।

ऐसी दृष्टि रखनका अर्थ क्या ? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवा-भाव रखना। तुम्हारे पैरकी जूती चर्र-चूं बज रही है—जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्मा ही का अंश है, अत: उसे संभालकर अच्छी हालतमें रखना चाहिए। यह सेवाका साधन चर्खा उसमें भी तेल डालो। देखो वह आवाज दे रहा है। 'नेति-नेति'—सूत नहीं कातूंगा—कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन—यह भी पुरुष ही है। इसकी माल, उसकी यह जनेऊ, उसे भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्य-मय मानो। इसे जड़ मत समझो। ॐकारका सुंदर गान करनेवाला वह चरखा क्या जड़ है ? वह तो परमात्माकी मूर्ति ही है। श्रावणकी अमावस्याको हम अहंकार छोड़कर बैलकी पूजा[1] करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। इस उत्सवका खयाल रोज करके, बैलोंको अच्छी हालतमें रखकर, उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार, इन्हें अच्छी हालतमें रखूंगा। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि ! पूजा करनेका यह अर्थ नहीं है कि गुलाल, गंधाक्षत व फूल चढ़ावें। उन बरतनोंको कांचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोंकी पूजा है। दियेको साफ पोंछना दीपक-पूजा है। हंसिएको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जंग खायगा, तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्यको उत्कृष्ट व निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मैं अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम व साधन-रूप यह सृष्टि; वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही।

[1] महाराष्ट्रका विशिष्ट त्योहार, जिसे 'पोला' कहा जाता है।

सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गई तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आ गया।

पहले कर्ममें भक्तिकी पुट दो, अब ज्ञानका भी योग कर दिया तो इससे एक अपूर्व जीवन-रसायन बन गया। गीताने हमें अंतमें अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड़ दिया। इस सारी सृष्टिमें, जहां देखिए वहां, तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहां गीताने हमें सबसे ऊंचे शिखरपर लाकर बिठा दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान सब एक-रूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि सब एक-रूप, एक-जीव हो गये। कर्म, भक्ति व ज्ञानमें कोई विरोध नहीं रह गया। ज्ञानदेवने अमृतानुभवमें अपना प्रिय दृष्टांत दिया है।

देव, मन्दिर, परिवार—बनाया काट पर्वत
ऐसा भक्तिका आचार—क्यों न होवे ?

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर बनाया, उस मंदिरमें पत्थरकी ही गड़ी हुई एक भगवान्‌की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही एक भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाए हुए फल, ये जैसे सब एक ही पत्थरकी चट्टानमें खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखंड पत्थर अनेक-रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए ? स्वामि-सेवक-संबंध रहकर भी एकता क्यों नहीं रह सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य जुदा रहकर भी वह आत्म-रूप क्यों न हो जाय ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय। ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है स्वामी, सेवक व सेवा-द्रव्य सब एक-रूप ही हैं—अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

"स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत"

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहों आना भक्त रहता है। जिसमें

ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वरका ज्ञान व परमेश्वरका प्रेम, ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करेला कड़ुआ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ कि फिर प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकाध अपवाद होगा भी। परंतु जहां कड़ुए-पनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा; परन्तु मिश्रीका ज्ञान होते ही वह गलने लगा। तुरंत ही प्रेमका स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपकी मधुरताकी उपमा क्या रद्दी शकरसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वर-का ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिए कि ज्ञान होना व प्रेम होना, ये दो दोनों मानो भिन्न क्रियाएं ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्तिको स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते हैं—

सो ही भक्ति, सो ही ज्ञान।
एक विट्ठल ही जान॥

भक्ति व ज्ञान एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

अब, जीवनमें परम भक्तिका संचार हो गया, तो फिर जो कर्म होगा वह भक्ति व ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति व ज्ञान मिलकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। मांपर प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवा-रूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनंत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहां आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन सी सेवा प्रिय है, या प्रिय होगी इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए; नहीं तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेम को होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्य द्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है; परन्तु उसके मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी, बेकार हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे जुदा होता है। खेत से थके-मांदे आये लड़केपर मां सहज प्रेमकी दृष्टि डालती है व कहती

है—"बेटा, थक गये हो ?" परन्तु इस छोटेसे कर्ममें, देखिए तो कितना सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्मोंमें ज्ञान व भक्तिको ओत-प्रोत कीजिए। यही पुरुषोत्तम-योग कहलाता है।

(८७)

यह सब वेदोंका सार है। वेद अनन्त हैं; परन्तु उन अनन्त वेदोंका सार-संक्षिप्त यह पुरुषोत्तम-योग है। यह वेद है कहां ? वेदोंकी बात विचित्र है। वेदोंका सार है कहां ? अध्यायके आरम्भमें ही कहा है—"पत्र हैं जिसके वेद।" भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमें भरे हुए हैं। वेद उन संहिताओंमें, आपके ग्रंथों व पोथियोंमें छिपे हुए नहीं हैं। वह विश्वमें सर्वत्र फैले हुए, छाये हुए हैं। शेक्सपीयर क्या कहता है—

"बहते हुए झरनोंमें सद्ग्रंथ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानोंसे प्रवचन सुनाई पड़ते हैं।" मतलब यह कि वेद न संस्कृतमें हैं, न संहिताओंमें, वे सृष्टिमें हैं। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे। "प्रभाते करदर्शनम्"। सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमें भरे हैं। वह वेद कहता है "सेवा करो"। कल हाथने काम किया था या नहीं, आज करने योग्य है या नहीं, उसमें कामके निशान हुए हैं या नहीं, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, पढ़ा जा सकता है। यह अर्थ है "प्रभाते करदर्शनम्" का।

पूछते हैं, वेद कहां है ? भाई, तुम्हारे हाथोंमें ही तो है। शंकराचार्यके लिए कहते हैं कि, उन्हें आठवें साल ही सारे वेदोंका ज्ञान हो गया था। बेचारे शंकराचार्य तो थे मन्दबुद्धि। उन्हें आठ साल लग गये ! परन्तु हमें-तुम्हें तो जन्मतः ही वे प्राप्त हैं। आठ सालकी भी क्या जरूरत ? मैं खुद ही जीता-जागता वेद हूं। अबतकको सारी परम्परा मुझमें आत्म-सात् हुई है। मैं उस परम्पराका फल हूं। उस वेद-बीजका जो फल है वही तो मैं हूं। अपने फलमें मैंने अनन्त वेदोंका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पांच-पचास गुना बड़े हो गये हैं। सारांश, वेदोंका सार हमारे हाथोंमें है। सेवा, प्रेम व ज्ञान इनकी नींवपर हमें जीवन रचना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोंमें है। मैं जो अर्थ करूंगा वही वेद होगा,

वेद कहीं बाहर नहीं है। सेवा-मूर्त्ति सन्त कहते हैं—"वेदोंका जो अर्थ जानें एक हमीं।" भगवान् बता रहे हैं—"सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोंका अर्क, सार पुरुषोत्तम हूं।" यह जो वेदोंका सार, पुरुषोत्तम-योग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें तो कितनी बहार हो! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करेगा, गीता सुझाती है कि उसमेंसे मानो वेद ही प्रकट हो रहे हैं। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्ण-रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या?

रविवार, २९-५-३२

सोलहवां अध्याय

(८८)

गीताके पहले पांच अध्यायोंमें हमने जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते हैं, यह देखा । उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया । ग्यारहवेंमें भक्तिका दर्शन हुआ । बारहवेंमें सगुण व निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान लक्षणोंको जाना । बारहवें अध्यायके अन्ततक कर्म व भक्ति इन दो तथ्योंकी छानबीन हुई । ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उस को हमने तेरह, चौदह व पन्द्रहवें अध्यायोंमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना व उसके लिए तीनों गुणोंको जीतकर अन्तमें सर्वत्र प्रभुको देखना । पन्द्रहवें अध्यायमें जीवनका सम्पूर्ण शास्त्र देख लिया । पुरुषोत्तम-योगमें जीवनकी पूर्णता होती है । उसके बाद फिर कुछ बाकी नहीं रहता ।

कर्म, ज्ञान व भक्ति इनकी पृथक्ता मुझे सहन नहीं होती । कुछ साधकोंकी अपनी निष्ठा ऐसी होती है कि उन्हें सिर्फ कर्म ही सूझता है । कोई भक्तिके स्वतन्त्र मार्गकी कल्पना करते हैं और उसीपर सारा जोर देते हैं । कुछ लोगोंका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवनके मानी केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल' वाद मुझे माननेकी इच्छा नहीं होती । इसके विपरीत कर्म, भक्ति व ज्ञानके योग-रूप समुच्चय-वादको भी मैं नहीं मानता । कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान व कुछ कर्म ऐसा उपयोगितावाद भी मुझे नहीं जंचता । पहले कर्म, फिर भक्ति, फिर ज्ञान इस तरहके क्रमवादको भी मैं नहीं स्वीकारता । तीनों चीजोंका मेल मिलाया जाय, इस तरहका सामंजस्यवाद भी मुझे मंजूर नहीं है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति है और वही

ज्ञान है। बर्फीके एक टुकड़ेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन ये बातें अलग अलग नहीं हैं। जिस क्षण हम बर्फीका टुकड़ा मुंहमें डालते हैं उसी क्षण उसका आकार भी हमने खा लिया, उसका वजन भी पचा लिया और उसकी मिठास भी चख ली। तीनों बातें एकत्र एक साथ हैं। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन व मधुरता है। यह नहीं कि उसके एक टुकड़ेमें केवल एक आकार हैं, दूसरेमें कोरी मिठास है, व तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय व ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके सब अंग-प्रत्यंगमें कर्म, भक्ति व ज्ञान भरा रहना चाहिए इसे पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। सारे जीवनको एक परमार्थमय ही कर डालना—यह वात कहनेमें तो बड़ी आसान है, परन्तु इस उच्चारमें जो भाव है उसका यदि विचार करने लगें तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अन्तःकरणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति व ज्ञान अक्षरशः एकरूप हैं, इस परम दशाको पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। यहां जीवनकी अन्तिम सीमा आगई।

अब, आज इस सोलहवें अध्यायमें क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है उसी तरह जीवनमें कर्म, भक्ति व ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सद्‌गुणोंकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभा-का वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अंधकारसे झगड़ कर यह प्रभा प्रकट होती है उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी चीजके सबूतके तौरपर हम कुछ चीजोंकी मांग करते हैं। सेवा, भक्ति व ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये हैं, यह कैसे जाना जाय? खेतपर हम मेहनत करते हैं, तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नाप कर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्‌वृत्तियां गहरी पैठीं, कितने सद्‌गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ, इसकी जांच करनेकी ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवनकी कला कितनी बड़ी व चढ़ी है इसे नापने-के लिए यह अध्याय कहता है। जीवनकी इस बुद्धिमती कलाको गीता

दैवी-संपत्ति कहती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियां हैं उन्हें आसुरी कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी व आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष बताया गया है।

(८९)

जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना व दूसरी ओर पांडव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहां सद्गुण-रूपी दैवी सेना व दुर्गुण-रूपी आसुरी सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीन-कालसे मानवी मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गई है। वेदमें इंद्र व वृत्र, पुराणोंमें देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियोंके धर्मग्रंथोंमें अहुर-मज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमें प्रभु व शैतान, इस्लाममें अल्लाह व इब्लीस--- इस तरहके झगड़े सभी धर्म-ग्रन्थोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल विषयोंका वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है तो धर्मग्रंथोंमें सूक्ष्म मनोभावनाओंका वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहां सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह सूचित नहीं करना है कि गीताके आरंभमें जो युद्धका वर्णन है वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परन्तु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्त्तव्यके विषयमें जब मनमें मोह पैदा हो जाता है तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझाई गई है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई व बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर भी और हमारे भीतर भी है। बारीकीसे देखा जाय तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता या रहता है, वही हमें बाहरी जगत्में मूर्तिमान दिखाई देता है। बाहर जो मुझे अपना शत्रु खड़ा दीखता है, वह मेरे ही मनका विकार साकार-रूप होकर खड़ा है। आइनेमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखाई देते हैं। जैसे हम जागृतिमें स्वप्नको देखते हैं, उसी तरह जो हमारे मनमें है, वही हम बाहर

देखते हैं। भीतरके व बाहरके युद्धमें कोई फर्क नहीं है। सच पूछिए तो असली युद्ध तो भीतर ही होता है।

हमारे अंत:करणमें एक ओर सद्गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूह-रचना ठीक-ठीक कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, वैसे यंहां भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रखा हैं। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें अभयको पहला स्थान दिया गया है। यंह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना 'अभय' के कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सच्चाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नहीं है। किन्तु सच्चाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्गुण फैल नहीं सकते। बल्कि उसमें वे भी दुर्गुण बन जायंगे। सत्प्र-वृत्तियां भी कमजोर पड़ जायंगी। निर्भयता सब सद्गुणोंका मुख्य नायक है। परन्तु सेनाको आगे-पीछे दोनों तरफ संभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परन्तु पीछेसे चुपचाप चोर हमला भी हो सकता है। सद्गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंक कर खड़ा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बड़ी बढ़िया रक्षा की गई है। यहां कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमें ये पच्चीस गुण प्राप्त होगये व यदि कहीं उसका अहंकार हो गया तो पीछे से एकाएक चोर-हमला होकर सारी कमाई खो जानेका भय है। इसलिए पीछे 'नम्रता' के सद्गुणको रक्खा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजयमें परिणत हो जायगी, यह ध्यान भी नहीं आयगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनात करके सब सद्गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोंके बीचमें जो चौबीस गुण रखे गये हैं, वे करीब सब अहिंसाके ही पर्यायवाची हैं ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अहिंसा अद्रोह ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा व सत्य इन दो गुणोंमें सब सद्गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्गुणोंका यदि संक्षेप किया जाय तो अंतमें अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जायेंगे। शेष सब सद्गुण इनके उदरमें समा जायंगे। परन्तु निर्भयता और नम्रताकी बात जुदा है। निर्भयतासे प्रगति की जा सकती है,

व नम्रतासे बचाव होता है। (निर्भयता सत्यका व नम्रता अहिंसाका प्रतीक है।) सत्य व अहिंसा इन दो गुणोंकी पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें हमें बेरोक संचार करते चले जाना चाहिए। पांव इधर-उधर गलत न पड़ जाय, इसके लिए नम्रताके साथ रहनेसे फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। अब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे चले जाइए। तात्पर्य यह कि सत्य व अहिंसाका विकास निर्भयता व नम्रताके द्वारा होता है।

इस तरह एक ओर जहां सद्गुणोंकी फौज खड़ी है, तहां दूसरी ओर दुर्गुणोंकी भी तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गणोंके सम्बन्धमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दम्भके तो जैसे हम आदी हो गये हैं। सारा जीवन ही मानो दंभकी बुनियाद-पर खड़ा किया गया है। अज्ञानके बारेमें कहा जाय तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम कदम-कदमपर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परन्तु भगवान् कहते हैं—"अज्ञान पाप है।" सुकरातने इससे उल्टा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमें उसने कहा—"जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञानके बिना पाप हो ही कैसे सकता है, और अज्ञानको तुम सजा कैसे दोगे ?" परन्तु भगवान् कहते हैं "अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनमें कहा है कि कानूनका अज्ञान सफाईकी दलील नहीं हो सकती। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान्के व सुक-रातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् बताते हैं तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पाप क्षमा करने चाहिए, परंतु खुदके अज्ञानको भी क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान तो हमें जरा भी शेष न रखना चाहिए।

(९०)

आसुरी-सम्पत्ति—

इस तरह एक ओर दैवी सम्पत्ति व दूसरी ओर आसुरी-सम्पत्ति—ऐसी दो सेनाएं खड़ी हैं। इसमेंसे आसुरी सम्पत्तिको छोड़ना व दैवीको

पकड़ लेना चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि कालसे होता चला आया है। बीचमें जो काल गया, उसमें भी बहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी बहुत विकास बाकी है। विकासकी मर्यादा खतम हो गई हो, सो बात नहीं। जबतक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तबतक विकासके लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो गया तो भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासका खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखों व्यक्तियोंके विकासकी शुरूआत करनी होती है। जैसे मानव द्वारा अहिंसाका विकास अनादि कालसे हो रहा है, तो भी, आज भी, वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिंसाका विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। उससे यह समझमें आ जायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय? शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय वर्ग बनाया गया; परन्तु वह आगे जाकर समाज-भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त क्षत्रियोंसे समाजका बचाव कैसे किया जाय, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुरामने खुद, अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलम्बन किया व क्षत्रियोंका विनाश करने लगे। क्षत्रियोंसे हिंसा छुड़ानेके लिए वे स्वतः हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था; परन्तु वह सफल नहीं हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार उन्होंने किया, फिर भी क्षत्रिय बचे ही रहे; क्योंकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोंको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रिय बढ़ गया। तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता? खुद ही हिंसक क्षत्रिय बन गया। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर जो झाड़-पेड़ तोड़ता है, उसे वे पेड़ पुनःपुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी। परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वतः क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह कि उन्हें खुदसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे खुद अपना ही सिर

उड़ा देते; परन्तु मैं जो यहां परशुरामका दोष दिखा रहा हूँ, सो इस खयाल से नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं, परन्तु उनके कंधेपर खड़ा हूं, इससे मुझे अनायास अधिक दूर दिखाई देता है। परशुरामके प्रयोगकी बुनियाद ही गलत थी। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना संभव नहीं। इससे उल्टे हिंसकोंकी संख्या अलबत्ते बढ़ती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आई। उस समयके भले-भले आदमियोंने, महान् अहिंसामय लोगोंने जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसाका अवलम्बन किया था।

किन्तु वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी। उन्होंने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणसे बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हैं ही। उन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। कांटेसे कांटा निकाल डालना चाहिए। हम खुद अपने अलग-थलग बने रहें। सो विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा विचार करते हैं कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पांव नहीं हैं, ऐसी लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी? परन्तु वसिष्ठ-विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्रने कहा होता, "मैं मर भले ही जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।" क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा करनेका प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि खुद अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। कोई क्षत्रिय यदि नहीं मिला, तो अहिंसक मर जाना पसन्द करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। विश्वामित्रके साथ जाते हुए राम पूछते हैं—"ये ढेर किस चीजके हैं?" विश्वामित्र ने कहा—"ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार न किया। वे मर मिटे। उन्हींकी

हड्डियोंके ढेर हैं।" इस अहिंसामें ब्राह्मणोंका त्याग तो था; परंतु साथ ही दूसरोंसे अपने संरक्षणकी अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलताके रहते हुए अहिंसा पूर्णताको नहीं पहुंच सकती थी।

आगे तीसरा प्रयोग संतोंने किया। उन्होंने तय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोंकी सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" इनका यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होंने पूर्णताको पहुंचा दिया, परन्तु आखिर रहा यह व्यक्तिगत ही। समाजपर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते व समाज संतोंसे आकर पूछता कि 'अब क्या करें' तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसा ले आनेवाले वे संत समाजको यही जवाब दे पाते—"भाई, हम लाचार हैं।" संतोंकी इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है, परन्तु उनके कंधेपर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है वही मैं बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे। क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हें प्रेरणा न हुई हो, ऐसा नहीं कह सकते। लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परन्तु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोंसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोंसे शास्त्र बनता है।

संतोंके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनके द्वारा हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी व है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परन्तु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे, और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमें भी बहुत कुछ हिंसाका भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म व भक्तिका ही नहीं, तमाम सद्गुणोंका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है। परंतु व्यक्ति और समुदायके जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना

बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मंत्रोंके दृष्टा समझे जाते थे, कर्त्ता नहीं; क्योंकि उन्हें मंत्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नहीं है; क्योंकि उन्हींके आधारपर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहां जो अहिंसाके ही विकासकी बात कर रहा हूं वह इसलिए कि यदि हम सब सद्‌गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें ही पड़े हुए हैं। अतः मैंने बताया कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

(९१)

अबतक हमने अहिंसाका यह एक पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें? व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ों-में अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। लेकिन झगड़ा तो मनुष्य व पशुमें भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया है, व पशुको पेटमें ठूसकर वह जी रहा है। अपने झगड़े वह अभीतक मिटा नहीं पाता है, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओं —जीवोंको खाये बिना वह जी नहीं सकता। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जिया जाय, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्य मनुष्यकी तरह नहीं जी सकता; परन्तु इस बातका भी विकास हो रहा है। एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओंपर ही अपना निर्वाह करता था। परंतु जो उत्तम व बुद्धिमान लोग थे, उन्हें यह नहीं जंचा। उन्होंने यह पाबन्दी लगाई कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञमें बलि दिये गये पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसाकी रोक हो। कइयोंने तो पूर्ण रूपसे भी मांस छोड़ दिया। परंतु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गई कि वे उस यज्ञमें परमे-श्वरको अर्पण करके, कुछ तपस्या करके फिर खावें। उस समय यह समझा गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं, ऐसी पाबन्दी लगा देनेसे हिंसा रुक जायगी; परंतु बादमें यज्ञ एक रोजमर्राकी चीज हो गया। जिसके

जीमें आता वही यज्ञ करने लगा और मांस खाने लगा। तब भगवान् बुद्ध कुछ आगे बढ़े। उन्होंने कहा—'तुम्हें मांस खाना हो तो खाओ परंतु निदान भगवान्का नाम लेकर तो मत खाओ।" इन दोनों वचनोंका हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयमके मार्गपर आवे। यज्ञयाग करो या न करो—दोनोंसे हमने मांसाशन त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस खानेसे परहेज करने लगे।

संसारके इतिहासमें अकेले भारतवर्षमें ही यह महान् प्रयोग हुआ। करोड़ों लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया और आज हम मांस नहीं खाते हैं, इसमें हमारी कोई बड़ाई नहीं है। पूर्वजोंकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गये हैं; परन्तु पहलेके ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हमने कहा या पढ़ा तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। "क्या बकते हो? ऋषि और मांस खाते थे? कभी नहीं।" परन्तु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया है। इसका श्रेय उनको है। उन कष्टोंका अनुभव आज हमें नहीं होता। उनकी पुण्याई धरी-धराई हमें मिल गई। भवभूतिके उत्तररामचरितमें एक प्रसंग आया है। वाल्मीकिके आश्रममें वसिष्ठ ऋषि आये तब उनके स्वागतमें एक छोटा गायका बछड़ा मारा गया। तो एक छोटा लड़का बड़े लड़केसे पूछता है—"आज हमारे आश्रममें एक दाढ़ीवाला शेर आया है। उसने हमारा बछड़ा खा डाला न?" बड़ा लड़का जवाब देता है—"हट, वे तो वसिष्ठ ऋषि हैं। ऐसा मत बको।" पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते—इसका अर्थ यह नहीं, कि हम आज उनसे बड़े हो गये हैं। उसके अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए। हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देनेका भी प्रयोग करना चाहिए। मनुष्यका अन्य जीवोंका दूध पीना भी है तो अनुचित ही। वह हजार साल आगे आनेवाले लोग हमारे विषयमें कहेंगे—"क्या हमारे पूर्वजोंको दूध न पीनेका व्रत लेना पड़ा था? राम राम, वे दूध कैसे पीते होंगे? ऐसे वे जंगली थे?" मतलब यह कि हमें निडर होकर, लेकिन नम्रतापूर्वक, अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी बहुत गुंजायश है। किसी भी

गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

(९२)

हमें दैवी सम्पत्ति का विकास करना है व आसुरी सम्पदासे दूर रहना है। आसुरी सम्पत्तिका वर्णन भगवान्ने इसलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरोंके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति व सम्पत्ति' इनमें है। वे कहते हैं—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसारपर लादी जाय। हमारी ही संस्कृति क्यों लादी जाय ? तो कहते हैं वही सबसे अच्छी है। अच्छी क्यों है ? क्योंकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे उनसे बने साम्राज्य हों, उनके लिए ये तीन चीजें आवश्यक हैं।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमें भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारी दुनियामें होनी चाहिए। 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः' इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ। परन्तु पीठपर जहां 'सशरं धनुः' रहा तो फिर आगे हाथमें रक्खे बेचारे वेदोंका खात्मा ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। दूसरे मजहबका आदमी कितना ही उच्च कोटिका क्यों न हो, वह जबतक ईसामसीहपर विश्वास नहीं लाता तबतक वह स्वर्गमें नहीं जा सकता। भगवान्के मंदिरका उन्होंने सिर्फ एक ही दरवाजा रक्खा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने-अपने घरोंमें अनेक दरवाजे व खिड़कियां लगाते हैं; परन्तु बेचारे भगवान्के मंदिरका सिर्फ एक ही दरवाजा वे रखते हैं।

"मैं हो कुलीन श्रीमंत, मेरी जोड़ कहीं नहीं।"

यही सब मानते हैं। मैं कौन ? तो भारद्वाज-कुलका ? मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। हमारी नसोंमें कहते हैं, नार्मन लोगोंका खून बहता है! हमारे यहां गुरु-परंपरा है व मूल आदि गुरु हैं शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर

नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीच में दस-पांच नाम आते हैं, बादमें अपने गुरुका नाम व फिर मैं---ऐसी परंपरा बताई जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम बड़े, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है तो उसे आपके आचरणमें दीखने दो न ! उसकी प्रभा आपके जीवनमें फैलने दो न ! परन्तु ऐसा नहीं होता । जो संस्कृति खुद हमारे जीवनमें नहीं है, हमारे घरमें नहीं है, उसे संसारभरमें फैलानेकी आकांक्षा रखना---इस विचार-सरणिको आसुरी कहते हैं ।

फिर, जैसे मेरी संस्कृति सुन्दर, बढ़िया है, वैसे ही यह विचार भी है कि संसारकी सारी सम्पत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हूं। संसारकी सारी संपत्ति मुझे चाहिए व मैं उसे प्राप्त करके ही रहूंगा। यह संपत्ति प्राप्त किसलिए करूं ? तो सबमें समान रूपसे बांटनेके लिए; इसके लिए मैं स्वतः अपनेको धन-संपत्तिमें गाड़ लेता हूं। अकबरने यही तो कहा था--"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यों नहीं शरीक होते ? एक बड़ी सल्तनत हो जाय तो दुनियामें अमनोअमान कायम हो जायगा।" वह सचमुच ईमानदारीसे ऐसा मानता था। वर्त्तमान असुरोंकी भी ऐसी ही धारणा है। दुनियाभरकी संपत्ति बटोरी क्यों जाय ? उसे फिर सबमें बांटनेके लिए !

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्रीभूत होनी चाहिए । सारी दुनिया मेरे तंत्रमें आजानी चाहिए। स्व-तंत्र-मेरे तंत्र---के अनुसार चलनी चाहिए। जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्रसे चलेगा वही स्व-तंत्र। इस तरह संस्कृति, सत्ता व संपत्ति इन तीन मुख्य बातोंपर आसुरी संपत्तिमें जोर दिया जाता है ।

एक समय ऐसा था जब समाजमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था। वे शास्त्रोंकी, कानूनकी रचना करते थे। राजा उन्हें बड़ा मानता था। वह युग बदला। क्षत्रियोंका युग आया---घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय होने लगे। यह क्षत्रिय-संस्कृति भी आई व चली गई । ब्राह्मण कहता---"मैं विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन ?" ब्राह्मणोंको अपनी संस्कृतिका अभिमान था, क्षत्रियोंका जोर सत्तापर था। "आज इसे मारा, कल उसे मारूंगा।" इस बातपर उनका सारा जोर रहता था । फिर

वैश्योंका युग आया। उनका सारा तत्त्वज्ञान यही है—"पीठपर मारो, पर पेटमें मत मारो।" इसमें वैश्योंका सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल। "यह धन मेरा, और वह भी मेरा हो जायगा।" यही जप और यही संकल्प। अंग्रेज हमें कहते हैं न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो; परंतु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियतें हमें दे दो। फिर भले ही आप अपनी संस्कृतिका अध्ययन करते रहिए। लंगोटी लगाओ और अपनी संस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं वे व्यापारके लिए ही। यह युग भी जायगा, जानेकी शुरूआत भी हो गई है। इस तरहसे ये सब आसुरी संपत्तिके प्रकार हैं।

(९३)

हम आसुरी संपत्तिको दूर हटाते रहें। थोड़ेमें कहें तो आसुरी संपत्तिका अर्थ है "काम, क्रोध, लोभ।" यही तीनों सारे संसारको नचा रहे हैं। अब इस नाचको खतम करो। इससे हमें बाज आना ही चाहिए। क्रोध व लोभ कामकी बदौलत पैदा होते हैं। कामके अनुकूल परिस्थिति पैदा होनेसे लाभ पैदा होता है व प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें हर कदम पर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो। सोलहवें अध्यायके अंतमें यही कहा है—काम-क्रोध-लोभ यही नरकके तीन बड़े फाटक हैं। इनमें बहुत राहदारी होती है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरकका रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते हैं; परन्तु सत्यकी राह संकड़ी है।

तो अब, इन काम-क्रोध-लोभसे बचें कैसे? संयम-मार्ग अंगीकार करके। शास्त्रीय संयमका पल्ला पकड़ लेना चाहिए। संतोंका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतोंको हुए उन्हींसे शास्त्र बनता है। सो इस संयम-सिद्धांतका हाथ पकड़ो। फजूल शंका-कुशंका मत रक्खो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइये कि यदि काम-क्रोध उठ गये तो फिर दुनियाका क्या हाल होगा, वह तो चलनी ही चाहिए, काम-क्रोध थोड़े भी न रहने चाहिए? मेरे भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर हैं। आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं ज्यादा हैं। फिर

क्यों व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते हैं ? काम-क्रोध-लोभ आपकी चाहसे इंच भर अधिक ही दुनियामें है। यह चिंता मत रखिए कि काम मर जायगा तो संतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा कीजिए, एक दिन ऐसा आने ही वाला है, जब पृथ्वी परसे मनुष्यका नाम-निशान एकदम मिट जायगा। शास्त्रज्ञोंका, विज्ञानियोंका ऐसा कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यंत उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नहीं रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। अब एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यन्त ठंडी हो जायगी व सारी जीव सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातको लाख साल लग जायंगे। आप कितनी संतान वृद्धि क्यों न करें, अंतको यह प्रलय निश्चित रूपसे आने ही वाला है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-संरक्षणके लिए, संख्या-संरक्षणके लिए नहीं। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु व सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिंता नहीं। उसीकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिसका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोग रहें तो क्या, व न रहें तो क्या, दोनों एक-से हैं।

इस बातपर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिए, संयमसे चलिए। सीमा छोड़कर बेतहाशा मत भागिये। लोक-संग्रहका अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें वैसा किया जाय। मनुष्यका संघ बढ़ाते जाना, संपत्तिका ढेर इकट्ठे करते जाना—यह सुधार नहीं। विकास संख्यापर अवलंबित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा तो लोग एक-दूसरे-का खून करने लग जायंगे। पहले पशु-पक्षियोंको खाकर मनुष्य मस्त बनेगा। फिर अपने लड़के बच्चोंको खाकर रहना पड़ेगा। काम-क्रोध-में कुछ सार है, यह बात यदि मान लें तो अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड़ खायगा इसमें तिलमात्र संदेह नहीं है। लोक-संग्रह का अर्थ है सुन्दर व विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोंको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जाने-पर यदि मनुष्यका लोप पृथ्वीसे हो जायगा, तो आप चिंता न करें वह मंगल (ग्रह) में उत्पन्न हो जायगा। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है, वह हमारी चिंता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखनेकी ज़रूरत नहीं है। सारी सृष्टि व मानव-जातिकी चिंता मत करो।

तुम अपनी नैतिक शक्तिको बढ़ाओ; काम-क्रोधका पल्ला झाड़कर फेंक दो। "अपना तो गला लो पहले छुड़ा।" तुम्हारी गर्दन जो फंस रही है, पहले उसे तो छुड़ा लो। इतना कर लिया तो बहुत काम बन गया।

संसार-समुद्रसे दूर किनारे खड़े रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनंद है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिसकी आंख-नाकमें पानी भर गया है, उसे समुद्रमें क्या आनंद है? संत समुद्र-तटपर खड़े रहकर आनंद लूटते हैं। संसारसे लिप्त रहनेकी इस संतवृत्तिका जीवनमें संचार हुए बिना आनन्द नहीं हो सकता। अतः कमल-पत्रकी तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है, "संत महान् पर्वतके शिखरपर खड़े रहकर नीचे संसारकी ओर देखते हैं—तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़कर देखिए तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर संसारमें मन ही नहीं लगगा।

सारांश, भगवान्ने इस अध्यायमें आग्रह-पूर्वक कहा है कि आसुरी संपत्तिको हटाकर दैवी संपत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार, ५-६-३२

सत्रहवां अध्याय

(९४)

प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे सिरेतक पहुंचते आ रहे हैं। पंद्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके संपूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्यायमें एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनम, और उसके मनके प्रतिबिंबस्वरूप समाजमें, दो वृत्तियों, दो संस्कृतियों अथवा दो संपत्तियोंका झगड़ा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी संपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमें सोलहवें अध्यायके परिशिष्टमें मिली है। आज सत्रहवे अध्यायमें हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना कर रही है। आजके अध्यायमे हमें नित्य-क्रियापर विचार करना है।

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है जबकि हमारा जीवन उस मर्यादामें और उस निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छंदतासे बहती है; परन्तु उसका प्रवाह बंधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आंखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोंका आचार्य है। भगवान्‌ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्यसे मनुको—अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसीमें उसकी स्वतंत्रताका रहस्य है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि अगर हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते

निकालते रहेंगे तो सारा ध्यान उन रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। मतलब यह कि हमें अपना व्यवहार इसलिए बांध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझसा मालूम न हो, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम पैदा होते ही तीन संस्थाएं साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भली-भांति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बनाती है। वे तीन संस्थायें कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आस-पास लपेटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आस-पास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड—यह अपार सृष्टि, जिसके कि हम एक अंश हैं। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्म की प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन आती है उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवनको सफल बनावें। इन संस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्त्तव्य हमें निरंहकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्त्तव्योंको पूरा तो करना है, परन्तु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते हैं। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवन में समाविष्ट करें तो ये संस्थाएं सफल हो जायं और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

(९५)

इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि यज्ञका अथ क्या है। सृष्टि-संस्थासे हम प्रति दिन काम लेते हैं। अगर सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहांकी सारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहांकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते हैं। अन्न खाते

हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी हमें पूर्ति करनी चाहिए। इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है। यज्ञका उद्देश्य क्या है? सृष्टिकी जो हानि हो गई है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—"पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो; जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो। उसमें खाद डालो। छीजनकी पूर्ति करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है उपयोगमें लाई हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएंका उपयोग करते हैं जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएंके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गई है, उसे शुद्ध करना चाहिए। वहांका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए। कीचड़ दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहां कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए। यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हमने कपड़ा पहना; तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्त्तव्य-भावना उसमें होनी चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं। जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं। अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए वह नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करनेकी जरूरत है।

दूसरी संस्था है हमारा मनुष्य-समाज। मां-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दान-की व्यवस्था की गई है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसारमें आया तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है। इसलिए मुझे समाजकी सेवा

करनी चाहिए। परोपकार कहते हैं दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परंतु यहां तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढ़नेमें मदद करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरा करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है, और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी संस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी दिन प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय—सबसे काम लेते हैं—इ .को छिजाते हैं। इस शरीर-रूपी संस्थामें जो विकार—जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिए तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर, इन तीनों संस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएं निर्माण करते हैं; परन्तु ये तीन संस्थाएं हमारी बनाई हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही हमको मिल गई हैं। ये संस्थाएं कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीन संस्थाओंको हानि, यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें तो जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है, वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति बाकी ही नहीं बचेगी। सृष्टि, समाज और यह शरीर, इन तीनों संस्थाओंको समुचित रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभु, तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूं, तू इसे अच्छी तरह संभालकर देख ले" तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परन्तु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान व तप यह त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें पूरा करना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहां अलग-अलग माना है। परन्तु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं है। क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाएं हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिसे बाहर है। इन तीनोंको मिलाकर एक ही भव्य

सृष्टि-संस्था बनती है । इसीलिए हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उस सबको व्यापक अर्थमें 'यज्ञ' ही कह सकते हैं। गीताने चौथे अध्यायमें 'द्रव्य-यज्ञ', 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ बताये हैं । गीताने यज्ञके अर्थको विशाल बना दिया है ।

इन तीनों संस्थाओंके लिए हम जो-जो सेवा कार्य करेंगे, वे यज्ञ-रूप ही होंगे । सिर्फ जरूरत है, उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी । उसमें फल-की अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। कर्जा तो पहलेसे ही सिर पर चला आ रहा है। जो ले लिया है, उसे ही वापस करना है । यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्राप्त होती है । दानसे समाजमें साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका यह कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी । दूषित भाव नष्ट हो जायगा ।

यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ भोग भी ग्रहण करना पड़ेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अंग है । इस भोगको गीता आहार कहती है । इस शरीर-रूपी यंत्रको अन्न रूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नहीं है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अंग जरूर है। इसलिए हम कहा करते हैं—"उदर भरण नहीं, जानो यह यज्ञ-कर्म।" बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढ़ाना यह पूजा है । परंतु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमें जो मेहनत की जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञको पूरा करनेके लिए जो कुछ क्रिया की जाती है, वह एक प्रकारकी पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा, जब हम उसे आहार देंगे। यज्ञ-साधन रूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोंको 'तदर्थीय कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म' कहती है । सेवार्थ शरीर सतत खड़ा रहे इसलिए इस शरीरको मैं जो आहुति दूंगा वह यज्ञ-रूप है । सेवाके लिए ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र है ।

इन सब बातोंके मूलमें फिर श्रद्धाकी जरूरत है । सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमें होना चाहिए । यह बहुत महत्त्वकी बात है । ईश्वरार्पण-बुद्धि सेवामयताके बिना नहीं आ सकती । इस प्रधान वस्तु, ईश्वरार्पणता, को भुला देनेसे काम नहीं चलेगा ।

(९६)

परन्तु हम अपनी सब क्रियाएँ ईश्वरको कब अर्पण कर सकेंगे ? तभी जबकि वह सात्त्विक होंगी। जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे । यज्ञ, दान और तप सब सात्त्विक होने चाहिए । क्रियाओंको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है। इस अध्यायमें गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है।

सात्त्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है । बाहरसे यज्ञ, दान व तप-रूप जो मेरी सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सके। सृष्टिकी सेवा और साधना-के भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए। सेवा और साधना ये दो भिन्न बातें हैं ही नहीं । दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म । इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अन्तमें ईश्वरार्पण करना है । समाज-सेवा, अधिक साधना, ईश्वरार्पणता, यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए ।

यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है। निष्फ-लताका अभाव और सकामताका अभाव। ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए। यज्ञमें यदि सकामता होगी, तो वह राजस हो जायगा और यदि निष्फलता होगी तो वह तामस यज्ञ हो जायगा।

सूत कातना यज्ञ है। परन्तु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उंडेली, हमारे चित्तकी एकाग्रता नहीं हुई तो यह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायगा। बाहरसे हाथ काम कर रहे हैं, उस समय अंदरसे मनका मेल—मनोयोग—नहीं है, तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी। विधिहीन कर्म जड़ हो जाते हैं। विधिहीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है। उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता । उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी। यज्ञमें सकामता न हो, तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए। यदि कर्म मन लगाकर न हुआ, अंतःकरणसे न हुआ तो कर्म एक बोझ होगा। फिर उससे उत्कृष्ट फल कहां ? यदि बाहरका

काम बिगड़ा तो यह निश्चित समझो कि अन्दर मनका योग नहीं था। अतः कर्ममें अपनी आत्मा उंडेलो। आंतरिक सहयोग रखो। सृष्टि-संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोंमें फलहीनता न आने पाये इसीलिए आंतरिक मेलकी विधि-युक्तता आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अन्दर निष्कामता आ जायगी और विधि-पूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। तो अब चित्त-शुद्धि की कसौटी क्या है? बाहरी कामकी जांच करके देखो, यदि वह निर्मल और सुन्दर न हो, तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नहीं। भला, कर्ममें सुन्दरता कब आती है? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसंदगी की, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमकी थपकी लगाता है, तो वहां सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यके मानी हैं, पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरी प्रसाद। कोई शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है, तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुंदर मूर्ति मेरे हाथोंसे नहीं बनी। मूर्तिका आकार घड़ते-घड़ते अंतिम क्षणमें न जाने कहांसे उसमें अपने आप सौंदर्य आ जाता है। क्या चित्त-शुद्धि-के बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य—माधुर्य—है, वह यही कि अपने अंतःकरणका सारा सौंदर्य उसमें उंडेल दिया होता है। मूर्तिके मानी हैं, हमारे चित्तकी प्रतिमा। हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियां हैं। अगर मन सुन्दर है, तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुन्दर होगी। बाहरके कर्मोंकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जांच लेनी चाहिए।

एक बात और कहना रह गई। वह यह कि इन सब कर्मोंमें मंत्रकी भी आवश्यकता है। मंत्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रक्खो कि मैं इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूं। यदि यह मंत्र हृदयमें न हो और घंटों क्रिया की तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नहीं होगा। कपासकी पोनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्र-रूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर

फिर उस क्रियाकी तरफ देखो। यह क्रिया अति सुन्दर व सात्त्विक हो जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञ-रूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ बंध जायंगे। बालकृष्णके छोटेसे मुंहमें यशोदा मांको सारा विश्व दिखलाई दिया। अपने उस मंत्रमय सूत्रके धागेमें भी तुमको विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

(९७)

ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौनसा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्व की है, कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नहीं है; लेकिन हम जो आहार लेते हैं वह उचित मात्रामें है या नहीं, यह उससे भी अधिक महत्त्व-की बात है। हम जो कुछ खाते हैं, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यों हैं? इसलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी एक यज्ञांग ही है। सेवा-रूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहारकी जरूरत है। इस भावनासे आहारकी तरफ देखो। आहार शुद्ध व स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं; परन्तु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए काफी तपस्या की है। आहारशुद्धिके लिए हिन्दुस्तानमें विशाल प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयोगोंमें हजारों वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या खर्च हुई, यह नहीं कहा जा सकता। इस भूमंडलपर हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश है, जहां जमातकी जमातें अमांसभोजी हैं। जो जातियां मांसभोजी हैं, उनके भी भोजनमें मांस मुख्य और नित्य वस्तु नहीं है, और जो मांस खाते हैं, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बंद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ाई। श्री कृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं, परन्तु हिन्दू जनता किस कृष्णके

पीछे दीवानी हुई थी ? हिन्दू जनताको तो 'गोपाल कृष्ण,' 'गोपाल कृष्ण,' यही नाम प्रिय है। जिसके पास गायें बैठी हुई हैं, जिसके अधरोंपर मुरली रखी हुई है, ऐसा गायोंकी सेवा करनेवाला, गोपाल कृष्ण ही आबाल-वृद्धोंको परिचित है। इस प्रकार गो-रक्षणका बड़ा उपयोग मांसाहार बंद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा बढ़ी और मांसाहार कम हुआ।

फिर भी संपूर्ण आहार-शुद्धि हो गई हो सो बात नहीं। हमें अब उस सिलसिलेको आगे बढाना है। बंगाली लोग मछली खाते हैं, यह देखकर कितने लोगोंको आश्चर्य होता है। किन्तु इसके लिए उनको बुरा कहना ठीक न होगा। बंगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरका सब तरह पोषण नहीं हो सकता। इसके लिए प्रयोग करने पड़ेंगे। फिर लोगोंमें इस बातका विचार शुरू होगा कि मछलीकी एवजमें कौनसी वनस्पति खायें जिसमें मछलीके बराबर ही पौष्टिक तत्त्व मिल जायं। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होंगे और फिर ऐसे प्रयोग होंगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जा सकते हैं। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कहीं जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते हैं और जब वे बड़ी श्रद्धा-पूर्वक परिस्थितियोंके बंधन तोड़कर बिना पंखोंके अपने ध्येयाकाशमें उड़ने लगते हैं, तब कहीं संसार-उपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें संचार होता है। मांसाहार बन्द करनेके लिए ऋषियोंको कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पड़े होंगे ? इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमें आता है।

सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनंत त्याग करके हमारे पूर्वजोंने जो कमाई की है, उसे तुम गंवाओ मत ! भारतीय-संस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत ! हमको येन-केन प्रकारेण जीवित नहीं रहना है। जिसको किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बड़ा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या जैसे पशु वैसे ही हम ? पशुमें और हममें अंतर है। उस अंतरको बढ़ाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। अपने राष्ट्रने मांसाहार त्यागका बहुत बड़ा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ।

कम-से-कम जिस मंजिलतक हम पहुंच चुके हैं, उससे पीछे तो मत हटो।
इसके उल्लेख करनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोंको
मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी व पश्चिमी सभ्यता-
का एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ रहा है। मेरा विश्वास है कि अन्तमें इसका
परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड़
श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गई तो कुछ हानि नहीं
है। जो अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जल जायगा।
अंध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अंध-अश्रद्धा अलबत्ता उत्पन्न न होनी
चाहिए। यह नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने
ही अंध विशेषणका ठेका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारेमें आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है।
कुछ भी हो, मुझे तो जब कोई नवीन विचार सामने आता है, तो बड़ा आनन्द
होता है। उससे कम-से-कम ऐसा अनुभव जरूर होता है कि लोग जग
रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है।
लेकिन यदि जगकर आंखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे तो गिर पड़नेकी
आशंका रहती है। अतः जबतक पूरे-पूरे न जग जायं, अच्छी तरह आंख
खोलकर देखने न लगें, तबतक हाथ पैरोंको मर्यादामें ही रखना अच्छा है।
विचार खूब कीजिए ; पक्ष-विपक्ष, उल्टे-सीधे, सब तरफसे खूब सोचिए।
धर्मपर विचारकी कैंची चलाइए। इस विचार-रूपी कैंचीसे जो धर्म कट
जाय, समझो कि वह तीन कौड़ीका था। इस तरह जो टुकड़े कट-छंट जायं,
उन्हें जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि जिससे उल्टी तुम्हारी
कैंची ही टूट जाय वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं।
अतः विचार तो करो; परन्तु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर
यदि कुछ काम करोगे तो धड़ामसे गिर पड़ोगे। विचार बहुत जोर मार
रहे हों, तो भी अभी आचारको संभालकर रखो। अपनी कृतिपर संयम
रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गंवा बैठो।

(९८)

बल मिलेगा। समाज-
आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्ध रहेगा। शरीरको भी

सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्तमें संतोष रहेगा और समाजमें भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ-दान-तप-क्रिया विधि और मंत्र सहित होती रहती है, उसमें विरोध दिखाई नहीं देगा। दो कांच यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हों तो जैसे इसमेंका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिंब-प्रतिबिंब-न्यायसे परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका और जो समाजका है वही मेरा। इन दोनों संतोषोंकी हम जांच कर सकेंगे और हम इस नतीजेपर पहुंचेंगे कि दोनों एक-रूप हैं। चारों ओर अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायंगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजनाके द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनावें तो क्या ही बहार हो!

परन्तु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध किस प्रकार दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है? व्यक्ति गौण है या समाज? इनमें श्रेष्ठ कौन है? व्यक्तिवादके कोई समर्थक समाजको जड़ समझते हैं। सेनापतिके सामने अगर कोई सिपाही आता है, तो उससे बोलते समय वह सौम्य भाषाका उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा; परन्तु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो—लकड़ीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है, समाज जड़। देखो, ऐसा अनुभव यहां भी हो रहा है। मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी हैं; परन्तु उन्हें रुचे या न रुचें, मैं तो बोलता ही जा रहा हूं। मुझे जो विचार आता है, वही कहता रहता हूं। मानो आप जड़ ही हैं। परन्तु अगर मेरे सामने कोई व्यक्ति आया तो मुझे उसकी बात सुननी पड़ेगी और उसे विचार-पूर्वक उत्तर देना पड़ेगा; परन्तु यहां तो मैंने आपको घंटे-घंटेभर यों ही बैठा रखा है।

"समाज जड़ है, और व्यक्ति चैतन्य"—ऐसा कहकर व्यक्ति चैतन्य-वादका कोई-कोई प्रतिपादन करते हैं और कोई समुदायको महत्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये। आंखें चली गईं। हाथ टूट गया और दांत

गिर गये; इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया; परन्तु मैं फिर भी जीवित रहता हूं, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एकके नाशसे सर्वनाश नहीं हो जाता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएं हैं। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे, वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चश्मा, उसी रंगकी सृष्टि।

कोई व्यक्तिको महत्व देता है, कोई समाजको। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना प्रसृत हो गई है; परन्तु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते? कलह तो मरनेके लिए है। इसीकी बदौलत हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमें अन्तर है, उसको अजीब ही कहना चाहिए। भला, जो वस्तु वास्तवमें है ही नहीं, उसके अस्तित्वको आभासित करनेकी शक्ति जिसकी अक्लमें थी, उसका गौरव करनेको जी चाहता है! जो भेद नहीं है, वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको पढ़ाया। इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बनाना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नहीं है। इन सबका कारण है, यज्ञमय जीवनका आजका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परन्तु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहरपर उस कमरेके भाग अवलंबित रहते हैं, वे स्थायी—पक्के नहीं हैं। गीता इन झगड़ोंसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतः-शुद्धिका कानून पालो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें बाधा नहीं होगी। इस बाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमपर अमल करनेवाला अगर एक भी आदमी मिल जाय, तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र संपन्न

हो जायगा । राष्ट्र है राष्ट्रके व्यक्ति । जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचार-संपन्न व्यक्ति नहीं हैं, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे ? हिन्दुस्तान क्या है ? हिन्दुस्तान रवींद्रनाथ है, हिन्दुस्तान गांधी है या इसी तरहके पांच-दस नाम। बाहरका संसार हिन्दुस्तानकी कल्पना इन्हीं पांच-दस व्यक्तियों परसे करता है। प्राचीनकाल के दो-चार, मध्यकाल के चार-पांच और आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिए और उनमें हिमालय, गंगा आदिको मिला दीजिए। बस हो गया हिंदुस्तान। यही है हिन्दुस्तानकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्याका भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोंका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन ! झगड़ा दूध-दही, छाछ-मक्खनका नहीं है। दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियोंपरसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हो भी कैसे सकता है ? व्यक्ति-व्यक्तिमें भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक संपन्न हो जाय तो इससे क्या हानि हुई ? हां, कोई भी विपन्न अवस्थामें न हो और संपत्तिवालोंकी संपत्ति समाजके काम आती रहे, बस। अतः मेरी दाहिनी जेबमें पैसे हैं तो क्या और बाई जेबमें हैं तो क्या ! दोनों जेब आखिर हैं तो मेरे ही। अगर कोई व्यक्ति संपन्न हुआ तो उसमें मैं संपन्न होता हूं, राष्ट्र संपन्न होता है, ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परन्तु हम भेद खड़े करते हैं। अगर धड़ और सिर अलग-अलग हो जायंगे तो दोनों ही मर जायंगे। अतः व्यक्ति और समाजमें भेद मत करो। और गीता यही सिखाती है कि एक ही क्रिया स्वार्थ और परमार्थको किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामें और बाहरकी अनन्त हवामें कोई विरोध नहीं है। यदि मैं इनमें विरोधकी कोई कल्पना करके कमरा बन्द कर लूंगा तो दम घुटकर मर जाऊंगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो तो वह अनन्त हवा अन्दर आ जायगी। जिस क्षण मैं अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरोंसे अलग करता हूं, उसी क्षण मैं अनन्त संपत्तिसे वंचित हो जाता हूं। अगर मेरा वह छोटा-सा घर जल गया, गिर गया तो मैं ऐसा समझकर कि, मेरा

सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूं। परन्तु ऐसा क्यों करना चाहिए ? क्यों रोना-पीटना चाहिए ? पहले तो संकुचित कल्पना करें और फिर रोयें ! ये पांच सौ रुपये मेरे हैं, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार सम्पत्तिसे मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे हैं, ऐसा समझा कि संसारके असंख्य भाई मुझसे दूर हो गये। इसका हमें खयाल नहीं रहता। ओफ्, मनुष्य अपनेको कितना संकुचित वना लेता है ! वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परमार्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल सुन्दर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें अच्छा सहयोग हो। जीभ और पेटमें क्या विरोध है ? पेटको जितना अन्न चाहिए। उतना ही जबानको देना चाहिए। पेटने 'बस' कहा कि जीभको लेना बन्द करना चाहिए। पेट एक संस्था है, जीभ दूसरी संस्था। मैं इन संस्थाओंका सम्राट् हूं। इन सव संस्थाओंमें अद्वैत ही है। कहांसे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन संस्थाओंमें वास्तविक विरोध नहीं है, बल्कि सहयोग है उसी प्रकार समाजमें भी है। समाजमें इस सहयोगको बढ़ानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धि-पूर्वक यज्ञ-दान-तप-क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज दोनोंका कल्याण होगा।

जिसका यज्ञमय जीवन है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि मांका प्रेम मेरे ऊपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय व अन-नाने योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र ह, सखा है।

ऐसा पुरुष तो है धन्य, लोग चाहें उसे अनन्य।

ऐसा समर्थ रामदास ने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी तरकीब गीताने बताई है।

(९९)

गीताका यह और कहना है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जानेपर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह आसानीसे कह तो गये

कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परन्तु यह करना वहुत कठिन है। अनेक जन्मोंमें जाकर वह थोड़ा-वहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरशः सेवामय, हो जायं तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मंत्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहों आना सेवामय होना कठिन है। क्योंकि परमार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परमार्थ संभव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जिसमें मेरा स्वार्थ लेशमात्र भी न हो। इसलिए दिन-प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ सेवा हाथोंसे हो, ऐसी इच्छा रखना चाहिए। यदि यह चाहते हों कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो तो सारी क्रियाएं ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेव ने कहा है—

'जीवन-कला साधते योगी, वैष्णव को है नाम मधुर।'

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नामका आन्तरिक घोष और बाह्य-जीवन-कला दोनोंका मेल है। योगी वैष्णव एक ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देनेपर स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ सब एकरूप हो जाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं। उन्हें एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। 'ॐ तत्सत्' मंत्रमें यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्माके अनन्त नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोंका 'विष्णु-सहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें, वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमें उसे हम सृष्टिमें देखें और तदनुरूप हमारा जीवन बनावें। परमेश्वरका जो नाम मनको भावे उसीको सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार अपने आपको बनावें। इसको मैं 'त्रिपदा गायत्री' कहता हूं। उदाहरणके लिए ईश्वरका दयामय नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चलें कि वह रहीम हैं। अब उसी दयासागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आंखें खोलकर देखें। भगवान् ने हरेक बच्चेको उसीकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इसे तरह उस

दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देख व अपना जीवन भी दयामय बनावें । भगवद्गीता-कालमें भगवानका जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने बनाया है । वह है 'ॐतत्सत्' । ॐ का अर्थ है "हां," परमात्मा है ।

इस बीसवीं शताब्दि में भी परमात्मा है ।

"स एव अद्य स उ श्वः"

वही आज है, वही कल था और वही कल होगा । वह कायम है । सृष्टि कायम है, और कमर कसकर में भी साधना करनेके लिए तैयार हूं । मैं साधक हूं । वह भगवान् हैं, और यह सृष्टि—पूजा-द्रव्य—पूजा-साधन—है । जब ऐसी भावनासे हमारा हृदय भर जाय तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतर गया । वह है, मैं हूं और मेरी साधना भी है । ऐसा यह ओंकार-भाव मनमें बस जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए । सूर्यको जब कभी देखिये वह किरणों सहित दिखाई देगा । किरणोंको दूर रखकर कभी रह ही नहीं सकता । वह किरणोंको नहीं भुलाता । इसी प्रकार कोई भी किसी समय क्यों न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए । जब ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने आत्मसात् कर लिया ।

इसके बाद है 'सत्' । परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मंगल है । इस भावनासे अभिभूत होकर भगवानके मांगल्यको सृष्टिमें अनुभव करो । देखो तो वह पानीका पृष्ठ-भाग । पानीमेंसे एक घड़ा भर लो । उससे जो गड्ढा पड़ा वह क्षण भरमें ही भर जायगा । यह कितना मांगल्य है ? यह कितनी प्रीति है ! नदी गड्ढोंको सहन नहीं करती । गड्ढोंको भरनेके लिए दौड़ती है ।

'नदी वेगेन शुद्धयति'

सृष्टि-रूपी नदी वेगके कारण शुद्ध हो रही है । यावत् सृष्टि सब शुभ और मंगल है । अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो । परमेश्वरके इस सत् नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएं निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए । सोमरस जिस तरह पवित्रकोंमेंसे छाना जाता था, उसी तरह

अपने सब कर्मों और साधनोंको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए ।

अब रहा 'तत्'। 'तत्'का अर्थ है 'वह'—कुछ-न-कुछ भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है, अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय हुआ कि कमल खिलने लगते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं और अंधकार नष्ट हो जाता है। परन्तु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सब परिणामोंसे वह बिल्कुल अलग-सा रहता है। जब अपने कर्मोंमें अनासक्ति रखेंगे, अलिप्तता आ जायगी, तब समझिये कि हमारे जीवनमें 'तत्' प्रविष्ट हुआ।

इस प्रकार गीताने यह 'ॐतत्सत्' वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओंको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवें अध्यायमें सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। "यत्करोषि यदश्नासि" इस श्लोकमें यही कहा गया है। इसी बातका सत्रहवें अध्यायमें विवरण दिया गया है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी। यह बात यहां विशेष बताई गई है।

(१००)

यह सब ठीक है। किंतु यहां एक प्रश्न उठता है कि यह 'ॐ तत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही हजम हो सकता है। पापी पुरुष क्या करे? पापियोंके मुंहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नहीं? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापकी ओरसे निष्पापताकी ओर ले जा सकता है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी कमजोरीके समय वह तुम्हें सहारा देगा।

यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किंतु अहंकारी जीवन और दूसरी ओर पापमय किंतु नम्र जीवन, इनमेंसे किसी एकको पसंद करो।" तो यदि मैं मुंहसे न भी बोल सकूं तो अन्तःकरणसे कहूंगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो।" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती

है तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, मैं उसीको प्राप्त करूंगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हूं; परन्तु पाप इतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहंकार पाप-रूप है।

"कहीं ये सुजानपन, रोक न दे नारायण ?"

ऐसा तुकारामने कहा है। उस बड़प्पनकी जरूरत नहीं है। उसकी अपेक्षा तो पापी, दुःखी होना ही अच्छा है।

"ज्ञानी जो हैं बच्चे, उन्हें मां भी दूर रखे"

परन्तु अज्ञान बालकोंको मां अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं स्वावलम्बी पुण्यवान् होना नहीं चाहता। परमेश्वरावलम्बी पापी होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने-जैसी है। हम पापोंको रोकनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं रुके तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयगी। वह तो खड़ा-खड़ा खेल देख रहा है। पुकार करो—मैं पापी हूं, इसलिए तेरे द्वारे आया हूं। पुण्यवानको ईश्वर-स्मरण अधिकार है, क्योंकि वह पुण्यवान है और पापीको ईश्वर-स्मरणका अधिकार है, क्योंकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-३२

अठारहवां अध्याय

(१०१)

मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्यायतक आ पहुंचे हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी संकल्पका पूर्ण हो जाना परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। फिर जेलमें तो कदम-कदमपर अनिश्चितताका अनुभव होता है। यहां कोई काम शुरू करने पर फिर यहीं उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। शुरू करते समय यह उम्मीद ज़रा भी नहीं थी कि हमारी यह गीता यहां पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुंचे हैं।

चौदहवें अध्यायमें जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस, तामस, तीन भेद किये गये। इन तीनोंमेंसे राजस व तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्याय-में यही बात दूसरे ढंगसे कही गई है। यज्ञ, दान व तप या एक ही शब्दमें कहें तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म हैं, उन्हें सात्त्विक व यज्ञ-रूप बना करके ही ग्रहण करें; केवल उन्हीं कर्मोंको अंगीकार करें जो यज्ञ-रूप और सात्त्विक हैं, शेष कर्मोंका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐतत्सत्' इस मंत्रको क्यों हर समय याद रखना चाहिए। ॐ का अर्थ है सातत्य। 'तत्' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्त्वि-कता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोंसे यह मालूम होता है कि कुछ कर्म तो हमें करने हैं, और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम ध्यान देंगे तो उसका जगह-जगह यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके त्यागका

विधान करती है। गीतामें सब जगह यही शिक्षा दी गई है कि कर्म तो सतत करो, परन्तु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म किये जायं और कुछका त्याग किया जाय। इसलिए अन्तमें अठारहवें अध्यायके शुरूमें अर्जुनने पूछा––"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्याग-पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं। इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न पूछा गया। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'संन्यास' कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फल-त्यागमें कर्मका फलतः त्याग करना है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीसे संन्यासका कोई उपयोग है? संन्यासकी मर्यादा कहां तक है? संन्यास व फल-त्याग इन दोनोंकी मर्यादा कहां तक व कितनी है? अर्जुनका यही सवाल है।

(१०२)

उत्तरमें भगवान्ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी
एक सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व हर जगह लागू किया जा
सकता है। सब कर्मोंके फलका त्याग, व राजस और तामस कर्मोंका त्याग,
इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि
फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें तो वे कर्म अपने-आप ही गिर पड़ते
हैं। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म
छोड़ने ही चाहिए। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष
त्यागका समावेश हो ही जाता है।

इसपर जरा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके
मूलमें कामना है उन्हें फल-त्याग-पूर्वक करो––ऐसा कहते ही उनकी
बुनियाद ढह जाती है। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म
खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्याग-पूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम
तांत्रिक व यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप

मालूम हो जाता है कि कौनसे कर्म किये जायं और कौन-से नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'गीता सिर्फ यही बताती है कि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो; पर कौन-से कर्म करो यह नहीं बताती।' ऐसा भासित तो होता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। क्योंकि फल-त्याग-पूर्वक कर्म करो, इतना कहनेसे ही यह पता चल जाता है कि कौनसे कर्म करें और कौनसे नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी जैसे कर्म फल-त्याग-पूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही ये कर्म हवामें उड़ जाते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सब चीजें उज्ज्वल दिखाई देने लगती हैं; पर अंधेरा भी क्या उज्ज्वल दिखाई देता है? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध व काम्य कर्मोंकी है। हमें सब कर्म फल-त्यागकी कसौटीपर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूँ वह अनासक्ति-पूर्वक, फलकी लेश-मात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो संन्यास ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्ति-पूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मोंका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोंका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बातें हमने देखीं। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने हैं, वे फल त्याग-पूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस व तामस कर्म--निषिद्ध व काम्य-कर्म-फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा। उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा घमंड न होने देना चाहिए।

राजस व तामस कर्म त्याज्य क्यों? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होनेसे कर्त्ताके चित्तपर उनके संस्कार हो जाते हैं। परन्तु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते हैं। जितने भी कर्म हैं, उन सबमें कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है। लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्म-रूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमें कितने ही जन्तु

मरते हैं। कुएंके पास कीचड़ न होने देनेके लिए उसे पक्का बनानेमें भी कई जीव-जन्तु मरते हैं। सवेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है। उससे असंख्य जन्तु नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम शुद्धीकरण कहते हैं वह एक मारण क्रिया ही हो रहती है। सारांश, जब सात्त्विक स्वधर्म-रूप कर्म भी सदोष हो जाता है तब करें क्या ?

मैं पहले ही कह चुका हूं कि सब गुणोंका विकास होना तो अभी बाकी है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा, इनके बिंदु-मात्रका ही अभी अनुभव हमें हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नहीं है। संसार अनुभव करता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। मध्य युगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है। इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है; पर कहते थे कि बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे तो हमारा हित नहीं हो सकता। अगर मनुष्य इस तरह कर्म-संकोच करता चला जाय तो अन्तमें आत्मनाश ही हो रहेगा। कर्मसे छूटनेका मनुष्य ज्यों-ज्यों विचार करेगा, त्यों-त्यों कर्मका विस्तार ही अधिक होता जायगा। आपके उस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पड़ेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होंगे ? अगर कपास उपजाना पाप है, तो उस उपजे हुए कपासको बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोंका बहिष्कार करना यह कर्म भी नहीं, वह कर्म भी नहीं, कुछ भी मत करो, इस प्रकार देखने वाली दृष्टिमें, कहना होगा कि, सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचने से पेड़ नहीं मरता। वह तो उलटा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-संकोच ही है।

(१०३)

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सभी क्रियाओंमें दोष है, तो फिर सब कर्मोंको छोड़ ही क्यों न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। 'सब कर्मोंका त्याग'—यह कल्पना अत्यन्त सुन्दर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोड़ें कैसे ? राजस व तामस

कर्मोंके छोड़नेका जो तरीका है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगा ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म हैं, उनसे कैसे बचें ? मजा तो यह है कि 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य संसारमें कर्म करने लगता है तब अमर होनेके कारण इंद्र तो मरता ही नहीं, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंके पुण्य हैं और थोड़ा दोष है। परन्तु थोड़ा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे तो मजबूत होनेके कारण पुण्य क्रिया तो नष्ट नहीं होगी, दोष क्रिया जरूर बढ़ती चली जायगी। ऐसे मिश्रित विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इंद्र तो मरता ही नहीं, पर दोष-रूप तक्षक, जो कि मर सकता था, वह भी नहीं मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौनसी ? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। सांप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया तो सैंकड़ों जन्तु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारों मनुष्य मर जायंगे। इसलिए त्याग विवेक-युक्त होना चाहिए।

गोरखनाथको मच्छींद्रनाथने कहा—"इस लड़केको धो ला !" गोरखनाथने लड़के के पैर पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ डाला और बाड़-पर सुखाने डाल दिया। मच्छींद्रनाथने पूछा—"लड़केको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हां, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है !" लड़केको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपड़े और मनुष्य धोनेका तरीका एक-सा नहीं है। इन दोनों तरीकोंमें बड़ा अन्तर है। इसलिए राजस, तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बड़ा अन्तर है। सात्त्विक कर्म और तरहसे छोड़े जाते हैं।

विवेक-हीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा है—

"त्यागसे भोग उगे जो भीतर।
तब हे दाता ! क्या मैं करूं ?"

छोटा त्याग करने जाते हैं तो बड़ा भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्याग-

की पूर्तिके लिए बड़े-बड़े इंद्रभवन बनाते हैं। इससे तो वह झोंपड़ी ही अच्छी थी। वही काफी थी। लंगोटी लगाकर आस-पास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बंडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी पद्धति ही अलग बताई है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं, लेकिन उनके फलोंको तोड़ डालना है। कुछ कर्म तो मूलतः त्याज्य हैं। और कुछके सिर्फ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीरपर अगर कोई ऐसा वैसा दाग पड़ जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर अगर चमड़ीका रंग ही काला है, तो उसे सफेदा लगानेसे क्या लाभ? वह काला रंग ज्यों-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यों हो? उसे अमंगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर मनहूस प्रतीत होने लगा तो वह किसी गांवमें चला गया। वहां भी उसे गन्दगी दिखाई दी तो जंगलमें चला गया। जंगलमें एक आमके पेड़के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिरपर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है' ऐसा कहकर वह नदीमें जा खड़ा हुआ। नदीमें जब उसने बड़ी मछलियोंको छोटी मछलियां खाते देखा, तब तो उसे बड़ी घिन आई। अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहां मरे बिना छुटकारा नहीं। ऐसा इरादा करके वह पानीसे बाहर आया और आग जलाई। उधरसे एक सज्जन आये और बोले—"भाई, यह मरनेकी तैयारी क्यों?" "यह संसार अमंगल है, इसलिए!" वह बोला। उस सज्जनने उत्तर दिया—"तेरा यह गन्दा शरीर, यह चरबी, यहां जलने लगेगी तो यहां कितनी बदबू फैलेगी? हम यहां पास ही रहते हैं। तब हम कहां जायंगे? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गंध आती है? फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी! यहां कितनी गन्दगी फैल जायगी, इसका भी तो कुछ विचार कर!" वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनियामें न जीनेकी गुंजायश है और न मरनेकी ही। तो अब क्या करूं?"

तात्पर्य यह कि मनहूस है, अमंगल है—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे, तो दूसरे बड़े कर्म सिरपर सवार हो जायेंगे। कर्म स्वरूपतः बाहरसे

छोड़नेपर नहीं छूटते। जो कर्म सहज-रूपसे प्रवाह-प्राप्त हैं, उनका विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अन्तमें वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मन-परका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता चला जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने आप खतम होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएं लुप्त हो जायंगी। कर्म छूटेगा नहीं, पर क्रिया लोप हो जायगी।

कर्म और क्रिया, दोनोंमें अन्तर है। जैसे कि कहींपर खूब गुल-गपाड़ा मचा हुआ है और उसे बन्द करना है। एक सिपाही खुद जोरसे चिल्लाकर कहता है—"शोर बन्द करो।" वहांका शोर बन्द करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेका तीव्र कर्म करना पड़ा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा व सिर्फ अपनी अंगुली दिखावेगा। इतनेसे ही लोग शान्त हो जायगे। तीसरे व्यक्तिके सिर्फ वहां उपस्थित होने मात्रसे ही शांति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया कम-कम होती चली गई। लेकिन तीनोंमें लोगोंको शान्त करनेका कर्म समान-रूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायमी, वैसे-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म एक चीज है, क्रिया दूसरी। कर्त्ताको जो इष्टतम हो वह कर्म। यही कर्मकी व्याख्या है। कर्ममें प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होती है तो क्रियाके लिए स्वतन्त्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रियामें जो अन्तर है, उसे समझ लीजिए। गुस्सा आनेपर कोई बहुत चिल्लाकर और कोई बिल्कुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष क्रिया लेशमात्र भी नहीं करता; लेकिन कर्म अनन्त करता है। उसका अस्तित्व-मात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो उपस्थिति ही काफी है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है तो उधर कर्म उलटा बढ़ते जाते हैं। विचारकी यह धारा और आगे ले जायं एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो गया, तो अन्तमें क्रिया

शून्य-रूप होकर कर्म अनन्त होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर
तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह अपने आप क्रिया-
शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परन्तु तब अनन्त कर्म अपने आप ही होते रहेंगे।

बाह्य-रूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नहीं होंगे। निष्कामता-पूर्वक कर्म
करते हुए धीरे-धीरे उनका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंगकी 'ढोंगी
पोप' शीर्षक एक कविता है। एक आदमीने पोपसे कहा—'तुम अपनेको
इतना सजाते क्यों हो? ये चोगे किसलिए? ये भारी ढोंग क्यों?
यह गम्भीर मुद्रा किसलिए?" उसने उत्तर दिया—"मैं यह सब क्यों
करता हूं सो सुनो। संभव है, इस नाटक, इस नकलको करते-करते किसी
दिन अनजानमें ही मुझमें श्रद्धाका संचार हो जाय।" इसलिए निष्काम
क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

(१०४)

मतलब यह कि तामस व राजस कर्म तो बिलकुल छोड़ देने चाहिए
और सात्त्विक कर्म करने चाहिए, और यह विवेक रखना चाहिए कि जो
सात्त्विक कर्म सहज व स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायं, वे सदोष होते
हुए भी, त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा
छुड़ाना चाहोगे तो दूसरे असंख्य दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक
जैसी है, वैसे ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुन्दर बनानेकी कोशिश
करोगे, तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसे ही
अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक-रूपसे प्राप्त होनेके
कारण नहीं छोड़ने चाहिए। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे
प्राप्त न हुए हों, उनके बारे में तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी
तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो
जितने सहज रूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ व दौड़-धूप करके दूसरे
नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खासतौरपर जोड़-तोड़
लगाकर करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों उनसे दूर
रहो। उनका मोह मत रखो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हींके फलका

त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे यह कर्म भी अच्छा है, वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे तो फिर फल त्याग कैसे होगा ? इससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगा। फलकी आशासे ही वह इन पर-धर्म-रूपी कर्मोंको करना चाहेगा, और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवनमें कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्तपर उस कर्मकी आसक्ति लिप्त हो जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे तो उसमें भी राजसता व तामसता आ जायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल व अनुरूप क्या है और कौनसा कर्त्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है। और इसलिए तुम 'तुम' हो। हरएक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ-विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे तो यह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयं-प्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म व नया जन्म ग्रहण करना होगा; लेकिन इस जन्म में तो उसके लिए बकरी-पन ही पवित्र है। बैल व मेंढककी कहानी है न ? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नहीं होता। इसलिए परधर्मको भयावह कहा है।

फिर स्वधर्मके भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला अंश और दूसरा न बदलनेवाला। मैं जो आज हूं, वह कल नहीं, और जो कल हूं, वह परसों नहीं। मैं निरन्तर बदल रहा हूं। बचपनका स्वधर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवनमें मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी, तो उसके द्वारा मैं समाज-की सेवा करूंगा। प्रौढ़ावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलते रहनेवाला है और कुछ बिलकुल न बदलने

वाला । इन्हींको अगर पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना है तो हम कहेंगे--"मनुष्यके वर्ण-धर्म हैं और आश्रम-धर्म हैं।" वर्णधर्म नहीं बदलता, आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं ।

आश्रम-धर्म बदलते हैं इसके मानी ये हैं कि ब्रह्मचारी पद छोड़कर मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रहा हूं, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममें व वानप्रस्थसे संन्यासमें जाता हूं। इस तरह आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं, तब भी वर्ण-धर्म बदले नहीं जा सकते । अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं नहीं लांघ सकता । ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है । तुममें जो 'तुमपन' है उसे तुम छोड़ नहीं सकते । यही वर्ण-धर्मकी भित्ति है । वर्ण-धर्मकी कल्पना बड़ी मधुर है । वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या ? पूछते हैं कि जैसे बकरीका बकरीपन, गायका गायपन वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व है ? हां, मैं मानता हूं कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है; लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए । 'वर्ण-धर्म' शब्दका उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक तरकीबके तौरपर किया जाता है, तब उसके अपवाद अवश्य होंगे । ऐसे अपवाद गृहीत मानने ही पड़ते हैं । गीताने भी इस अपवादको गृहीत माना है । सारांश, इन दोनों तरहके धर्मोंको पहचानकर अवांतर धर्म कितना ही सुन्दर व मोहक प्रतीत हो तो भी उसके चक्करमें मत फंसो ।

(१०५)

फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हैं उससे निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(१) राजस व तामस कर्मोंका संपूर्ण त्याग ।
(२) उस त्यागका भी फल-त्याग । उसका भी अहंकार न हो ।
(३) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करते हुए सिर्फ फल-त्याग ।
(४) सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी फल-त्याग-पूर्वक उन्हें करना ।
(५) सतत फल-त्याग-पूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रिया-मात्रका लोप हो जायगा ।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म---लोकसंग्रह-रूपी कर्म--होते ही रहेंगे ।

(७) सात्त्विक कर्म भी जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हों, वे ही करें। जो सहज-प्राप्त न हों, वे कितने ही अच्छे लगें तो भी उनसे दूर ही रहें। उनका मोह न होना चाहिए ।

(८) सहज-प्राप्त स्वधर्म भी फिर दो तरहका होता है---बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नहीं बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलना ही चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

प्रकृति तो सतत बहती रहनी चाहिए। निर्झर अगर बहता न रहेगा तो उससे दुर्गंध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्मका है। मनुष्यको पहले कुटुम्ब मिलता है। अपने विकासके लिए वह स्वयंको कुटुम्बके बंधनोंमें बांध लेता है। यहां वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है; लेकिन अगर कुटुम्बी होनेपर वह उसीमें जकड़ जायगा तो विनाशको प्राप्त हो जायगा। कुटुम्बमें रहना जो पहले धर्म-रूप था, वही अब अधर्म-रूप हो जायगा। क्योंकि अब वह धर्म बन्धनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्मको अगर आसक्तिके कारण नहीं छोड़ा, तो इसका परिणाम भयानक होगा। अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफड़ोंमें चले गए तो वहां जाकर सारा जीवन भीतरसे खा डालते हैं। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी अगर असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस गए, तो उससे स्वधर्म सड़ने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस व तामसकी दुर्गंध आने लगेगी। अतः कुटुम्ब-रूपी यह बदलनेवाला स्वधर्म यथा-समय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी लागू होती है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आ गई और सिर्फ अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगें तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर चीज होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अधःपात होगा।

(१०६)

सारांश यदि जीवनका फलित प्राप्त करना चाहते हैं, तो फल-त्याग-रूपी

चिंतामणिको अपनाओ। वह तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बतलाता है। इस दीपकके पास होनेपर यह पता अपने आप चल जायगा कि कौनसा काम करें, कौनसा न करें और कौनसा कब बदलें। लेकिन अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अन्तिम स्थिति, उसपर साधकको ध्यान रखना चाहिए या नहीं। साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थिति-पर, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें, दृष्टि रखनी चाहिए।

नहीं; यहां भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करो। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुन्दर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखने-पर भी वह हमें मिल जायगा। जीवनका सबसे बड़ा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्थाका भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि २ बजकर ५ मिनटपर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तुम्हारे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा, इसका पता भी तुम्हें न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिन्ता छोड़ दो।

भक्त तो ईश्वरसे हमेशा यही कहता है—"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही बहुत है। मोक्ष—वह अन्तिम फल, मुझे नहीं चाहिए" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है—एक फल ही तो है। इस मोक्ष-रूपी फलपर भी फलत्यागकी कैंची चलाओ। लेकिन इससे मोक्ष कहीं चला नहीं जायगा। कैंची अलबत्ता टूट जायगी, और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। साधनामें ही इतने तन्मय हो जाओ कि तुम्हें मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुम्हें खोजता हुआ तुम्हारे सामने आ खड़ा हो। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रंग जाय।

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'

भगवान्‌ने पहले ही कहा था कि अकर्म दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अन्तमें कहते हैं:—"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" । मैं मोक्ष-दाता समर्थ हूं । तुम मोक्षकी चिन्ता मत करो। तुम तो एक साधनाकी ही चिन्ता करो ।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तुम्हारे पास चला आयगा । मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिसे अपनी साधनाम ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है।

जहां साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वहीं सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी रहती है। जिसे घर जाना है वह अगर वृक्षके नीचे खड़ा होकर 'घर-घर'-का जाप करेगा, तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जंगलमें ही रहनेकी नौबत आ जायगी । घरको याद करते हुए अगर रास्तेमें आराम करने लग जाओगे तो उस अन्तिम विश्राम स्थानसे दूर रह जाओगे । मुझे तो चलनेका ही उद्योग करना चाहिए । इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा । मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमें—मेरी साधनामें—शिथिलता आयगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा । मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है । अकर्म-स्थिति—विश्रांति—की लालसा मत रखो । साधनाका ही प्रेम रखो तो मोक्ष सामने खड़ा होगा । उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे सवालका उत्तर नहीं मिलता । उसका जो तरीका मुझे मिला है, उसीसे सिलसिलेवार उत्तर मिलेगा। वह तरीका जहां खत्म होता है, वहीं उसका उत्तर मौजूद है । समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी ? तरीकेसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा ? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी ? पानीमें डुबकियां खाते हुए परले पारके मौज-मजेमें ध्यान रहेगा तो कैसे काम चलेगा ? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए। पहले साधना पूरी करो, समुद्र लांघो, बस, मोक्ष अपने-आप ही मिल जायगा ।

(१०७)

ज्ञानी पुरुषकी अन्तिम अवस्थामें सब क्रिया लुप्त हो जाती है, शून्य-रूप हो जाती है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि अन्तिम स्थितिमें

क्रिया होगी ही नहीं। उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी। अन्तिम स्थिति अत्यन्त रमणीय व उदात्त है। इस अवस्थामें जो भी कुछ होगा, उसकी उसे चिन्ता नहीं होती। जो भी होगा वह शुभ और सुन्दर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठा-दशापर वह खड़ा है। यहां सब कुछ करनेपर भी वह कुछ नहीं करता। संहार करनेपर भी संहार नहीं करता। कल्याण करनेपर भी कल्याण नहीं करता।

यह अन्तिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठा के मानी हैं—साधनाकी सहजावस्था। वहां इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हूं। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूंगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योंकि झूठ क्या है, यह तो वह जानता ही नहीं। असत्यसे परिचित होनेपर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है? सिद्धावस्था में असत्य है ही नहीं। यहां तो सत्य ही है। इसलिए वहां नीति नहीं है। निषिद्ध वस्तु वहां खड़ी ही नहीं रह सकती। जो नहीं सुनना चाहते वह कानके अंदर जाता ही नहीं। जो नहीं देखना चाहते, वह आंखें देखती ही नहीं। जो होना चाहिए, वही हाथोंसे होता है। उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिसे टालना चाहिए, उसे टालना नहीं पड़ता। वह अपने-आप ही टल जाता है। यही नीति-शून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा, सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, उस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधना-की निःसत्त्वता' कह सकते हैं।

किस तरह इस दशाका वर्णन करें? जिस तरह ग्रहणके पहले उसको वेध लग जाते हैं, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्ष दशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पड़ने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्ष स्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करते हुए वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नहीं करता। उसकी क्रिया अब किस नापसे नापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सब क्रियाके क्षय हो जानेपर

भी संपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें यह समझमें नहीं आता।

इस अन्तिम अवस्थामें तीन भाव रहते हैं—एक है वामदेवकी दशा। उनका प्रसिद्ध उद्‌गार है—"इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हूं।" ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नहीं सकती। भावावस्था क्रिया-वस्था नहीं है। भावावस्था यानी भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। इस भावावस्थाका थोड़ा-बहुत अनुभव हमको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणसे गुणी होती है। उसके दुःखसे दुःखी, सुखसे सुखी होती है। मांकी यह भावावस्था सन्तानतक सीमित है। सन्तानके दोषोंको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे संसारके दोष अपने ऊपर लेता है।

त्रिभुवनके पापसे वह पापी और पुण्यसे पुण्यवान बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्य उसका स्पर्श नहीं कर पाते। रुद्र-सूत्रमें ऋषि कहते हैं—

"यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे"

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूं दे। इस तरह मांगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बड़ा होगा? लेकिन वह मांगनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नहीं था। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मैं वैदिक "विश्वात्मभाव" कहता हूं। वेदोंमें उस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती सन्त नरसी मेहता कीर्तन करते हुए कहते हैं—"बापजी पाप में कवण कीधा हशे, नाम लेता तारूं निद्रा आवे।" हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौनसे पाप किये हैं, जो कीर्तनके समय भी मुझे नींद आती है। नींद क्या नरसी मेहताको आ रही थी? नींद तो श्रोताओंको आती थी। परंतु श्रोताओंसे एक-रूप होकर नरसी मेहता पूछ रहे हैं। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी भावावस्था इसी प्रकारकी होती है। इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हें दिखाई देंगे।

वह खुद भी यही कहेगा। वह ऋषि कहते हैं न--"न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हूं और करूंगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है। वह पार्थिवताके परे हो जाती है।

इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावतः क्या करेगा? वह जो भी कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी हुई है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इंद्रियां सात्त्विक बन गई हैं, जिससे उसकी तमाम क्रियाएं सात्त्विक ही होंगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखाई देगी। लेकिन अगर विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य यह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेंक दिया है। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

भावावस्था और क्रियावस्थाके अलावा भी एक तीसरी स्थिति ज्ञानी पुरुषकी है और वह है ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको आग लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नहीं होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नहीं होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्ष-दशामें---साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें---ये तीन स्थितियां संभव हैं।

यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो? हम जो-जो भी कर्म करते हैं, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मैं तो एक निमित्त-मात्र हूं, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। लेकिन इसीसे संपूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, ऐसा नहीं है। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अति तुच्छ प्राणी हूं, उसके हाथका खिलौना---कठपुतली हूं; वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी

किया जाता है, वह शरीरजात है; मेरा उससे स्पर्श तक नहीं। ये सब क्रियाएं इस शवकी हैं। लेकिन मैं शव नहीं हूं। मैं शव नहीं शिव हूं ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है, यह ज्ञानी पुरुषकी अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामें फिर ऊपर वही तीन अवस्थाएं होंगी। पहले उसकी क्रियावस्था, जिसमें उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल व आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमें त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूं, ऐसा उसे अनुभव होगा, परन्तु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नहीं होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों अवस्थाओं द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

(१०८)

अब इतना सब कहनेके बाद भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, मैंने तुम्हें यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यानसे तो सुना है न ? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हें उचित लगे, वह करो।" इस तरह भगवान्ने बड़े दिलसे अर्जुनको छुट्टी दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। लेकिन भगवान्को फिर दया आ गई। दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होंने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी साधना सब कुछ छोड़कर तुम एक मेरी शरण में आ जाओ।" इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा करके भगवान्ने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है; इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र इच्छा ही न होने दो। अपनी इच्छा नहीं, उसीकी इच्छा चले ऐसा होने दो।" मुझे स्वतन्त्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतन्त्रता मुझे नहीं चाहिए। मैं नहीं, सब कुछ तू ही है, ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशामें—"में में में...." करती है, यानी—"मैं मैं मैं" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी तांत बनाकर पींजनमें लगाई जाती है तब, दादू कहता है:—"तुही, तुही, तुही,—तू ही, तूही, तूही ऐसा वह कहती है।" अब तो सब "तूही, तूही, तूही।"

रविवार, १९-६-३२

●

प्रकरणोंकी विषयानुक्रमणिका

२

परिशिष्ट

गीता-प्रवचन अध्याय २ पृष्ठ १८ में रजोगुण और तमोगुणकी तुलना की गई है। उसे पढ़कर एक सज्जनने अपनी एक शंका विनोबाजीपर प्रकट की। हैदराबादकी सर्वोदय-यात्रासे विनोबाजीने उसका उत्तर दिया। पाठकके लिए दोनोंका उपयोग है, अतः शंका और समाधान दोनों यहां दिये जाते हैं।

शंका. गीता-प्रवचनमें मराठीकी नई आवृत्तिमें अध्याय २, पृष्ठ २० पर कर्म करने वालोंकी दुहेरी वृत्ति बताते हुए रजोगुण और तमोगुणकी समता आपने की है। 'लूंगा तो फल-समेत ही' यह रजोगुणकी वृत्ति बताई और 'छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही' यह तमोगुणकी वृत्ति बताई है। दोनों वृत्तियोंमें फर्क नहीं है, यह आप भी कहते हैं। मेरे खयालमें दोनों वृत्तियोंका समावेश रजोगुणमें ही हो जाता है। १, ३, ९ के हिसाबसे तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण एक दूसरेसे दूर हैं। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्तिके पॉजिटिव और नेगेटिव स्वरूप नहीं हैं। कर्म करके फलको छोड़ो सत्वगुण है। "लूंगा तो फल समेत ही" और "छोड़ूंगा तो कर्म समेत ही"—ये दोनों रजोगुणमें ही खपने चाहिए। "केवल फल लूंगा, पर कर्म नहीं करूंगा" यह वृत्ति तमोगुणमें जायगी। इससे भी एक भिन्न वृत्ति हो सकती है। वह है लापरवाही—इंडिफरेन्सकी वृत्ति। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फलकी अपेक्षा, परवाह, आवश्यकता मोह आदि नहीं होता। उलटा, फल आया, लिया तो लिया, कर्मको जरूरत जवाबदारी नहीं मालूम हुई। यह वृत्ति मनकी स्थितिके अनुसार कदाचित् तीनों गुणोंमें हो सकती है। ज्ञान-शून्य स्थितिमें यह वृत्ति तमोगुणसे भी नीचेकी होगी और ध्यानमग्न स्थितिमें सात्विक वृत्तिसे भी ऊपरकी निकलेगी।

समाधान : तुम्हारा चिंतन अच्छा लगा। त्रिगुणके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है, किया जा सकता है। तमोगुणसे नीचेकी अथवा सत्वगुणसे ऊपरकी वृत्तिकी कल्पना नहीं की जाती। सारे जगत्का विभाग तीन गुणोंमें करना है। तीनों गुणोंसे अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुषकी भूमिका समझना चाहिए। उसमें किसी प्रकारकी वृत्ति नहीं रहती, अत: उसे निवृत्ति कहते हैं। परंतु निवृत्तिका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध नहीं। प्रवृत्ति-विरोध भी एक वृत्ति ही है उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथनके बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्त्वत: त्रिगुण प्रकृतिके घटक हैं। प्रकृतिमें तीनोंकी आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, गति और प्रकाश तीनों मिलकर जीवन बनता है। यह तात्त्विक दृष्टि है। इसमें ऊपर, नीचेका कोई भेद नहीं है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टिसे तम, रज, सत्त्व ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण हैं। सामान्यत: लोग इस दृष्टिसे विचार करते हैं।

सृष्टि-तत्त्वको समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्त्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनोंसे भिन्न एक साधना की दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक दूसरेके प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षण-रूप अथवा पूरक हैं। दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। रजोगुणकी थकावटसे तमोगुण आता है, तमोगुणकी थकावट से रजोगुण आता है, दोनोंसे सत्वगुण भिन्न है। और वही साधकोंका सखा है। रजोगुण और तमोगुण मिलकर आसुरी सम्पत्ति। सत्त्वगुण दैवी संपत्ति। ऐसा संघर्ष चल रहा है।

गीतामें प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक तीनों प्रकारका विवेचन मिलता है। मैं प्राकृतिक विचारको छोड़कर नैतिक और साधनिक दृष्टिसे मुख्यत: विचार करता हूं। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचनके सम्बन्धमें प्रश्न उत्पन्न हुआ है, उसमें साधनिक दृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुणकी एकत्र कल्पना की गई है।

फलत्यागके विचारकी अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञदर्शन' और 'गीताई कोषमें' की गई है।

विनोबा-साहित्य

विनोबा के विचार (दो भाग)—विनोबाजी के निबन्धों व व्याख्यानों का महत्वपूर्ण संग्रह। प्रति भाग १॥)

शांति-यात्रा—गांधीजी के देहावसान के बाद उत्तर-भारत की शांति-यात्राओं में दिये गये भाषणों का संकलन १॥)

स्थितप्रज्ञ-दर्शन—स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या। १॥)

ईशावास्यवृत्ति—ईशोपनिषद् की विस्तृत टीका। ॥।)

ईशावास्योपनिषद्—मूल श्लोकों सहित ईशोपनिषद् का सरल अनुवाद। =)

सर्वोदय-विचार—सर्वोदय-विषयक लेखों व प्रवचनों का संग्रह। १=)

स्वराज्य-शास्त्र—स्वराज्य की व्याख्या अहिंसात्मक राज्य-पद्धति एवं आदर्श राज्य-व्यवस्था का शास्त्रीय विवेचन। ॥।)

भूदान-यज्ञ—देश के भूमिहीनों की दुर्दशा से प्रभावित होकर भूमि के सम-वितरणार्थ दिये गए मूल्यवान प्रवचन। ।)

राजघाट की संनिधि में—भूदान-यज्ञ के सिलसिले में दिल्ली में दिये गए विनोबाजी के प्रवचन। ॥।)

गांधीजी को श्रद्धांजलि—गांधीजी के प्रति विनोबाजी की सर्वोत्तम श्रद्धांजलि। ।=)

जीवन और शिक्षण—युवकोपयोगी लेखों तथा भाषणों का संग्रह २)

सर्वोदय के सेवकों से—रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की विभिन्न सभाओं में दिये गये महत्वपूर्ण भाषण। ।)

सर्वोदय का घोषणा-पत्र—चांडिल-सर्वोदय सम्मेलन में दिये गये भाषण।)

विचार पोथी—विनोबाजी के चुने हुए मूल्यवान विचारों का संग्रह १)

गांव सुखी, हम सुखी—गांव को समृद्धिशाली बनाने के उपाय ।=)

धर्म-चक्र प्रवर्तन—भूदान-यज्ञ के द्वारा समाज के नव-निर्माण की कल्पना पर प्रकाश डालनेवाले भाषणों का संग्रह ।)

गांधी-साहित्य

१—क्रमबद्ध प्रकाशन

१. **प्रार्थना-प्रवचन (खंड १)** ३)

२. **प्रार्थना-प्रवचन (खंड २)** २।।)

१ अप्रैल १९४७ से २९ जनवरी १९४८ तक के गांधीजीके वे प्रवचन, जो उन्होंने दिल्लीकी प्रार्थना-सभाओंमें दिये थे। राष्ट्रपिताकी अन्तिम वाणी, ज्ञान और अनुभवसे परिपूर्ण।

३. **गीता-माता** ४)

गीताके बारेमें गांधीजी द्वारा लिखी सामग्री। मूल पाठके साथ-साथ अनासक्ति-योग, गीताबोध, गीता-प्रवेशिका, गीता-पदार्थ-कोष तथा गीता-संबंधी स्फुट लेख।

४. **पन्द्रह अगस्त के बाद** अजिल्द १।।), स० २)

भारतके स्वतन्त्र होनेके दिनसे लेकर अन्तिम समय तकके गांधीजी-के लेखोंका संग्रह। अनेक महत्वपूर्ण समस्याओंपर युग-पुरुषके विचार।

५. **धर्म-नीति** अजिल्द १।।), स० २)

गांधीजीकी नीति-धर्म, मंगल प्रभात, सर्वोदय और आश्रमवासियोंसे, इन चार पुस्तकोंका संग्रह। जीवन-निर्माणकी दृष्टिसे अमूल्य पुस्तक।

६. **दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास** ३।।)

दक्षिण अफ्रीकामें मानवीय अधिकारोंके लिए किये गये अहिंसात्मक संग्रामका विस्तृत इतिहास। आत्मकथा की पूरक पुस्तक।

७. **मेरे समकालीन** ५)

अपने समयके बड़े-से-बड़े नेतासे लेकर सामान्य जनसेवकतकके गांधीजी द्वारा समय-समयपर लिखे गये मार्मिक संस्मरण।

८. **आत्मकथा** ५)

शिक्षा व ज्ञानमें उपनिषदोंकी भांति पवित्र गांधीजीकी आत्मकथा चरित्रको उज्ज्वल और मनको पवित्र बनानेवाली।

९. **आत्मसंयम** (छप रहा है)

२—अन्य पुस्तकें

१०. **गीता-बोध** ॥)

गीताके प्रत्येक अध्यायका सरल व सुबोध भाषामें सार।

११. **अनासक्ति-योग** १॥)

श्रीमद्भगवत गीताका श्लोक-सहित अनुवाद।

१२. **ग्राम-सेवा** ।=)

असली भारत गांवमें बसता है। इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिए गांधीजीने इस पुस्तकमें ग्रामसेवा-संबंधी अनेक उपयोगी बातोंका निर्देश किया है।

१३. **मंगल प्रभात** ।=)

सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि एकादश व्रतोंका गांधीजी द्वारा सरल विवेचन।

१४. **सर्वोदय** ।=)

प्रसिद्ध लेखक रस्किनकी जीवन-परिवर्त्तनकारी पुस्तक 'अंटु दिस लास्ट' का गांधीजी द्वारा किया गया भावानुवाद।

१५. **नीति धर्म** ।=)

मानव-जीवनके लिए आवश्यक नीति नियमोंपर प्रकाश।

१६. **आश्रमवासियोंसे** ॥)

वैयक्तिक और सामूहिक रूपसे मनुष्यके कर्त्तव्योंका विवेचन।

१७. **ब्रह्मचर्य** १)

ब्रह्मचर्य, संतति-निग्रह विषयक गांधीजीके लेखोंका संग्रह।

१८. **राष्ट्र-वाणी** १)

दूसरी गोलमेज़ परिषद् (लंदन) में दिये गए गांधीजीके महत्वपूर्ण भाषण

१९. **एक सत्यवीर की कथा** ।)

अन्त समयमें दिये गए यूनानी तत्ववेत्ता सुकरातके अपनी सफाईमें मार्मिक भाषणका गांधीजीकी भाषामें रूपांतर।

२०. **संक्षिप्त आत्मकथा** १॥)

विद्यार्थियोंके लिए महात्माजीकी आत्मकथाका संक्षिप्त उपयोगी संस्करण। उर्दू संस्करण भी प्राप्य है।

विनोबा-साहित्य

- विनोबा के विचार (दो भाग)
- गीता-प्रवचन
- शांति-यात्रा
- गांधीजी को श्रद्धांजलि
- ईशावास्यवृत्ति
- ईशावास्योपनिषद्
- सर्वोदय-विचार
- स्वराज्य-शास्त्र
- विचार-पोथी
- जीवन और शिक्षण
- भूदान-यज्ञ
- राजघाट की सन्निधि में
- सर्वोदय का घोषणा-पत्र
- सर्वोदय के सेवकों से
- स्थितप्रज्ञ-दर्शन
- गांव सुखी, हम सुखी

सस्ता साहित्य मण्डल

एक रुपया

विनोबा-साहित्य

विनोबा के विचार (दो भाग)

गीता-प्रवचन

शांति-यात्रा

गांधीजी को श्रद्धांजलि

ईशावास्यवृत्ति

ईशावास्योपनिषद्

सर्वोदय-विचार

स्वराज्य-शास्त्र

विचार-पोथी

जीवन और शिक्षण

भूदान-यज्ञ

राजघाट की सन्निधि में

सर्वोदय का घोषणा-पत्र

सर्वोदय के सेवकों से

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

गांव सुखी, हम सुखी

सस्ता साहित्य मण्डल

एक रुपया